CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# स्वामी सहजानन्द सरस्वती

# रचनावली

## 5

सम्पादक

राघव शरण शर्मा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

**स्वामी सहजानन्द सरस्वती** प्रथम वर्ग आधारित, संगठित, अखिल भारतीय किसान के संस्थापक थे। ये उग्र किसान संघर्ष के सिद्धान्तकार भी थे, सूत्रकार भी थे और संघर्षकार भी थे। इनके स्वराज्य का असली मतलब किसान–मजदूर राज्य था। इन्होंने सामन्त विरोधी संघर्ष चलाकर राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम को नयी भाषा, नया आवेग, नया तेवर और धारदार अग्रगति प्रदान किया। सुभाष चन्द्र बोस के साथ मिलकर समझौताविहीन साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष चलाया। इन्होंने राष्ट्रीय नेताओं द्वारा चाहा गया औपनिवेशिक स्वराज्य की मंजिल की जगह भगतसिंह के पूर्ण स्वराज्य के दावे को अपनी किसान रजनीति का पाथ फाइन्डर माना। इनके उग्र किसान संघर्षों में राहुल सांकृत्यायन, रामवृक्ष बेनीपुरी, दिनकर, महाश्वेता देवी, भीष्म साहनी, प्रभाकर माचवे,अज्ञेय, मुल्कराज आनन्द, पं. पद्म सिंह शर्मा, चन्दद्रेव शर्मा, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, नागार्जुन जैसे समर्थ साहित्यकार सक्रिय भाग लिये और योगेन्द्र शुक्ला, बैकुण्ठ शुक्ला, किशोरी प्रसन्न सिंह, सियाराम सिंह, केशव प्रसाद शर्मा, सूरजनारायण सिंह, नक्षत्रमालाकार, झारखण्डे राय अम्बिका सिंह, धनराज शर्मा, शीलभद्रयाजी, के.एन. शांडिल्य जैसे राष्ट्रवादी क्रान्तिकारी, शरीक हुए। इन्होंने कर्म और ज्ञान के बीच मार्क्स और वेदान्त के बीच पुल बनाकर उनकी दूरी को अपने क्रियात्मक व्यवहार से पाट दिया और इस तरह वेदान्त को सक्रिय और मार्क्स को ग्राह्य बनाकर नये अन्दाज में झोंपड़ी–झोंपडी जाकर उसे अमली जामा दिया। यही विलक्षण्ता उन्हें भारतीय परिवेश में अतुलनीय बना देती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

7.3

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# स्वामी सहजानन्द सरस्वती रचनावली-5

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# स्वामी सहजानन्द सरस्वती रचनावली

# 5

सम्पादक

**राघव शरण शर्मा**

प्रकाशन संस्थान

नयी दिल्ली-110002

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशक
प्रकाशन संस्थान
4268-B/3, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110002

मूल्य : 5600.00 रुपये (छह खंड)
प्रथम संस्करण : सन् 2003
द्वितीय संस्करण : सन् 2010
ISBN : 81-7714-097-3
आवरण : जगमोहन सिंह रावत

शब्द-संयोजन : कम्प्यूटेक सिस्टम, दिल्ली-110032
मुद्रक : बी.के. ऑफसेट, दिल्ली-110032

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# अनुक्रम

## क्रान्ति और संयुक्त मोर्चा

*भूमिका : यह यों हुआ / 5*

1. क्रान्ति और उसकी किस्में / 7
2. पूँजीवादी क्रान्ति और सर्वहारा क्रान्ति / 32
3. सर्वहारा का नेतृत्व / 72
4. वर्ग संघर्ष और सरकार / 88
5. किसान और क्रान्ति / 108
6. सर्वहारा का एकतन्त्र और गणतन्त्र / 137
7. संयुक्त मोर्चा / 173

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# स्वामी सहजानन्द सरस्वती रचनावली-5

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# क्रान्ति और संयुक्त मोर्चा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"समाज का आर्थिक ढाँचा ही असली नींव है जिसके ऊपर आईन और राजनीति के महल खड़े किये जाते हैं और जिसके अनुसार ही विचारों के निश्चित सामाजिक रूप बनते हैं। संक्षेप में, उत्पादन प्रणाली ही सामाजिक, राजनीतिक और औद्योगिक जीवन के स्वरूप को आम तौर से निर्धारित करती है।"

—कार्ल मार्क्स

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# यह यों हुआ

भारत की आजादी की चर्चा के साथ ही क्रान्ति और संयुक्त मोर्चे की बात भी आज हवा में फैल रही है। खासकर जो लोग अपने आप को वामपक्षी (leftists) कहते हैं उनकी तो जबान पर हम इन दो शब्दों को बराबर ही पाते हैं, चाहे उनमें शायद ही कोई इनका अर्थ ठीक-ठीक समझता हो। नतीजा यह है कि इन दोनों ही का प्रयोग अधिकांश ऊल-जलूल ही होता है। क्रान्ति की रट लगानेवाले बहुतेरे तो ऐसे हैं जो इसे सुलभ और सुगम वस्तु समझते हैं ! हमारे मुल्क में जो आजादी की लड़ाई चल रही है उसी के सिलसिले में, उनकी समझ से, एक ऐसी भी स्थिति आयेगी जब क्रान्ति खुद हमारे चरण चूमेगी ! ऐसी मनोवृत्ति से मुझे आश्चर्य हुआ है। मेरे भीतर रह-रह के यह प्रश्न पैदा हुआ है कि "क्या क्रान्ति सचमुच ही ऐसी आसान चीज है?" मेरे अब तक के अन्वेषण ने जो उत्तर इस प्रश्न का दिया है वही आगे की पंक्तियों में मिलेगा।

संयुक्त मोर्चे की भी कम फजीती नहीं की गयी है। मुझे ताज्जुब हुआ है यह जान के कि क्रान्तिकारी कहे जानेवाले नेताओं के हाथों भी यह दुर्दशा की गयी है। संयुक्त मोर्चे (United front) का यह अर्थ मेरी समझ में कभी नहीं आया है कि राष्ट्रीय कांग्रेस में विभिन्न विचारों के जितने दल हैं उनका वहाँ संयुक्त मोर्चा है। संसार के इतिहास में चीन, स्पेन, फ्रांस आदि देशों में संयुक्त मोर्चे से काम लिया गया है जरूर। मगर वह तो कोई और ही चीज है, रही है। जितने दलों का वह मोर्चा बना है उनकी आपस में कुछ खास शर्तें उस बारे में तय पायी हैं। तभी वह चीज बन सकी है। यह कहीं नहीं देखा कि एक दल बहुमत में हो और बाकियों पर अपनी मनमानी शर्तें लादता रहे। फिर भी हम उसे ही संयुक्त मोर्चा कहते जायँ। यह तो एक निहायत ही अहम मसला है, जहाँ तक जनता के हकों की लड़ाई का इससे ताल्लुक है। आगे जो कुछ लिखा गया है उससे इस पर भी पूर्ण प्रकाश पड़ेगा।

फागुन के महीने में जैसे छोटे-छोटे बच्चे गालियाँ बकते रहने पर भी उसका मतलब कुछ समझते ही नहीं। वह तो उनके लिए निरी दिल बहलाव की चीज होती है। ठीक वैसे ही 'क्रान्ति', 'बुर्जुवा क्रान्ति' 'प्रोल्तारियन क्रान्ति', 'डेमोक्रेटिक क्रान्ति'



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आदि शब्दों का प्रयोग आज अकसर पाया जाता है। लोगों ने इन्हें एक प्रकार की पारिभाषिक चीज समझ रखा है और इतना ही मानते हैं कि यह चीजें होती हैं। बस, खत्म। इसके बाद वे आगे बढ़ना जानते ही नहीं। गोया वर्तमान काल की अनेक शगलों में ही ये भी हैं। हमने यह ताज्जुब के साथ देखा और जाना है कि क्रान्तिकारी दलों के नाम से प्रसिद्ध पार्टियों के कुछ नेता तक इन क्रान्तियों का कोई समुचित कार्यक्रम नहीं रखते ! फिर भी क्रान्ति कीं दुहाई देते रहते हैं ! हमने इस प्रोग्राम के बताने की भी कोशिश आगे की है।

मगर यह तो हम शुरू में ही साफ कह देना चाहते हैं कि हम जो कुछ लिख रहे हैं उसका खास मतलब सिर्फ एक है, और वह यह है कि अपने विचारों को लिपिबद्ध (कलमबन्द) करने में वे न सिर्फ क्रमबद्ध हो जाते हैं, बल्कि उनमें जो कमी रहती है वह पूरी हो जाती है। बिना लिखे गये विचारों में यह बात नहीं रहती है। हमें इन ख्यालों को ठीक करने में बहुत परेशानी हुई है। फिर भी खतरा था कि कहीं बे सिर-पैर के या अधूरे न रह जायँ। इसीलिए इन्हें लिख लेना हमने मुनासिब समझा। ताकि इनकी सही सूरत खड़ी हो जायँ। दूसरी तरह यह बात मुमकिन न थी। बीच-बीच में यदि कुछ खण्डन-मण्डन मिलेंगे तो सिर्फ इसीलिए कि वे अनिवार्य थे।

सेण्ट्रल जेल, हजारीवाग — स्वामी सहजानन्द सरस्वती
श्रीकृष्ण जन्माष्टमी (14-8-41)



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# क्रान्ति और उसकी किस्में

## 1

जिसे अँगरेजी में रेवोल्यूशन (revolution) और अरबी-फारसी में इनकिलाब कहते हैं क्रान्ति से हमारा मतलब उसी चीज से है। इसे ही संस्कृत में विप्लव और राज्यक्रान्ति भी कहते हैं। यों तो क्रान्ति शब्द बहुत ही व्यापक अर्थवाला है। लोग इसे आमतौर से अनेक मानी में इस्तेमाल करते हैं। मगर राजनीति और सियासत में, पालिटिक्स में जिस क्रान्ति शब्द का प्रयोग होता है वह यही विप्लव या राज्यक्रान्ति है। हम यहाँ विचार भी उसी का करने चले हैं। इस बात को शुरू में ही हम साफ कर देना इसलिए चाहते हैं कि 'क्रान्ति' और 'क्रान्तिकारी' शब्द आजकल हिन्दी साहित्य में बहुत आया करते हैं। दुनिया में अगर किसी चीज या व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करके कोई नयी प्रणाली जारी की जाय तो उसे भी क्रान्तिकारी परिवर्तन कहते हैं और 'क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया' 'इसमें क्रान्ति हो गयी' ऐसा अकसर बोला जाता है। जर्मनी में मार्टिन लूथर नामक एक बहुत बड़ा धार्मिक सुधारक मध्य युग में—सन् 1483 ई. से 1546 ई. तक—हो गया है। उसी ने ईसाई धर्म के पुराने पंथ—रोमन कैथोलिक—के विरुद्ध बगावत का झण्डा खड़ा करके प्रोटेस्टेंट पंथ जारी किया। उसे भी क्रान्तिकारी ही कहा जाता है। हालाँकि आर्थिक और राजनीतिक मामलों में वह बड़ा ही दकियानूस और पुराण-पंथी था। गरीबी और अमीरी के बारे में उसका कहना था कि ये तो कुदरती चीजें हैं। इनके बिना दुनिया का काम चल ही नहीं सकता। इसीलिए गरीबों को भूखों मरने देना चाहिए !

हमसे अगर कोई पूछे, तो हम तो साफ कहेंगे कि लूथर को हम क्रान्तिकारी कहने और मानने को हर्गिज तैयार नहीं हैं। कारण, हमारी नजर तो राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक है और उस मामले में वह वैसा था ही नहीं। फिर भी यह तो सभी मानते हैं कि ईसाई धर्म में उसने क्रान्ति कर दी थी। इसी प्रकार कला, विज्ञान, खेती, कल-कारखाने आदि के सम्बन्ध में भी क्रान्ति का प्रयोग होता है। चित्रकारी आदि में, विज्ञान के क्षेत्र में और खेतीबारी के तरीकों में, जो पहले से जारी हैं, अगर



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जड़-मूल से कोई परिवर्तन (change) हो जाय तो कहेंगे कि उनमें क्रान्ति हो गयी। न्यूटन ने जब आकर्षण शक्ति का पता लगाया तो विज्ञान में, फोटोग्राफी के करते चित्रकारी में और ट्रैक्टर एवं वैज्ञानिक खादों के प्रचार से खेती में क्रान्ति हो गयी, ऐसा सभी मानते हैं। भाप और बिजली के सहारे जब मशीनें चालू हो गयीं और इंगलैंड में कल-कारखानों की बेतहाशा तरक्की अठारहवीं सदी के मध्य में शुरू हुई तो उसे इण्डस्ट्रियल रेवोल्यूशन कहने लगे। यह इण्डस्ट्रियल रेवोल्यूशन (Industrial Revolution) तो एक ऐतिहासिक चीज मानी जाती है। उसी के चलते आज संसार में सारी उथल-पुथल मची है।

इसीलिए आरम्भ में ही हमने स्पष्ट कह देना मुनासिब समझा है कि हमें दुनिया की सभी तरह की क्रान्तियों से कोई वास्ता नहीं है। जो हमारी बातें समझना और सुनना चाहते हैं वह यह समझ लें कि हम जो कुछ यहाँ कहने चले हैं वह केवल उसी क्रान्ति से ताल्लुक रखता है जो राजनीतिक क्षेत्र में होती है और जिसे राज्यक्रान्ति भी कहते हैं। बेशक, हमारी राजनीति संकुचित नहीं है। हम इसे व्यापक अर्थ में लेते हैं, जैसा कि आमतौर से आज पालिटिक्स, राजनीति और सियासत शब्दों का इस्तेमाल होता है। इसीलिए हमारी राजनीति के भीतर आर्थिक और सामाजिक (Economic and Social) मसले भी आ जाते हैं। बल्कि सांस्कृतिक (Cultural) बातें भी अब राजनीति के अन्तर्गत ही मानी जाती हैं।

अच्छा, तो जरा अब देखें कि इस विप्लव या राज्य क्रान्ति का मतलब क्या है। यह जान लेना होगा कि अँगरेजी के रेवोल्यूशन के अर्थ में जो राज्यक्रान्ति या क्रान्ति शब्द बोला जाता है उसका अर्थ वही होगा जो रेवोल्यूशन का। मूल शब्द रेवोल्यूशन ही है। क्रान्ति के अर्थ को यही बता सकता है। पहले इसी का प्रचार हुआ है और क्रान्ति वगैरह शब्द इसी के मानी में पीछे से ढूँढ़ निकाले गये हैं। सच्ची बात तो यह है कि हमने तो रेवोल्यूशन का ही अर्थ अच्छी तरह जाना है। उसी का प्रचार करना हम चाहते भी हैं। इसीलिए क्रान्ति शब्द को अपनाया है। अगर हमें यह मालूम हो जाय कि क्रान्ति या इनकिलाब शब्द रेवोल्यूशन को ठीक-ठीक जाहिर कर नहीं सकते, तो हम इन्हें छोड़ के कोई और शब्द ढूँढ़ेंगे, जो रेवोल्यूशन के अर्थ को सही तौर कह सके। इस बात में किसी को भ्रम नहीं होना चाहिए। इसीलिए यदि क्रान्ति का कोई दूसरा अर्थ कहीं से लाके कोई शंका करे और रेवोल्यूशन शब्द को वही मानी पिन्हाना चाहे तो वह भूलेगा। यह बात हो नहीं सकती। इसके उलटा रेवोल्यूशन शब्द जो मानी पिन्हायेगा वही विप्लव और क्रान्ति शब्दों को पहनना होगा।

इस दृष्टि से अँगरेजी के कोश वगैरह में जब हम ढूँढ़ते हैं तो रेवोल्यूशन के कई मानी दीखते हैं। मगर दरअसल जड़ में सब एक ही हैं। फर्क इतना ही है कि एक मानी की कमी को दूसरा पूरा करता है और इस प्रकार सबको मिला के पूरा



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मतलब निकल आता है। तलाश करने पर हमें ये मानी उसके मिलते हैं–

(1) "हालत को उलट देना, बुनियादी (मौलिक) रद्दोबदल करना, या प्रजा के द्वारा पुरानी सरकार या पुराने शासक के स्थान पर बलपूर्वक नयी सरकार या नये शासक का कायम किया जाना," (2) "सोलहों आना परिवर्तन, जड़ से उलट-पुलट, परिस्थितियों में बहुत भारी उलटफेर, फिर जड़-मूल से नये-सिरे से बनाना, या शासितों के द्वारा पुरानी प्रणाली की जगह बलपूर्वक नयी प्रणाली का कायम किया जाना," (3) "शासन व्यवस्था में एकाएक बहुत बड़ा उलट फेर," (4) "हुकूमत में बहुत भारी रद्दोबदल," (5) "किसी मुल्क की सरकार में बुनियादी परिवर्तन या तब्दीली"।

अगर हम गौर से देखेंगे तो पता चलेगा कि हमने नमूने के तौर पर क्रान्ति या रेवोल्यूशन के जो पाँच लक्षण ऊपर लिखे हैं वे कुछ व्यापक हैं। तीसरे, चौथे और पाँचवें लक्षण तो सिर्फ राजनीतिक विप्लव या राज्यक्रान्ति को ही लक्ष्य करके लिखे गये हैं। पहले और दूसरे लक्षणों में भी जो आखिरी वाक्य हैं और जो 'प्रजा के द्वारा,' या "शासितों के द्वारा' (By subjects) से शुरू होते हैं वे भी सियासी इनकिलाब या राज्यविप्लव के ही मानी में हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सबों में राष्ट्रीय क्रान्ति का उल्लेख पाया जाता है–पाँचों ही राष्ट्र विप्लव को बताते हैं। मगर पहले तथा दूसरे लक्षणों में शुरू-शुरू में जो कई वाक्य हैं वह क्रान्ति के व्यापक और कुशादा अर्थ को बताते हैं। पहले लक्षण में जो 'हालत को उलट देना' और 'बुनियादी रद्दोबदल करना' ये दो बातें कही गयी हैं वह व्यापक हैं और राज्यक्रान्ति से बाहर की भी बातों को अपने भीतर ले लेती हैं; जैसे औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) वगैरह। इसी प्रकार दूसरे में शुरू के चार वाक्य भी, जो 'या शासितों के द्वारा' वाले वाक्य के शुरू होने के पहले आये हैं, व्यापक रूप में क्रान्ति को समझाते हैं। इसीलिए सभी प्रकार की क्रान्तियाँ उनके भीतर आ जाती हैं। यही इनकी मोटी बातें हैं।

मगर अब जरा विशेष रूप से इनके भीतर घुस के देखना होगा। तभी हमें कुछ और भी जरूरी जानकारी क्रान्ति के स्वरूप के बारे में हो सकेगी। पाँचों में जो राष्ट्र-विप्लव का रूप बताया गया है उससे पहली बात यह साफ होती है कि जब तक किसी मुल्क की सरकार के ढाँचे को जड़ से बदल न दिया जाय, उसमें ऐसा उलट-फेर न कर दिया जाय कि उसकी पहली सूरत लापता हो के एक नयी शक्ल खड़ी हो जाय, तब तक उसे क्रान्ति हर्गिज नहीं कह सकते। थोड़ा-बहुत परिवर्तन या इधर-उधर की मरहम पट्टी को विप्लव कभी नहीं कहेंगे। हमें तो क्रान्ति की सफलता के लिए सरकार की नींव और बुनियाद को ही उलट देना होगा। इसीलिए अँगरेजी में 'Fundamental change', 'Fundamental reconstruction', 'Sweeping change', 'Complete change', 'Reversal of conditions', 'Great reversal', 'Turning upside down', 'Substitution' आदि शब्द आये हैं। क्रान्ति नाम तो



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तभी दिया जायगा जब पहली सरकार के ढाँचे या शासन-प्रणाली को उलट के उसकी जगह एकदम नयी बनायी जाय। पहली हुकूमत का नामोनिशान मौजूद रहने पर यह कहना कि क्रान्ति हो गयी, सरासर झूठ है। इसीलिए लेनिन ने लिखा है—

"शोषित और पीड़ित वर्ग का त्राण तब तक गैरमुमकिन है जब तक बलपूर्वक क्रान्ति नहीं की जाय और जब तक पुराने शासन यन्त्र को, जिसे पहले के शासकों ने तैयार किया है, मटियामेट और तहस-नहस न कर दिया जाय।"

मार्क्स और एंगेल्स ने भी 'फ्रांस का गृह-युद्ध' (Civil war in France) में साफ ही लिखा है कि "मजदूर वर्ग के लिए यह कथमपि सम्भव नहीं कि पहले से ही बने-बनाये शासन यन्त्र को हथिया लें और उसे अपने काम में इस्तेमाल करें।"

इतना ही नहीं। श्री क्यूगलमान नामक एक सज्जन को सन् 1871 ई. में लिखते हुए मार्क्स ने और भी साफ लिखा है कि "जैसा कि पहले समझा जाता था कि सरकार के नौकरशाही और फौजी यन्त्र (ढाँचे) को कुछ लोगों के हाथ से छीनकर दूसरों के हाथ में सौंप देना ही मजदूर (सर्वहारा) क्रान्ति का लक्ष्य है, वह बात अब रह नहीं गयी है। अब तो क्रान्ति का काम है उस यन्त्र को चूर-चूर कर देना। यूरोप में जनता की किसी भी सच्ची क्रान्ति की सफलता के लिए यह बात अनिवार्य रूप से आवश्यक है।"

मार्क्स के इस पूर्वोक्त कथन का भाष्य करते हुए लेनिन ने साफ़ कहा है कि "विशेष ध्यान देने की बात है मार्क्स का वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कथन "कि नौकरशाही और फौजी शासन यन्त्र को धूल में मिला देना जनता की क्रान्ति का अनिवार्य मूल आधार है।" ...जो जनता की क्रान्ति दरअसल जनता के बहुमत को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है उसे वैसा नाम तभी दे सकते हैं जब कि उसमें बहुमत मजदूरों और किसानों का ही हो। कारण, उस जमाने (1871) में भी जनता का अर्थ होता था किसान और मजदूर यही दो वर्ग। क्योंकि इन दोनों वर्गों में यह समानता है कि नौकरशाही और फौजी शासन यन्त्र इन दोनों को ही सताता है, बर्बाद करता है, इनका शोषण करता है। इस यन्त्र को तोड़ देना, चौपट कर देना यही तो जनता का असली लक्ष्य है, जनता के बहुमत का ध्येय है, मजदूरों और किसानों में अधिकांश का मकसद है और मजदूरों एवं अत्यन्त गरीब किसानों के बीच स्वेच्छापूर्वक मैत्री स्थापित होने के लिए यही जरूरी और पहली शर्त है। और जब तक ऐसी मैत्री कायम नहीं होती तब तक न तो मजबूत जनतन्त्र शासन की स्थापना ही हो सकती है और न समाज का पुनर्निर्माण ही।"

मार्क्स का जो उद्धरण क्यूगलमान को लिखे पत्र से दिया गया है उसे और उसी सिलसिले में उसी पत्र में लिखी और बातें पढ़ के और खास कर उसमें जो 'on the continent' (यूरोप में) लिखा गया है, खासतौर से उसे देखकर कुछ लोगों ने यह सोचना शुरू कर दिया था कि मार्क्स के विचार से भी यद्यपि यूरोप में पुरानी



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शासन व्यवस्था को चकनाचूर किये बिना राज्यक्रान्ति को सफलता मिल नहीं सकती, फिर भी यूरोप के बाहर, विशेषतः इंगलैंड और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में, इस बात की जरूरत न होगी और शायद उसके बिना भी काम चल जायगा। वे लोग कहीं से 1872 ई. में दिये गये मार्क्स के एक व्याख्यान का यों हवाला भी देते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि सन् 1872 ई. में एक लेक्चर में मार्क्स ने कहा था कि "बेशक मेरे कहने का यह मतलब हर्गिज नहीं है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन सर्वत्र एक ही तरह का होगा। हम जानते हैं कि विभिन्न मुल्कों की संस्थाओं, रीति-रिवाजों और परम्पराओं का भी खास खयाल करना ही होगा और हम यह इनकार नहीं करते कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और इंगलैंड जैसे देश भी हैं जहाँ श्रमजीवी लोग अपना लक्ष्य शान्तिपूर्ण उपायों से प्राप्त करने की आशा कर सकते हैं"। इसीलिए सन् 1917 ई. में लेनिन को खासतौर से लिखना पड़ा कि "आज प्रथम साम्राज्यवादी युद्ध के युग में मार्क्स का यूरोपवाला अपवाद खत्म हो गया। क्योंकि ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) भी जिनमें नौकरीशाही और फौजी ढंग की शासन-प्रणाली अब तक न रहने के कारण वे ऐंग्लो सैक्सन (अँगरेजी) स्वतन्त्रता के प्रतीक स्वरूप रहे हैं, और मुल्कों की ही तरह आखिरकार गन्दे और खूनी नौकरशाही और फौजी ढाँचे की कीचड़ में लथ-पथ हो चुके हैं, और इस प्रकार उनमें भी, विश्व-व्यापक जुल्म और अत्याचार की स्थापना हो रही है। इसलिए आज तो दूसरे मुल्कों की ही तरह इंगलैंड और संयुक्त राष्ट्र में भी पहले से मौजूद शासन यन्त्र को चकनाचूर और मटियामेट कर देना वास्तविक जन-क्रान्ति की सफलता के लिए अनिवार्य रूप से जरूरी है। क्योंकि सन् 1914-1917 ई. में उन दोनों के उस शासन-यन्त्र को ठीक उसी तरह की साम्राज्यवादी पूर्णता मिल गयी है जैसी कि यूरोपीय महाद्वीप के और मुल्कों के शासन को।" दोनों देशों के श्रमजीवियों की आशा की शान्ति से ही क्रान्ति होगी लेनिन ने खत्म कर दी। एक तो मार्क्स ने ही दबी जबान से सिर्फ आशा करने की ही बात कही है—'may hope', यदि वह उद्धरण सही माना जाय। दूसरे, लेनिन ने उसे भी मिटा दिया और वैसी आशा बेबुनियाद बता दी।

इन सभी उद्धरणों से संक्षेप में यह बात साफ हो जाती है कि पुरानी व्यवस्था और हुकूमत के ढाँचे को जड़-मूल से उलटे और चौपट किये बिना क्रान्ति को कामयाबी मिली नहीं सकती—जो ऐसा न करे उसे क्रान्ति कही नहीं सकते। अगर पहले, जबकि साम्राज्यवाद का प्रसार नहीं हुआ था और उसका नग्न रूप लोगों को दीखा न था, ऐसा खयाल कभी शायद किया जा भी सकता था कि बिना शासन उलटे ही क्रान्ति हो सकती है, तो अब तो इसकी रत्ती भर भी गुंजाइश नहीं रही। इस बात में जरा भी आगा-पीछा न किया जाय, इसीलिए लेनिन ने साफ लिख दिया है। मगर यहाँ पर एक और बात जान लेने की है। बाहरी उलट-फेर और तबाही तो हुई। लेकिन उससे भी जरूरी है भीतरी परिवर्तन और रद्दोबदल, जिसे अँगरेजी में स्पिरिट (spirit)



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कहते हैं और जिसे रंग-ढंग या असलियत भी कहते हैं। बाहर से देखने पर पता लग सकता है कि पुरानी बातें और पुराने तौर-तरीके सबके-सब खत्म हो गये हैं, बदल गये हैं, उनका नामोनिशान भी नहीं है। मगर शासन-प्रणाली की जड़ और भीतरी बात—स्पिरिट—ज्यों की त्यों है। स्पिरिट का पता लगना, पता लगाना आसान नहीं है। आम लोगों के लिए तो यह बात गैर-मुमकिन हुई। पढ़े-लिखे और चतुर लोगों में भी बिरले ही इसे जान पाते हैं कि शासन की असलियत ज्यों की त्यों है या बदल गयी है।

बात यों होती है कि उथल-पुथल और क्रान्ति के समय में पुराने शासक और शोषक काफी सजग हो जाते हैं। वह भरसक इस बात की कोशिश करते हैं कि जनता उन्हें परख न पाये कि वे पहले जैसे ही हैं। वे पूरे बगुला भगत बन बैठते हैं। ताकि जनसाधारण उनकी ओर से चिहुँक न सकें—वे समझ जायँ कि वे अब पूरे महात्मा बन गये ! ऐसा भी होता है कि जो लोग क्रान्ति का नेतृत्व करते हैं वे सबके-सब शोषित जनता के पक्के आदमी होते ही नहीं। इसके उलटा उनमें शायद ही कोई—इक्के-दुक्के—ऐसे होते हैं। बाकी लोग तो मध्यम श्रेणी और पूँजीवादी मनोवृत्ति के या इसी प्रकार के होते हैं। हाँ, क्रान्ति की लड़ाई में जूझने वाली जनता तो खुद शोषित एवं पीड़ित होती है—शोषितों तथा पीड़ितों के लिए मर मिटनेवाली होती है। मगर नेतृत्व की गड़बड़ी से ही उसका मनोरथ पूरा हो पाता नहीं। शोषण और लूट-खसोट को हमेशा के लिए उखाड़ फेंकने का कस्द और प्रण करके भी वह जनता नेताओं की धोखेबाजी से घपले में पड़ जाती है। क्योंकि नेता लोग अपनी बाघ की शक्ल छिपा के गधे की खाल ओढ़ लेते हैं। फिर उन्हें वह समझे तो क्योंकर? और अगर नेताओं के समझ जाने की यह शक्ति ही उसमें होती तो फिर वह खुद नेतृत्व क्यों न कर लेती?

संसार में अब तक जानें कितनी क्रान्तियाँ हो चुकी हैं। सबों के शुरू में नेता लोग ऐसा नकली आँसू बहाते और गला फाड़ते थे कि गोया गरीबों की तकलीफों से उनके कलेजे पिघल के पानी-पानी हो रहे हों। कमानेवालों—किसानों और मजदूरों—की तकलीफों को जड़ से सदा के लिए उखाड़ फेंकने के वादे उनने बराबर किये—लाखों किये ! मगर नतीजा कुछ न हुआ ! जब जनता ने उनपर विश्वास करके सारा भार सौंप दिया और वह उन पर शक न करके अपने पुराने काम—खेती-गिरस्ती वगैरह—में जा लगी तो नेताओं ने धीरे-धीरे अपनी गधे की खाल उतार फेंकनी शुरू की, इस चालाकी से कि जनता को इसका पता न चले। नहीं तो सजग हो जायगी और हमारी टिक्की उखाड़ फेंकेगी। कुछ जमाना गुजर जाने के बाद जब इन नकली नेताओं ने अपनी टिक्की काफी जमा ली और अपने जाल चारों ओर बिछाकर अपने को पूरा मजबूत कर लिया, तब एकाएक हमने अपनी खाल उतार फेंकी ! यह देख के जनता अवाक् रह गयी। उसने चाहा भी कि इन्हें भी उठा फेंके। क्योंकि इनकी धोखेबाजी



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से उसे हद से ज्यादा रंजिश हुई। मगर अब यह बात नामुमकिन थी। क्योंकि पुराने शासकों की ही तरह ये नये नेता—नये शासक—भी जड़ जमा चुके थे। इसलिए भयंकर दमन के द्वारा इस बार जनता के उभड़ते जोश को उनने ठण्डा कर दिया ! वह भी कलेजा मसोस के रह गयी ! कभी-कभी तो ऐसा भी हुआ है कि नये और पुराने शासकों ने आपस में ही समझौता कर लिया है, या और नहीं तो किसी जबर्दस्त ताकत से ही 'आधा तुम, आधा हम' के तरह की शर्तों पर ही सन्धि कर ली है। इसीलिए पुनरपि जनता के सफल हो जाने पर भी कुछ ही दिनों में उसे फिर पछाड़ दिया है।

फ्रांस में—पेरिस में—सन् 1789 ई. से लेकर जानें कितनी बार क्रान्तियाँ हुईं। भूखे-नंगे किसानों की बात लेके—बादशाह 16वें लुई और उसके पूर्ववर्ती 15वें तथा 14वें लुई की निर्दयता, उच्छृंखल पामरता और निरंकुश लूट से ऊब कर ही—सन् 1789 वाली क्रान्ति शुरू हुई थी और उसी का ताँता सैकड़ों साल तक चला गया। बीच-बीच में चन्द दिनों के लिए कमानेवालों—श्रमजीवियों के—हाथ में शासन की बागडोर आयी भी। एक बार वहाँ पेरिस कम्यून के नाम से उनकी सच्ची सरकार बनी भी। मगर वह टिक न सकी। पहली सफलता के बाद ही, जबकि बादशाहत का खात्मा हो गया, क्रान्ति के संचालकों ने रंग बदलना शुरू कर दिया। उनके आपसी स्वार्थ के झगड़े भी शुरू हो गये। इसीलिए नेपोलियन को मौका लगा कि शासन सूत्र को दस साल बाद 1799 ई. में हथिया ले। उसके हट जाने पर फिर एक गुट ने सन् 1814 और सन् 1815 में आखिरी बार 18वें लुई को उस गद्दी पर बिठाया। सन् 1830 ई. में बोर्बन वंश की बादशाहत हटा के ओर्लीयन्ज के लुई फिलिप को गद्दी दी गयी। ये लोग भी बोर्बन लोगों की ही तरह शाही वंश की छोटी शाखा माने जाते थे। यह परिणाम था सन् 1830 ई. की क्रान्ति का ही। उसके बाद पुनरपि नेपोलियन के ही वंश के एक शख्स तीसरे नेपोलियन (लुई नेपोलियन) को सन् 1849 ई. में अध्यक्षता और सन् 1851 ई. में बादशाहत मिली जो सन् 1870 ई. की क्रान्ति में छिन गयी। फिर सन् 1871 ई. की कम्यूनवाली सरकार को खत्म करके अन्तिम बार जो पूँजीपतियों का राज्य कायम हुआ वही आज तक फ्रांस में जारी है।

इस प्रकार अगर सिर्फ फ्रांस की राज्यक्रान्ति पर गौर करें तो पता लगता है कि मानो शासन व्यवस्था के प्लेटफार्म पर नाटक खेला गया था। लड़नेवाले तो किसान, मजदूर और निम्न-मध्यम वर्ग के लोग ही वहाँ थे। मगर चतुर यारों ने कभी एक दल को अपनी ओर मिला के दूसरों को मिटाया, कभी किसानों को मजदूरों के खिलाफ भड़काया, कभी किसानों के साथ ही शहर के निम्न-मध्यवर्गीयों और पढ़े-लिखों को मिला के मजदूरों के हाथ से या तो शासन छीना या उन्हें पस्त किया। सन् 1871 ई. में तो मजदूरों में ही दो दल हो गया। शाही खानदान के नाम पर बोर्बन और और्लीयंज वाले—यही दोनों—दावेदार थे फ्रांस की गद्दी के। इनमें बोर्बन लोगों के समर्थक



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुराने जमींदार घराने थे—फ्रांस के बड़े जमींदार थे। और्लीयंज वालों के मददगार पूँजीवादी या नया-नया बुर्जुवा वर्ग था। नेपोलियन और उसके वंशवाले तीसरे दावेदार थे और फौज को अपनी ओर मिलाये रखते थे।

इस प्रकार इन तीन नाटक के पात्रों में किसी-न किसी के शिकंजे में कमानेवाली जनता फँसी ही रहती थी, जिसे लड़ा के इनमें एक-न-एक कामयाब होई जाता था। अन्त में पूँजीपतियों ने शाही वंश के प्रति जनता की तीव्र घृणा का खयाल करके उससे नाता तोड़ लिया भी। क्योंकि ऐसा किये बिना जनता उनसे भड़क उठती। उन्हें राजवंश से कोई खास मुहब्बत तो थी नहीं। उस खानदान के प्रति पहले जमाने में कुछ ऊँची और श्रद्धा की भावनाएँ पायी जाती थीं, जैसा इंगलैंड और जापान में आज भी है। इसीलिए अपने मतलब के ही लिए वे लोग दोनों राजवंशों के नारे लगाते और इस प्रकार भोली जनता की भावनाओं से फायदा उठाते थे। मगर जब उनने यह फायदा न देखा तो उसे ताक पर रख दिया। उन्हें तो पूँजीवाद को आबाद करना था। सो बात तो सन् 1871 ई. के बाद उनने खूब ही कर ली। इसमें पीछे जमींदार पार्टी ने भी उनका साथ दिया। क्योंकि दोनों का स्वार्थ अन्ततोगत्वा एक ही था। जमींदार लोग भी पूँजीवादी रंग में रँग चुके थे। इसीलिए सन् 1852 ई. में लिखी गयी 'फ्रांस का गृह-युद्ध' (Civil war in Fr..nce) पुस्तक में मार्क्स ने साफ ही लिखा है कि "जमींदार तो अब उद्योग-धन्धों में रुपये लगा के पूँजीपतियों के सोये साझीदार बन गये हैं।"

इसीलिए सबसे पहले जरूरत इस बात की है कि पुराने शासन की जड़ को ही उखाड़ दिया जाय। तभी उसकी स्पिरिट बदलने की आशा की जा सकती है। मगर फ्रांस की क्रान्तियों की तरह जड़ उखाड़ने के बाद भी पुरानी स्पिरिट कायम न रह जाय, या घूम-फिर के वापस न आ जाय इसके लिए क्रान्तिकारियों को फूँक-फूँक के पाँव देना पड़ेगा। जरा भी विश्वास किया कि पुराना भूत आ बैठेगा। इसीलिए दिन-रात पहरा देना और चौकसी करना पड़ेगा। जिन लोगों की कड़ी जाँच हो चुकने पर वे साबित हो चुके हैं कि पीड़ितों के ही लिए मर-मिटने के सिवाय वह कुछ और जानते ही नहीं, ऐसे ही लोगों को चुन-चुन के शासन-प्रबन्ध में रखना होगा। केवल गर्म लेक्चर देनेवालों और क्रान्ति की दोहाई देने वालों को पास फटकने देना भी नहीं होगा। इतने पर भी बीच-बीच में छटैया (Purging) की आवश्यकता होई जाया करेगी।

हमें इस बात से आश्चर्य है कि ऐसी बात होने पर भी कितने ही लोग जो अपने को और अपनी पार्टी को भी, क्रान्ति का अग्रदूत मानते हैं, उसी हस्तान्तरित होने की बात को सिद्धान्त के रूप में मानते हैं। वे कहते हैं कि शासन सूत्र को वर्तमान शासकों के ड़ाथ से अपने हाथ में—जनता के हाथ में—लाना है—'पॉवर को ट्रान्सफर' करना है ! यह 'ट्रान्सफर' शब्द उसी 'हस्तान्तरित' शब्द के अर्थ में बोला



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाता है। हमने जो कुछ कहा है वह तो थोड़ा ही है। मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के जितने लेख और ग्रन्थ हमें पढ़ने को मिल सके हैं और दूसरे ग्रन्थों में उनके वाक्यों के जो उद्धरण हमें मिले हैं उनमें एक भी ऐसा नहीं है जहाँ यह 'ट्रान्सफर' शब्द ऐसे मौके पर आया हो। हमने इस बात की खासतौर से छान-बीन की। हम इसके लिए काफी परेशान भी रहे हैं। मगर जहाँ देखा वहीं हमें 'कैप्चर' और 'सीजर' यही दो शब्द मिले हैं। इनका तो साफ मानी है 'हथिया लेना', 'छीन लेना'। शासकों के हजार न चाहने और विरोध करने पर, सारी ताकत लगा के लड़ने पर भी उन्हें मजबूर करके शासन सूत्र को, हुकूमत की बागडोर को जबर्दस्ती अपने कब्जे में कर लेना ही 'सीजर' या 'कैप्चर' है। अगर हम लेनिन के उस महत्त्वपूर्ण वाक्य का विचार करते हैं जो उसने अक्टूबर वाली क्रान्ति की सफलता के बाद उसका मतलब बताते हुए लिखा था कि "क्रान्ति उस वर्ग युद्ध को कहते हैं जो उबलता हुआ और बहुत ही कड़वा होता है।" तो साफ ही ट्रान्सफर की बात गलत और 'सीजर' की बात सही साबित होती है।

इसीलिए क्रान्ति के मानी बताने के लिए जो पाँच वाक्य हमने पहले लिखे हैं उनमें दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि दूसरे और पहले में 'फोर्सिबुल सब्स्टीच्यूशन' शब्द आये हैं। इनका अर्थ है बल प्रयोग पूर्वक दूसरी व्यवस्था की स्थापना। और यह बल प्रयोग हमेशा वहीं होता है जहाँ पहले के अधिकारी या मालिक या शासक जम के मुकाबिला करते हैं, जिसे अँगरेजी में 'सस्टैंड रेजिस्टेन्स' कहते हैं। जब एक ओर से मुकाबिला होगा तो दूसरी तरफ से बल प्रयोग भी जरूरी है। नतीजा होता है जबर्दस्त भिड़न्त। फिर वहाँ हस्तान्तरित करने का सवाल उठ सकता है कैसे? यह तो वहीं मुमकिन है जहाँ बातचीत, पंचायत या दबाव डाल के पहले के अधिकारियों को इस बात के लिए, चाहे अनिच्छापूर्वक ही क्यों न हो, ऐसा मानने के लिए राजी किया जाय कि उस वस्तु या हुकूमत को हमें सौंपने को तैयार हों। यही बात कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और दक्षिण अफ्रीका आदि में हुई है। अँगरेजी सरकार को मजबूरन इन मुल्कों की हुकूमत वहीं के लोगों को सुपुर्द करने के लिए राजी होना पड़ा है। ट्रान्सफर या हस्तान्तरित करने में असली चीज यह रजामन्दी ही है। इसके बिना ट्रान्सफर हो सकता है नहीं। जो लोग समझते हैं कि पूँजीवादी बिना सारी शक्ति लगा के लड़े ही शासन सूत्र छोड़ देंगे वे संसार के राष्ट्रों की उलट-फेर का और खासकर क्रान्ति का इतिहास जानते ही नहीं। पूँजीवाद के विरुद्ध लड़ी जानेवाली लड़ाई कितनी भीषण और खूनी होतीं है, यह बात आगे लिखी गयी है।

यही कारण है कि उन वाक्यों में तीसरे में आकस्मिक (sudden) परिवर्तन की बात लिखी गयी है। जो उलट-फेर एकाएक हो जाता है उसे ही राज्यक्रान्ति कहते हैं। यह तीसरी विशेषता भी इस सिलसिले में खयाल रखने की है। बल प्रयोग से जो काम होगा वही तो एकाएक होगा। पॉवर (शासन शक्ति) को ट्रान्सफर करने



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का प्रश्न तो धीरे-धीरे की बात है। दबाव डालने और राजी करने में समय लगता ही है। इस बीच में पुराने शासक हुकूमत के नये रंग-ढंग को भी अच्छी तरह समझ और सोच-विचार लेते हैं। राजी होने के पहले अपना नफा-नुकसान भी बखूबी सोच लेते हैं। जब तक सब मिला के, उन्हें हुकूमत दूसरों को सौंपने में, आखिरकार फायदा न सूझे तब तक वे राजी भी कैसे हो सकते हैं? उदान्त स्वार्थ (enlightened self interest) से उस समय वे लोग काम लेते हैं—दूरदृष्टि (long range view) उस समय उन्हें रास्ता सुझाती है कि शासन-सूत्र को नये दावेदारों को सौंप देने में ही भलाई है। इसलिए खूब सोच-साच कर ही वे लोग ऐसा होने देते हैं। अँगरेजी सरकार ने कनाडा वगैरह के बारे में ऐसा ही किया था।

चुनावों के जरिये जो लोग शासनाधिकार अपनाने की बात मानते और खयाल करते हैं उनकी भी हालत धीरे-धीरे-वालों की ही है। अपने सिद्धान्तों को वे लोग आम जनता और मतदाताओं के सामने रखते और उन्हें समझाते हैं। इसमें ख़ामखाह मुद्दत लगती है। यह दो-चार या दस-बीस वर्षों का सवाल नहीं है। इसीलिए वहाँ भी ट्रान्सफर की बात लागू होती है। इंगलैंड का मजदूर-दल और दूसरे मुल्कों की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टियों या उन जैसों की भी यही हालत है। इसीलिए वे क्रान्तिकारी नहीं माने जाकर सुधारवादी माने जाते हैं। वे लोग क्रान्ति से भड़कते और खतरा खाते हैं। वे लोग इसके नजदीक जाना तक नहीं चाहते। अगर उनमें कुछ इसका नाम लेते भी हैं तो केवल जनता को फाँसने और धोखा देने के ही लिए। उनकी नीयत तो दूसरी ही है।

लेकिन जब एकाएक रद्दोबदल होगा तो पुराने गद्दीधारियों को सोचने-विचारने का मौका लगेगा कैसे? वे तो जब तक इधर खयाल दौड़ायेंगे तभी तक सारा मामला ही वारा-न्यारा हो जायगा। इसीलिए अपने फायदे की कोई बात करने या शर्तें लगाने का उन्हें मौका ही न मिल सकेगा। फिर कालान्तर में अपनी ताकत आजमाने की उम्मीद भी वे कैसे कर सकेंगे? इसीलिए तो क्रान्ति को समुद्र की आकस्मिक लहर कहते हैं। उसे प्रलय भी इसी मानी में कहा जाता है। क्योंकि समुद्र की जो तूफानी लहर अचानक आके सभी चीजों को बहा ले जाती है, या प्रलय जो सभी चीजों को पल में मटियामेट कर देती है, किसी को भी सँभलने-सँभालने का मौका ही नहीं देती। एकाएक (sudden) हो जाने का मतलब यही है कि सुधार की तरह किस्त-किस्त करके क्रान्ति नहीं होती। क्रान्ति के सफल होने में बेशक हफ्तों या महीनों लग जाते हैं ! घण्टे या मिनट में ही वह हो जाय सो बात नहीं है। मगर यह भी ठीक है कि उसमें किस्तबन्दी की गुंजाइश नहीं होती। पूरी चीज एक ही बार आ खड़ी होती है। पुरानी व्यवस्था सोलहों आने उलट जाती है, उलट दी जाती है और उसकी जगह एकदम नयी और ताजी व्यवस्था ले लेती है। यही है क्रान्ति की खूबी और यही है उसमें, रेवोल्यूशन में और सुधार में, रिफार्म में बुनियादी फर्क।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अचानक कहने का यह भी मतलब होता है कि पुराने शासकों को जिस ढंग और तरीके की आशा भी नहीं होती उसी तरीके से उन्हें उठा फेंका जाता है। यह तो यह भी सूचित करता है कि शासक लोग जिस बात का स्वप्न में भी खयाल नहीं करते वही बात हो जाती है और वे अचानक कहाँ से कहाँ उठा फेंके जाते हैं। रूस का अन्तिम जार निकोलस द्वितीय और उसकी स्त्री जारिना को—दोनों को ही—इस बात की जरा भी उम्मीद नहीं थी कि उनके हाथ से शासन की बागडोर छिन जायगी, सो भी जनता के द्वारा। उनके दिमाग में यह बात समाती ही न थी। इसीलिए जब कभी जार किसी वजह से जरामरा झुकना भी चाहता था तो जारिना उसे बार-बार यही कहती थी कि हर्गिज-हर्गिज ऐसा मत करो—Do not yield. उसे विश्वास ही न था कि तख्त उलट जायगा। यहाँ तक कि जिस दिन जार कैद हो गया उस दिन भी जारिना ने यही सन्देश भेजा था ! मगर सन् 1917 ई. की फरवरी के अन्त में और आज के नये हिसाब से 13, 14 मार्च को उसके हाथ से सरकार छिनी गयी जरूर। सन् 1789 ई. की जुलाई में फ्रांस के शासक 16वें लुई की भी यही हालत हुई। हालाँकि वह भी बेफिक्र था कि उसकी गद्दी छिन सकती नहीं। इंगलैंड में सन् 1688 ई. के अन्तिम महीने, दिसम्बर में स्टुआर्ट वंश के महाराजा जेम्स द्वितीय को भी एकाएक अपनी गद्दी छोड़नी पड़ी और उस पर पीछे तृतीय विलियम और मेरी को अभिषिक्त किया गया। और तो और, क्या अँगरेजी सरकार यह सोचती भी थी कि अमेरिका उसके हाथ से निकल जायगा? यदि ऐसा समझती तो कनाडा की ही तरह उसे भी—संयुक्त राष्ट्र अमेरिका को भी—औपनिवेशिक स्वराज्य दे ही देती। मगर यह न हुआ और सन् 1776 ई. की 4 जुलाई को अमेरिका पूर्ण स्वतन्त्र हो गया !

इस तरह यदि हम देखते हैं तो क्रान्ति का मोटा-मोटी लक्षण कुछ इस ढंग से करना पड़ता है। क्रान्ति कहते हैं शासितों के द्वारा पुरानी शासन-प्रणाली की जगह पर बलपूर्वक सोलहों आना नयी शासन व्यवस्था का कायम किया जाना। हम यह कह देना चाहते हैं कि यह लक्षण ऐसा नहीं बताया गया है कि कोशिश करने पर इसमें दोष न दिखाया जा सके। हमारा यह मतलब हई नहीं। हमने तो इतनी दूर तक किये गये विचारों की बिना पर ही इसे लिखा है। इसका मतलब सिर्फ इतना ही है कि जो लोग क्रान्ति को मोटी तौर पर समझना चाहते हैं उन्हें मदद मिल जाय। वे गलत चीज न समझ के ठीक रास्ते पर आयें और समझें। ताकि उसके बाद उसकी बारीकियों का विचार पीछे वे खुद कर सकें। उनकी जानकारी का रास्ता साफ कर देना ही हमारा मतलब है।

राज्यक्रान्ति की रूपरेखा का जो कुछ वर्णन अब तक किया गया है उसी सिलसिले में एक-दो बातें और भी कह देना है। फ्रांसीसी भाषा में एक शब्द है कू (coup)। इसका अर्थ है सफल धक्का—ऐसा धक्का जो कामयाब हो जाय और जिस पर लगे



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वह खत्म हो जाय। इसी कू या सफल धक्के के बारे में एक खास बात यह है कि अगर वह एकाएक और अचानक दिया जाय तो उसे 'कू द मैं' (coup de main) कहते हैं, जैसा कि क्रान्ति का सामान्य रूप बताते हुए शुरू में भी तीसरे वाक्य में कहा गया है। और अगर लगातार कई धक्के लगें तो जो आखिरी होगा और जिसके बाद कामयाबी हो जायगी उसे 'कू द ग्रास' (coup de grace) कहते हैं। मगर खासतौर से बलपूर्वक अचानक शासन-प्रणाली में परिवर्तन ला देने को 'कू दि ताः' (coup de etal) कहते हैं। यही 'कू दि ताः' है। राज्यक्रान्ति या राष्ट्रविप्लव। दोनों का एक ही अर्थ है—जरा भी भेद नहीं। कभी-कभी प्रयोग या बोलचाल में 'कू दि ताः' की जगह केवल 'कू' भी बोलते हैं। मगर उसका अर्थ 'कू दि ताः' ही होता है। इस तरह देखते हैं कि क्रान्ति के ही विभिन्न अर्थों में 'कू द ग्रास', 'कू द मैं' या केवल 'कू' बोले जाते हैं। मगर राज्यक्रान्ति का ठीक अर्थ 'कू दि ताः' ही बताता है। 'कू द ग्रास' को ही अँगरेजी का 'इंजरेक्सन' (insurrection) शब्द बताता है।

एक बात और है। क्रान्ति के ही सिलसिले में उसके विरोधियों के कामों को क्रान्तिविरोधी या प्रतिगामी काम (Reaction) और प्रतिगामीक्रान्ति, या प्रतिक्रान्ति (Counter-revolution) कहते हैं। ऐसे कामों के करनेवालों को या उनके दलों को प्रतिगामी या दकियानूस या प्रतिक्रियावादी (Reactionary) और प्रतिक्रान्तिकारी (Counter-revolutionary) कहते हैं। गो कि ऊपर से देखने से ये दोनों ही एक से मालूम होते हैं और आम तौर बोल-चाल में कोई विभेद इनमें किया नहीं जाता। फिर भी दरअसल दोनों दो हैं। जो प्रतिगामी या प्रतिक्रियावादी है वह हर तरह की क्रान्ति से डरता है। शोषितों की राष्ट्रक्रान्ति की तो बात ही छोड़िये। उसको मिटाने या उलटने के लिए जो क्रान्ति की जायगी उससे भी वह थर्राता है। वह तो घबराता है कि जानें क्या हो जाय। वह सदा शान्तिपूर्ण परिवर्तन की ही बात सोचता है। उसके दिल और दिमाग की बनावट ही ऐसी होती है कि दूसरी बात सोच ही नहीं सकता। उसे नरमदली कहिये या जी हुजूर कहिये।

मगर जो प्रतिक्रान्तिकारी होता है वह जरा हिम्मतवाला होता है। वह जनता की क्रान्ति को उलट देने के लिए क्रान्ति तक कर देने की हिम्मत रखता है। उसे क्रान्ति के नाम से घबराहट नहीं होती है। वह तो केवल शोषितों की क्रान्ति से ही घबराता है—उसी का दुश्मन होता है—उसे ही मिटाना चाहता है। नेपोलियन बोनापार्ट और तृतीय नेपोलियन या लुई नेपोलियन को फ्रांस में और कौर्निलोक को रूस में प्रतिक्रान्तिकारी (counter-revolutionary) कहते हैं। मगर फ्रांस में जो 18वाँ लुई या उसके दोस्त थे वह पहले दल में थे। उन्हें उलटी क्रान्ति की हिम्मत न थी। सारांश यह है कि जहाँ सभी प्रतिक्रान्तिवादी ख़ामखाह प्रतिगामी होते हैं, वहाँ सभी प्रतिगामी प्रतिक्रान्तिवादी नहीं होते।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

## 2

अब हमें इस राज्यक्रान्ति की किस्मों को, उसके भेदों को देखना है। जब तक हमें यही पता ठीक-ठीक चल न जाय कि क्रान्तियाँ कितनी तरह की होती हैं तब तक हमें कब क्या करना चाहिए इसका निश्चय होई नहीं सकता। यह मामला कुछ ऐसा पेचीदा है और इधर लोगों ने कुछ ऐसा घपला मचा दिया है कि उसके सम्बन्ध में ठीक-ठीक कार्यक्रम बनाना गैर-मुमकिन हो जाता है। असल में क्रान्तियाँ कितनी तरह की होती हैं यही तो मुख्य प्रश्न है और इसी बात की जानकारी पर हमारे सारे कामों का दारोमदार है। यों कुछ किये जाना तो दूसरी बात है। जिन्हें इतने से ही सन्तोष हो जाता है, जो इतने से ही एतत् सम्बन्धी अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं उनकी तो बात ही जुदी है। उनके लिए हमें न तो कोई फिक्र है और न यह कोशिश ही की ज़ा रही है। यह तो सिर्फ उन लोगों के लिए है ज़ो इस बात के भूखे हैं कि उन्हें क्रान्ति में सफलता मिले। इसीलिए अपनी शक्ति का सोलहों आने सदुपयोग करने की लालसा जिन्हें है उनके लिए इस मामले की सफाई और क्रान्ति का ब्योरा जान लेना निहायत जरूरी है। इसके न जानने से सबसे बड़ा नुकसान यह होता है कि हमारी बहुत-सी मिहनत बेकार और जाया हो जाती है। क्योंकि अनजान में हम बहुत-सी बेजरूरत की बातें कर डालते हैं।

हमें शुरू में ही यह जान लेना चाहिए कि आजादी, स्वराज्य और फ्रीडम या इण्डिपेण्डेण्स का जो अर्थ है उसी मानी में अब क्रान्ति शब्द का प्रयोग प्रगतिशील लोग करने लगे हैं। खासकर मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के मत को जो मानते हैं वह तो अब स्वराज्य वगैरह न बोल के क्रान्ति ही बोलते हैं। असल में मार्क्स की भाषा में क्रान्ति शब्द ही उस अर्थ को यक्त करता है। स्वराज्य, आजादी, पूर्ण स्वतन्त्रता आदि शब्द तो गोल-गोल बातें बताते हैं। उनसे किसी खास मतलब की सफाई नहीं हो पाती। स्वराज्य का अर्थ है अपना राज्य। मगर अपना तो एक नहीं है। हमारे देश में या और मुल्कों में भी, जहाँ स्वराज्य की लड़ाई लड़ी जाती है या जाती रही है, जितने आदमी होंगे उनका 'अपना' एक कैसे हो सकता है? यदि वर्गों का 'अपना' 'अपना' एक मान भी लें, तो भी वर्ग तो अनेक होते हैं। इसीलिए 'अपना' भी अनेक होने के कारण स्वराज्य एक न होकर अनेक हो गया। किसी बड़े जमींदार या मिलवाले को ही लीजिए। उन दोनों का जो अपना राज्य (स्वराज्य) होगा। वही उन किसानों या मज़दूरों का अपना (स्व) राज्य कैसे हो सकता है? जब दोनों के स्वार्थ—शोषकों और शोषितों के स्वार्थ—परस्पर विरोधी हैं, तो फिर उनका स्वराज्य एक कैसे होगा? जो एक का स्वराज्य होगा वही दूसरे के लिए यमराज्य हो जायगा।

आखिर हम यह तो मानते ही हैं कि स्वराज्य होने से हुकूमत हमारे अपने हाथ में आ जायगी। मगर अपना हाथ होगा कौन? वह तो जमींदार और किसान



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का, या पूँजीपति और मजदूर का जुदा-जुदा होगा न? ऐसी हालत में यदि 'अपना' का अर्थ जमींदार का या पूँजीपति का, ऐसा मान लें तो स्वराज्य का मतलब यह हुआ कि जमींदारों और मालदारों के हाथ में हमारे देश की हुकूमत आ गयी। तब नतीजा क्या होगा, सिवाय इसके कि किसानों और मजदूरों को वे लोग चूँ करने न देंगे? वे लोग मनमाने ढंग से लगान वगैरह वसूलेंगे और काम करायेंगे। और अगर इस पर किसान या मजदूर चूँ करें तो जेल, जुर्माना, फाँसी, कालापानी, गोली आदि के जरिये वे दुरुस्त कर दिये जायँगे ! आतंक राज्य कायम के दिया जायगा। क्योंकि यह काम सरकार ही करती है और वह है अब जमींदारों और पूँजीपतियों की ही।

लेकिन विपरीत इसके यदि अपना राज्य का अर्थ किसानों और मजदूरों का राज्य हो तो सभी बातें उलटी होंगी। वे जमींदारों को या तो लगान देंगे ही नहीं, या नाममात्र को ही देंगे—जितना चाहेंगे उतना ही देंगे। उसी प्रकार मजदूर अपने आराम के अनुसार काम करेंगे न कि कारखानेवालों की मर्जी के मुताबिक। फिर भी तनख्वाह काफी लेंगे। यहाँ तक भी करेंगे कि कारखानों और मिलों को अपने कब्जे में करके पूँजीपतियों को धकिया देंगे! किसान भी जमींदारी को ही मिटा देंगे और जमीनें हथिया लेंगे। मजा तो यह होगा कि जमींदार या पूँजीवाले जबान भी हिला न सकेंगे। नहीं तो वही भयंकर दमन होगा और उनकी जिन्दगी हराम हो जायगी। सरकार मजदूरों और किसानों की जो ठहरी। वह जैसा चाहेंगे वैसा ही सरकार करेगी।

ऐसी हालत में स्वराज्य एक कैसे होगा? फिर भी यदि एक माना जाय, तो यह धोखे की बात होगी। मगर होता है ऐसा ही। स्वराज्य, आजादी आदि शब्दों को देख के सीधे लोग यह मान बैठते हैं कि वह एक ही चीज है और सबके लिए समान है। जो लोग पूँजीवादी, जमींदार या उनके मित्र और दलाल हैं वह तो इस बात का निरन्तर प्रचार करते ही रहते हैं कि जो स्वराज्य होगा, जो आजादी होगी, वह सबों के लिए होगी। वह यह भी कहते रहते हैं कि आखिर विदेशी सरकार का हटाना तो धनी गरीब सबों के लिए बराबर ही है और स्वराज्य के भीतर यह हटाने वाली बात भी आती ही है। मगर वे यह बात नहीं बताते कि विदेशी हुकूमत का हटाना असल चीज नहीं है। किन्तु उसके बाद किसकी सरकार होगी और कैसी होगी यही स्वराज्य का असली अर्थ है। क्योंकि ऐसा कहने पर किसानों और मजदूरों की आँखें जो खुल जायेंगी और वे सवाल करने लग जायँगे कि हम दूसरों के स्वराज्य के लिए क्यों लड़ें? इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि स्वराज्य आदि शब्द गोल-मोल अर्थों को बता के शोषकों का मतलब साधते हैं।

इसीलिए इनके मतलब की सफाई करने की जरूरत होती है, जैसा कि अभी-अभी नमूने के तौर पर हमने बताया है। यही सफाई, यही विश्लेषण हमें क्रान्ति की ओर ले जाते हैं। जब हमें जानकारी होने लगती है तो हम स्वराज्य के बारे में खोद-विनोद शुरू करते हैं और ऐसा करते-कराते ही क्रान्ति के असली अर्थ की ओर पहुँचते हैं।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जैसा स्वराज्य के मानी में केवल विदेशी या बेगाने लोगों की हुकूमत को हटाना मात्र बता के मालदार और उनके दोस्त अपना काम निकाल लेते हैं वह बात क्रान्ति के मानी में नहीं है। यहाँ तो साफ ही है कि पुराने शासन को उलट के उसकी जगह नया शासन बनाना होगा। इसीलिए शुरू से ही यह विचार करने का मौका आ जाता है कि वह नया शासन कैसा होगा। हम अपनी नादानी से इस बात का विचार चाहे भले ही न करें। मगर मौका तो इसका बराबर रहता ही है। यही एक खास खूबी है जिससे स्वराज्य के बदले क्रान्ति का प्रयोग हमारी दृष्टि से—शोषितों और पीड़ितों की नजर में—ज्यादा महत्त्व रखता है। इस महत्त्व को न जानने के कारण ही पुराने समय के—फ्रांस, इंगलैंड, अमेरिका, इटली आदि के—राष्ट्रविप्लव विफल हो गये हैं और वहाँ की कमानेवाली जनता वैसी-की-वैसी ही दुखिया आज भी बनी है।

हम आगे बढ़ने के पहले यह भी साफ कह देना चाहते हैं कि स्वराज्य और आजादी का मतलब सिर्फ यह नहीं है कि विदेशी शासन हटाया जाय और अपना कायम किया जाय। हकीकत तो यह है कि शासितों और शोषितों के लिए जो शासन बेगाना हो वही हटाया जाना चाहिए। फिर चाहे वह स्वदेशी हो या विदेशी। यही कारण है कि जहाँ अमेरिका से विदेशी (अँगरेजी) शासन हटा के वहाँ के लोगों का शासन कायम किया गया, तहाँ फ्रांस, इंगलैंड, चीन, रूस आदि देशों में स्वदेशी शासन ही हटाया गया और उसकी जगह नया शासन यन्त्र बना। क्योंकि फ्रांस का 16वाँ लुई, इंगलैंड का दूसरा जेम्स, चीन का मंचू वंश या रूस का जार स्वदेशी होने पर भी वहाँ के लोगों के लिए, जिनमें पूँजीपति भी शामिल थे, बिलकुल ही बेगाना था। वे शासक न तो पूँजीवादियों को आगे बढ़ने देने को तैयार थे और न किसानों, मजदूरों आदि को ही। यही कारण है कि सभी उनके विरोधी हो गये। केवल स्वेच्छाचारी जमींदार, तालुकेदार और छोटे-बड़े सामन्त लोग ही उन अत्याचारी शासकों के मददगार रह गये थे। वह भी इसीलिए कि उन शासकों के रहते उन्हें स्वेच्छाचार करने और लूट-खसोट का पूरा मौका था।

इन सभी बातों को खयाल में रख के अब हमें क्रान्ति के भेदों की ओर नजर दौड़ाना है और देखना है कि वह कितनी तरह की होती है। इस सम्बन्ध में सबसे पहले एंगेल्स के ही कथन की तरफ हमारा ध्यान जाता है, जो उसने सन् 1895 ई. में मार्क्स की किताब 'फ्रांस में वर्ग युद्ध' की भूमिका में जाहिर किया है। वह लिखता है—"अब तक जितनी क्रान्तियाँ हुई हैं, उनका नतीजा यही हुआ है कि एक खास वर्ग का शासन हटा के उसकी जगह वैसे ही दूसरे वर्ग का शासन कायम हो गया है। शासित जन-समूह के मुकाबिले में अब तक का शासक-वर्ग केवल अल्पमत में ही (अल्पसंख्यक ही) रहा है। इस तरह देखते हैं कि एक अल्पसंख्यक शासक वर्ग उठा फेंका गया और उसकी जगह शासन की बागडोर दूसरे अल्पसंख्यक वर्ग के हाथ में आ गयी, और उसने अपने स्वार्थों के अनुसार शासन के ढाँचे को बना



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिया। देश की आर्थिक व्यवस्था के विकास के अनुसार ही हर मौके पर एक नन्हे से गुट के हाथ में हुकूमत सौंपी गयी और उसने उसे हथिया भी लिया। इसीलिए, न कि किसी और वजह से, ऐसा होता रहा कि बहुत बड़ी तादाद वाले जो शासित लोग थे उनने या तो नये शासकों की ही तरफ से क्रान्ति में भाग लिया, या चुपचाप नयी परिस्थिति के सामने सिर झुका लिया। लेकिन अगर ऐसे हर मौकों की खास-खास बातों को हम खयाल में न लायें तो अब तक के सभी विप्लवों की समानता इस बात में पायी जाती है कि वे मुट्ठी भर लोगों के ही विप्लव थे। जहाँ इन क्रान्तियों में जनता के बहुमत ने भाग भी लिया वहाँ भी, जान में या अनजान में, उन मुट्ठी भर लोगों की मदद में ही ऐसा किया—उनके भाड़े के टट्टू का ही काम किया। लेकिन चाहे भाग लिया, या वे लोग यों ही चुपचाप टुकुर-टुकुर देखते रहे। इसका एक नतीजा यह हुआ कि नये शासकों का वह नन्हा-सा गुट समस्त जनता का प्रतिनिधि जैसा प्रतीत होने लगा।''

इस लम्बे अवतरण से साफ हो जाता है कि एक प्रकार की क्रान्ति, जो उन्नीसवीं सदी के अन्त तक होती रही है, अल्पमत या मुट्ठीभर लोगों की ही क्रान्ति कही जाती है। इसके विपरीत बीसवीं सदी में, जो रूस में क्रान्तियाँ हुई हैं सन् 1905 ई. से लेकर सन् 1917 ई. तक, और खासकर यह आखिरी, वे बहुमत या बहुसंख्य की क्रान्तियाँ कही जाती हैं। इस तरह अल्पमतक्रान्ति (minority revolution) और बहुमतक्रान्ति (majority revolution) के भेद से क्रान्ति दो तरह की होती है। रूस की क्रान्ति बहुमतक्रान्ति थी यह बात लेनिन ने जाने कितनी बार लिखी है। वह कहता है—

1. ''अगर क्रान्तिकारी पार्टी का मददगार और समर्थक, क्रान्तिकारी वर्गों के प्रगतिशील दलों का, बहुमत न हो और समूचे देश के प्रगतिशील लोग भी उसके साथ न हों तो क्रान्ति का प्रश्न उठी नहीं सकता है।''

2. ''श्रमजीवी श्रेणी के बहुमत के विचारों में, अगर क्रान्ति के पक्ष में, परिवर्तन न हुआ हो तो कोई क्रान्ति होई नहीं सकती। लेकिन आम लोगों के भीतर इस तरह के खयाल सिर्फ राजनीतिक अनुभव और जानकारी के ही करते होते हैं।''

3. ''यह तो बड़ी-से-बड़ी भूल होगी, यह जुर्म होगा कि जब तक श्रमजीवी वर्ग समूचा का समूचा—आम लोग,—साथ देने को तैयार न हो, या कम-से-कम विजय की शुभकामना न करे और दुश्मन का साथ किसी भी हालत में न देने के लिए बद्ध परिकर (कमर बन्द) न हो, उसके पहले ही नेता और पथदर्शक (अग्रदूत) क्रान्तिकारी युद्ध के मोर्चे पर चले जायँ। लेकिन सिर्फ आन्दोलन और प्रचार के ही बल पर हमें यह यकीन कभी भी नहीं कर लेनी चाहिए कि सबके-सब श्रमजीवी, कमानेवाली जनता का वह विराट् समूह, जिसका शोषण पूँजीवाद कर रहा है, हमारा साथ ख़ामखाह देंगे। यह बात तो तभी होगी जबकि जनता को राजनीतिक अनुभव



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के आधार पर इस बात की पूरी शिक्षा मिल जाय कि (क्रान्ति में साथ देने के सिवाय दूसरा चारा है नहीं)।''

4. ''साथ ही, यह बात भी है कि मजदूरों के अग्रसर दल में इस बात की योग्यता है कि वह कमानेवाले अपार जनसमूह में सबसे पहले आम श्रमजीवियों के साथ और उसी के साथ-साथ उनके अलावे कमानेवाले दूसरे सभी जनसमुदाय के साथ, अपने को संसर्ग में ला सकता है, उनसे घनिष्ठता स्थापित कर सकता है और कुछ हद तक उनके साथ घुल-मिल जा सकता है।''

एक जगह लेनिन और भी लिखता है कि ''सर्वहारा (मजदूर) वर्ग का जो एकतन्त्र शासन होगा वह एक नये ढंग का मजदूरों और अन्य शोषितों का प्रजातन्त्र शासन होगा। साथ ही पूँजीवादियों के विरुद्ध वह एक नये प्रकार का एकतन्त्र शासन होगा।''

स्तालिन ने 'लेनिनिज्म' में इस बात का स्पष्टीकरण यों किया है—''पूँजीवादी व्यवस्था में जो प्रजातन्त्र शासन होता है वह सिर्फ मुट्ठी भर शोषक पूँजीपतियों का ही प्रजातन्त्र होता है। उसमें बहुसंख्यक शोषितों के अधिकार छीन लिये जाते हैं, संकुचित कर दिये जाते हैं और यह शासन उन शासितों को दबाने के ही लिए होता है। सिर्फ श्रमिकों के एकतन्त्र शासन में ही शोषित जनता को सच्ची स्वतन्त्रता मिलती है और उसी के अन्दर किसान और मजदूर पूरी तौर पर मुल्क की हुकूमत में हिस्सा लेते हैं। श्रमजीवियों के एकतन्त्र शासन में जो जनतन्त्र शासन होता है वह पीड़ित और शोषित जनता की बहुत बड़ी तादाद का ही होता है। उसमें शोषकों के अधिकार संकुचित कर दिये जाते हैं और वह शासन उन शोषकों के दबाने के लिए होता है।''

अब तक जो उद्धरण हमने दिये हैं उनसे यह बात अच्छी तरह साफ हो जाती है कि बहुमत-क्रान्ति (Majority revolution) किसे कहते हैं। अल्पमत-क्रान्ति के ठीक उलटा इस क्रान्ति में शोषितों एवं पीड़ितों का बहुत बड़ा समूह न सिर्फ भाग लेता है, बल्कि जान-बूझकर उसकी सफलता के लिए हाथ बँटाता है। क्रान्ति की सफलता होने पर जो शासन कायम होता है उसमें भी किसान, मजदूर और अन्यान्य कमाने वाले सभी पूर्ण रूप से भाग लेते हैं—उन्हीं की आवाज वहाँ सुनाई पड़ती है। इस तरह किसी देश के निवासियों का जबर्दस्त बहुमत न सिर्फ इस क्रान्ति को सफल बनाता है, प्रत्युत उसका फल भी भोगता है। इसके उलटा अल्पमत-क्रान्ति में मुल्क के लोगों की यह लम्बी तादाद हिस्सा तो बँटाती है। मगर उसे ठीक-ठीक समझ नहीं पाती। उसके नेता उसे धोखा देते हैं। नेताओं की चालों को वह समझ सकती नहीं। इसीलिए क्रान्ति के बाद भी जनता दुखिया की दुखिया ही बनी रह जाती है। क्रान्ति का मजा लूटते हैं मुट्ठी भर मालदार और एकतन्त्र शासक। इसीलिए बहुमत क्रान्ति की पूरी सफलता के लिए बार-बार कहा गया है कि किसानों, मजदूरों, और दूसरे कमानेवालों के विचारों में ऐसा परिवर्तन हो जाना चाहिए कि वह उसके लिए तत्पर हो जायँ।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बहुमत-क्रान्ति की सफलता के सिलसिले में लिखते हुए, शोषित जनता के खयालों में किस तरह का परिवर्तन निहायत जरूरी है, यह बात लेनिन ने अपने 'वामपक्षी साम्यवाद—बच्चों की गड़बड़ी' (Leftwing Communism, an infantile disoder). में यों लिखा है, "हरेक क्रान्तियों ने और खास कर बीसवीं सदी वाली रूस की तीन क्रान्तियों ने जिस पर मुहर लगा दी है वही है हर क्रान्ति की सफलता के लिए बुनियादी तौर पर जरूरी नियम-कानून। वह ऐसा है। क्रान्ति की सफलता के लिए सिर्फ इतना ही काफी नहीं है कि शोषित एवं पीड़ित जनता यह बात समझ चुकी हो कि वह अब पुराने तरीके से काम चला नहीं सकती और इसीलिए वह उन तरीकों को बदलने की माँग पेश करे। यह तो चाहिए ही। मगर इसके लिए यह बात भी जरूरी है कि शोषकों और शासकों को भी मालूम हो जाय कि वे लोग पुरानी धाँधली अब मचाने न पायेंगे। क्रान्ति को तब तक सफलता मिल नहीं सकती जब तक ऐसी हालत न हो जाय कि नीचे के (शासित) वर्ग क्षण भर के लिए भी पुराने शासन को बर्दाश्त करने को तैयार न हों, और ऊपर के (शासक) वर्ग के लिए शासन करना गैर-मुमकिन हो जाय। इसका साफ मतलब यह है कि विप्लव की पूर्णता के लिए दो बातें अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। सबसे पहली बात यह है कि कमानेवालों का बहुमत, या कम से कम उनमें जो वर्ग-चेतना युक्त, समझदार और राजनीति में सक्रिय भाग लेने वाले हैं उनका बहुमत इस बात को पक्का-पक्की माने बैठा हो कि क्रान्ति के बिना अब काम नहीं चलने का। इसीलिए वह क्रान्ति की सफलता के लिए ख़ामखाह जान हथेली पर लिये कमरबन्द तैयार हो। दूसरी बात यह है कि शासक वर्ग के सामने शासन की उथल-पुथल का ऐसा बवण्डर खड़ा हो कि जनता का सबसे पिछड़ा और मुर्दा हिस्सा भी उसके चलते राजनीतिक क्षेत्र में खिंच जाय और इस तरह सरकार इतनी कमजोर बन जाय कि क्रान्ति का पहला ही धक्का उसे खत्म कर दे।"

यहाँ एक बात और भी विचारने की है। इस बहुमत क्रान्ति की तैयारी में जो यह कहा गया है—कि शोषित जनता का, कमानेवालों का बहुमत इस बात की अनिवार्यता को महसूस करने लगे, उसके लिए उतावला हो जाय, बाहरी क्रान्ति के पहले उसके खयाल में ही क्रान्ति हो जाय कि पुरानी हुकूमत और व्यवस्था को मटियामेट केर देना ही होगा—उसका यह मतलब हर्गिज नहीं है कि शोषित जनता का बहुमत इस बात की घोषणा कर देगा कि हम लोग मजदूरों के साथ हो के पुरानी शासन-प्रणाली और तन्मूलक शासन-व्यवस्था को मिटा देना चाहते हैं। यह बात तो बिना क्रान्ति के सफल हुए और पुरानी व्यवस्था तथा हुकूमत को चकनाचूर किये कथमपि सम्भव नहीं। जब तक पूँजीपतियों और जमींदारों का प्रभुत्व है और जब तक उनकी तरफ से दुम हिलानेवाले टटपुँजिये बाबुओं (petty-bourgeoisie) की चलती बनती रहती है तब तक यह बात होई कैसे सकती है? तब तक शोषित जनता को इतनी हिम्मत कहाँ कि घोषणा कर दे? अगर हिम्मत भी करे तो शोषक लोग तरह-तरह के दबाव



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और प्रचार से उसे रोक न देंगे? इसीलिए पूर्व में लिखे लेनिन के उद्धरणों में यह साफ लिखा गया है कि "कम-से-कम वर्ग-चेतना युक्त, समझदार और राजनीतिक क्षेत्र में काम करनेवाले श्रमजीवियों का बहुमत" इस बात को मानता हो। इसमें सभी शोषितों का जिक्र नहीं है। फिर भी खूबी यह है कि घोषणा करने की बात उनके बारे में नहीं कही गयी है। किन्तु वे इस बात को मानने लगें, यही कहा गया है। इसमें टटुपुँजिये बाबुओं वगैरह का नाम भी नहीं है। किन्तु काम करनेवालों, मजदूरों (Workers) का ही जिक्र है। इसके पहले भी श्रमजीवी जनता (Labouring masses, Those who labour) यही लिखा गया है।

इसी सम्बन्ध में यह भी जान लेना होगा कि जिन किसानों और मजदूरों के बहुमत की बात कही गयी है उनमें यह योग्यता होती है कि बाकियों को क्रान्ति के पक्ष में करें। क्योंकि वही तो समझदार और वर्ग-चेतना युक्त होते हैं। बाकियों पर इसीलिए वही असर डाल सकते हैं। हाँ, यह ठीक है कि जमींदारों और मालदारों को हटाने के लिए जब मजदूर क्रान्ति का झण्डा बुलन्द करेंगे उस समय बिचले तबकेवाले जो टटुपुँजिये या फटेहाल बाबू लोग हैं उनका असर ऐसा खत्म हो गया रहना चाहिए कि लोग उनकी भूलभुलैया में न पड़ सकें—उनका राजनीतिक दिवाला आम जनता की नजरों में निकल गया रहना चाहिए। श्रमजीवी जनता जब साफ-साफ समझ जाय कि ये बाबू किसी काम के नहीं हैं, इनसे हमारी तकलीफें दूर हो नहीं सकती हैं, तभी वह उनके भुलावे में पड़ नहीं सकती और तभी क्रान्ति की आखिरी लड़ाई छेड़ देना ठीक होता है। तभी यह हालत होती है कि जनता अगर किसी वजह से क्रान्ति का साथ न भी दे सके तो इतना तो जरूर है कि क्रान्ति के शत्रुओं का भी साथ तो नहीं ही देगी। इसी वात को लेनिन के पहले लिखे उद्धरण में एक स्थान पर कहा गया है कि "कम से कम विजय की शुभकामना करे और दुश्मन का साथ किसी भी हालत में न देने के लिए कमरबन्द हो"।

इस सिलसिले में लेनिन उसी पुस्तक में और भी कहता है कि "अन्तिम धावा बोलने का परिपक्व समय हम तभी मान सकते हैं—

1. जब कि हमारी विरोधी सभी ताकतें गड़बड़ घोटाले में पड़ी हों, अच्छी तरह परस्पर एक-दूसरे के साथ गुत्थमगुत्थे में फँसी हों और परस्पर की ऐसी लड़ाई में पड़ के उनने एक-दूसरे को काफी कमजोर कर दिया हो जिसके लिए उनके पास पहले से ही पूरी ताकत न थी;

2. जबकि सभी आगा-पीछा करनवाले (Vacillating) कमजोर और अविश्वसनीय दलों ने जो पूँजीपतियों और मजदूरों के मध्य में आ जाते हैं—जैसे कि टटुपुँजिये बाबू और पढ़े-लिखे लोग, जनता की नजरों में अपना असली रूप प्रकट कर दिया हो और अपने राजनीतिक दिवालियेपन का काफी सबूत दे दिया हो;

3. जबकि सर्वहारा-वर्ग में पूँजीपतियों के खिलाफ निश्चित रूप से जबर्दस्त



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और हिम्मत के साथ आखिरी क्रान्तिकारी मोर्चा लगाने के पक्ष में जबर्दस्त भावना उपजी और चारों ओर फैल गयी हो। वही क्रान्ति के लिए परिपक्व घड़ी मानी जानी चाहिए। अगर हमने पूर्व बतायी सभी शर्तों की पूरी पाबन्दी की हो और धावा बोलने की घड़ी ठीक-ठीक तजवीज की हो तो विजय निश्चित है''।

यहाँ सवाल उठता है कि अगर शोषित जनता के अग्रगामी दलों का बहुमत भी खुली घोषणा इस बारे में नहीं करेगा तो पता कैसे चलेगा कि वह क्रान्ति के पक्ष में है? यही जानकारी होने के लिए तो घोषणा की बात करते हैं। आखिर क्रान्ति का नेतृत्व करने वाले सर्वज्ञ तो हैं नहीं कि सभी के दिल-दिमाग की बात जान जायँ। और बिना जाने लड़ाई छेड़ने में खतरा ही है। तो फिर काम कैसे चलेगा?

असल में क्रान्ति का प्रश्न कुछ ऐसा पेचीदा है कि इसमें बहुमत का अपने पक्ष में निर्णय करना आसान है नहीं। यही कारण है कि रूस में जब लेनिन ने नवम्बर के शुरू में उसके लिए उपयुक्त समय पूर्वोक्त नियमानुसार ही ठहराया था तो उसके साथी ही राजी नहीं थे। वे मानते थे कि अभी वक्त नहीं आया है। आवश्यक बहुमत उनके साथ है इस बात को जहाँ लेनिन की सूक्ष्मदर्शी आँखें देख सकती थीं, तहाँ उसके साथियों को इसका पता ही न था। इसलिए उसे धमकाना पड़ा और अन्त में बोल्शेविक पार्टी की सेण्ट्रल कमिटी से इस्तीफा तक देने का सवाल उसने उठाया। तब कहीं जाकर नेता लोग लड़ाई छेड़ने को तैयार हुए। इसीलिए रूसी क्रान्ति का इतिहास लिखते हुए त्रात्स्की ने लिखा है कि ''जिस प्रकार और उत्पादक कामों के लिए स्फुरण शक्ति और अनुभव जरूरी है, ठीक उसी प्रकार क्रान्तिकारी नेतृत्व के लिए भी।''

इस सिलसिले में हम और कुछ न लिख के त्रात्स्की की ही उक्ति को जरा विस्तार से उद्धृत करते हैं। यह उक्ति बहुत ही मौजूं और सुन्दर है। 'रूसी क्रान्ति का इतिहास' (History of the Russian Revolution) नामक ऐतिहासिक पुस्तक में उसने एक खास प्रकरण क्रान्ति के ही विवेचन के लिए बनाया है। उसने उसमें मार्क्स के शब्दों में क्रान्ति को कला कहा है 'Insurrection is an art.' जैसे कला की बात सब नहीं जानते। उसे तो केवल कलाविद् ही जानता है। यह भी नहीं कि सभी लोग कलाकार हो जायँ। ऐसे तो विरले ही होते हैं। यही बात क्रान्ति के नेताओं के सम्बन्ध में भी लागू है। वे विरले ही होते हैं। क्योंकि जनता की मनोवृत्ति की परख सबको होती ही नहीं। त्रात्स्की लिखता है कि–

''उसके (सितम्बर-अक्टूबर के) बाद क्रान्ति के बारे में सफलता का विश्वास इसी से किया जा सकता था कि जनता के बहुमत पर इसके लिए भरोसा किया जा सकता था। लेकिन इसका मतलब बाकायदा राय लेने से हर्गिज न था। अगर क्रान्ति के बारे में बाकायदा राय ली जाती तो नतीजा बहुत ही संदिग्ध और परस्पर विरोधी होता। (क्योंकि दिल से विप्लव की सहायता के लिए मुस्तैद रहना और उसकी



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जरूरत के बारे में साफ-साफ बोलने-कहने की योग्यता—ये दोनों एक चीज हर्गिज नहीं हैं।) इसके सिवाय राय लेने में क्या जवाब मिलता इस बात का दारोमदार इस बात पर था कि सवाल किस तरह रखा गया, या किस संस्था के द्वारा मत लिया गया—या यों कहिये कि उस समय शासन की बागडोर किस वर्ग के हाथ में थी (क्योंकि शासन सूत्र का दबाव मतदाताओं पर पड़ता ही है)।

''लोगों की राय किस प्रकार जानी जाय इस बात के लिए कुछ सीमाएँ निर्धारित हैं। ट्रेन में चलनेवाले सभी मुसाफिरों से हम यह बात आसानी से पूछ सकते हैं कि वे किस गाड़ी में बैठना चाहते हैं। लेकिन जब ट्रेन खूब तेजी से चली जाती हो और एकाएक कोई खतरा सिर पर सवार हो जाय तो उस समय ट्रेन ठहराने की मशीन (ब्रेक) का इस्तेमाल करें या न करें, उनसे यह सवाल करना असम्भव है। अगर घटना से बचाने का काम ठीक वक्त पर और होशियारी से कर लिया जाय तो यह मान लेना होगा कि इस बारे में लोगों की सम्मति पहले से ही थी।

''पार्लिमेण्टरी (चुनाव की) प्रणाली को लोग एक निश्चित समय पर ही काम में लाते हैं। लेकिन क्रान्ति की तो यह हालत है कि विभिन्न दलों और तबकों के लोग एक के बाद दीगरे एक ही नतीजे पर पहुँचते हैं जरूर। मगर एक ही साथ नहीं। किन्तु बीच-बीच में समय का अन्तर देकर। गो वह अन्तर कभी-कभी बहुत ही थोड़ा होता है। ऐसा भी होता है कि जब अग्रसर दल लड़ाई छेड़ने के बारे में जल्दी करने के लिए उतावला रहता है, ठीक उसी समय पिछड़े हुए लोगों की इस पर सिर्फ नजर पड़ती है। पेट्रोग्राड और मास्को में जनता की सभी संस्थाओं का नेतृत्व पहले से ही बोल्शेविक पार्टी ही करती थी। लेकिन तम्बोफ प्रान्त में, जिसकी जनसंख्या तीस लाख से ज्यादा थी और पेट्रोग्राड तथा मास्को—दोनों—की सम्मिलित जनसंख्या से कुछी कम थी, सोवियत में पहले पहल बोलशेविकों का एक दल अक्टूबर वाली क्रान्ति के थोड़ा ही पहले कायम हुआ था।

''बाहरी दुनिया की घटनाओं में जैसी निश्चित क्रमबद्धता होती है कि एक के बाद दूसरी आती ही है वही बात लोगों के विचार परम्परा में हर्गिज नहीं होती, सो भी रोज-रोज। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि घटना चक्र के सिलसिले में जिस समय बहुत ही महत्त्वपूर्ण कदम बढ़ाने की बात रोकना असम्भव हो जाता है, ठीक उसी समय उसी बात के लिए लोगों से राय लेना गैर-मुमकिन रहता है। जनता के विभिन्न तबकों और दलों के विचार और उनकी मनोवृत्ति में जो पार्थक्य होता है वह तो काम के सिलसिले में खत्म हो जाता है (और सभी एक साथ हो जाते हैं)। जो दल प्रगतिशील है वही आगा-पीछा करनेवालों को काम के दौरान में अपने साथ घसीट लेता और इस प्रकार विरोधियों को अकेले छोड़ देता है। असल में बहुमत की गिनती नहीं होती है। वह तो अपने काम के बल से अपने पक्ष में कर लिया जाता है। क्रान्ति का अन्तिम कदम उसी समय उठाया जाता है जबकि परिस्थिति



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की उलझन को सुलझाने का और कोई उपाय होता ही नहीं।

"किसानों ने जमींदारों के विरुद्ध जो जेहाद बोल दिया था उसका आवश्यक राजनीतिक परिणाम क्या है यह बात समझने में वे लोग यद्यपि स्वयं असमर्थ थे। तथापि वे किसान क्रान्ति के लिए जो काम उस समय कर रहे थे उससे ही उनने शहरों में होनेवाली क्रान्ति पर मुहर लगा दी थी, उसकी पुकार मचा दी थी, और उसकी माँग पेश कर दी थी। वे इस सम्बन्ध की अपनी राय कागज के सफेद टुकड़ों के जरिये जाहिर करने के बजाय जमींदारियों में किये जानेवाले अग्निकांडों के जरिये ही जाहिर कर रहे थे और यह तरीका बहुत ही पक्का और मुस्तैदी का था। जिस सीमा के भीतर समाजवादी एकतन्त्र शासन की स्थापना के लिए किसानों की सम्मति जरूरी थी उस सीमा के भीतर वह सम्मति पहले से ही प्राप्त थी। जैसा कि लेनिन ने आगा-पीछा करनेवालों से भी कहा था कि "मजदूरों का एकतन्त्र शासन किसानों को जमीन और स्थानीय किसान-कमेटियों को पूरा अधिकार दे देगा। तब आप लोग ईमानदारी से इस बात में शक कैसे कर सकते हैं कि किसान लोग उस एकतन्त्र शासन का समर्थन न करेंगे? बोल्शेविकों के द्वारा शासन सूत्र हथियाये जाने की जरूरत इसीलिए थी कि फौजी सिपाही, किसान और सताये गये राष्ट्रों के जनसमूह, जो चुनाव के बर्फीले तूफान के बीच ठोकरें खा रहे थे, बोल्शेविकों के कामों से ही उनकी कीमत समझें।"

इस लम्बे उद्धरण ने यह बात खोल दी है कि बहुमत का क्या अर्थ है, वह कैसे प्राप्त किया जाता है। जो लोग जनता की जरूरतों और उसकी मनोवृत्ति को ठीक-ठीक समझते हैं, या यों कहिये कि लेनिन के पूर्व बताये आदेश के अनुसार जो बहुत अंशों में जनता में घुलमिल गये हैं और इसीलिए उसकी जरूरत और मनोवृत्ति को समझ पाते हैं; जो लोग मुल्क की घटनाओं और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं को और राजनीति को भी अच्छी तरह जानते हैं और उसका पूरा अध्ययन करते रहते हैं उन्हें फौरन पता लग जाता है कि जनता क्या चाहती है, उसके विचार कैसे हैं और वह कब किसके साथ होगी। वह यह भी जानते हैं कि कब कौन सा काम करने से जनता ख़ामखाह साथ देगी। इसीलिए त्रात्स्की ने लेनिन का वाक्य किसानों के बारे में, यही जनाने के लिए, उद्धृत किया है। लेनिन ने ठीक ही कहा है कि किसानों को जमीन की भूख है और हम उसे पूरा करेंगे ही। फिर वे हमारा साथ देंगे क्यों नहीं?

यह भी बात इस उद्धरण में है कि जनता की तो मूक सम्मति, या "कर दिखाऊँ" वाली बात ही ज्यादा काम की है। रूस के किसानों ने जमींदारियों की लूट-पाट करके और उनमें आग लगा के अमली तौर से यह साफ कह दिया था कि क्रान्ति का झण्डा बुलन्द करो। इस प्रकार इस काम के लिए उनने औरों को मजबूर किया। फिर सम्मति और चाहिए ही क्या?



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सबसे बड़ी बात यह है कि जनता का बहुमत चुनाव के जरिये जानना चाहे दूसरे कामों के लिए लाभदायक भले ही हो, मगर क्रान्ति के लिए तो कभी भी फायदेमन्द है नहीं। क्रान्ति में मदद मिलती है उसी बहुमत से जो चुनाव के जरिये न जाना जाकर अपने कामों के द्वारा प्राप्त किया जाता है—"is won over." इसीलिए अन्त में त्रात्स्की ने कहा है कि चुनाव के बवण्डर में धक्के खानेवालों को अपनी ओर करना बोल्शेविकों के लिए सिर्फ अमली तौर से, अपने कामों से ही, सम्भव और उचित था। जब शासनसूत्र वे अपने हाथ में ले लेते तभी तो पता चलता कि वे क्या करते हैं। तभी मालूम होता कि और दलों की तरह वे भी केवल ''कह सुनाऊँ'' वाले ही हैं, 'डपोरशंख ही' हैं, या कि ''कर दिखाऊँ'' वाले हैं। बाकी दलों और नेताओं से तो शोषित लोग ऊब ही चुके थे। इसीलिए बातों पर तो उन्हें किसी के विश्वास रही नहीं गया था। वे तो अब काम ही देखना चाहते थे और शासन की बागडोर हाथ में लेके ही बोल्शेविक उन लोगों को अपने कामों के द्वारा ही दिखा सकते थे, कि वे बात बनाने वाले न होकर सच्चे जनसेवक हैं। फिर तो बहुमत धरा हुआ था।

इससे यह भी सिद्ध है कि शुरू में ही सभी लोगों का बहुमत मिल नहीं सकता। वह तो क्रान्ति की सफलता के बाद ही मिलता है। हाँ, बहुमत अपना विरोधी तो ख़ामखाह नहीं ही रहना चाहिए। साथ ही, समझदार और वर्गचेतनायुक्त कमानेवालों (श्रमजीवियों) का बहुमत साथ में होना भी चाहिए, या कम से कम विरोधी नहीं होना चाहिए। इसीलिए तो कहा गया है कि जनता के अनेकों तबके धीरे-धीरे काम देख के ही आगे पीछे साथ देने के लिए चले ही आते हैं।

इसीलिए लेनिन ने ऐसे लोगों की हँसी उड़ायी है जो पहले से ही सोलहों आना बहुमत का निश्चय करके ही क्रान्ति की लड़ाई लड़ना चाहते हैं। लेनिन कहता है कि ऐसे लोग पक्के अवसरवादी और पूँजीवादियों के दलाल हैं। वह लिखता है—

''देखिये न, फटेहाल और पढ़े-लिखे बाबू लोग, (Social revolutionaries and Mensheviks) जो अपने आपको सोशलिस्ट कहते हैं, क्या फरमाते हैं? वे कहते हैं कि 'जब तक मजदूर दल का साथ देने की घोषणा किसी देश के निवासियों का बहुमत न कर दे' (खूबी तो यह कि वे ऐसी घोषणा तभी करवाना चाहते हैं जबकि व्यक्तिगत सम्पत्ति का बोलबाला ही है, जब तक पूँजीवाद गद्दीनशीन ही है और जब तक जनता उसी के नीचे पिस रही है !) 'तब तक बहुमत अपने हाथ में शासन ले नहीं सकता'।''

''लेकिन हमारा तो कहना है कि क्रान्तिकारी मजदूर पहले पूँजीवादियों को गर्दनियाँ दे के दूर करें, पूँजीवाद के जुए को तोड़ फेंके और पूँजीवादी शासन व्यवस्था को तहस नहस के दें। उसी के बाद विजयी मजदूर दल को मजदूरों से भिन्न श्रमजीवी जनता की सहानुभूति और सहायता फौरन ही मिल जायगी। क्योंकि तब उस जनता



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की जरूरतें शोषकों को दबा के पूरी की जा सकेंगी।"

"यदि मजदूर लोग देशवासियों के बहुमत को अपनी ओर करना चाहते हैं तो सबसे पहले उन्हें पूँजीपतियों को शासन से हटाना और उसका सूत्र खुद हथियाना पड़ेगा। फिर उन्हें सोवियत का अधिकार स्थापित करना और इस तरह पुराने शासन के ढाँचे को तोड़ के एक ही धक्के में पूँजीपतियों और वर्ग सामंजस्यवादी फटेहाल बाबुओं के उस प्रभाव के विरुद्ध असर डालना होगा, जिसे वे लोग मजदूरों के सिवाय अन्य कमाने वाले लोगों पर फैलाये रखते हैं। इसके बाद उनका तीसरा काम यह होगा कि उनके इस प्रभाव को जड़मूल से सदा के लिए मिटा दें। यह बात वह एक ही तरीके से कर सकते हैं यह और वह है कि शोषकों को मिटा के जनता की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति क्रान्तिकारी ढंग से कर दें।"

इससे साफ है कि यदि हम आम जनता को अपने पक्ष में करना चाहते हैं, क्योंकि समाजवाद के निर्माण के लिए यह जरूरी है, तो सबसे पहले समझदार श्रमजीवियों के बहुमत के बल से या कम से कम उनका विरोध हटाकर हम शासनसूत्र हथिया लें। उसके बाद सोवियत या पंचायती सरकार कायम करके उसके द्वारा विरोधियों की मोहनी के और उनके असर के विरुद्ध जनता में वायुमण्डल पैदा करें। अन्त में जनता की जरूरतों को पूरा करें, इसके लिए शोषकों के अधिकारों को छीन लें और इस प्रकार उनके असर को लोगों के ऊपर से सोलहों आने मिटा दें।

जो लोग बहुमत की घोषणा क्रान्ति की लड़ाई के शुरू करने के लिए अनिवार्य मानते हैं वह लोग होते हैं असल में पूँजीपतियों और मालदारों के दलाल ही। हालाँकि वे यह बात छिपाते हैं। फ्रांस वगैरह की क्रान्तियों में ऐसा देखा गया है कि मौजूदा शासनप्रणाली से ज्वलन्त घृणा, उसके प्रति तीव्र क्रोध और क्षोभ के करते मौका पाते ही एकाएक समूची जनता उबल पड़ती है और ऐसी हड़ताल, ऐसा प्रदर्शन और ऐसी मुठभेड़ हो जाती है कि पुराने शासक बम बोल जाते हैं। फिर तो नये गुरुघण्टाल शासक आसानी से उनकी जगह जा बैठते हैं। जनता की इस आकस्मिक उबाल को ही अँगरेजी में (spontaneous insurrection) कहते हैं। जनता आवेश में काम तो कर देती है। मगर उसका मतलब और नतीजा ठीक-ठीक समझ पाती नहीं। फलतः मालदारों के ही हाथ में हुकूमत जाती है और जनता दुखिया की दुखिया ही रह जाती है। इसलिए मालदारों के दलाल जब जनता के बहुमत की बात बोलते हैं तो उनका मतलब इसी अन्ध बहुमत से होता है—क्योंकि समझ-बूझ वाला बहुमत तो पूँजीवाद के रहते मुमकिन नहीं। इसीलिए त्रात्स्की ने इसके बारे में रूस के इतिहास में लिखा है कि—

"इतिहासकार और राजनीतिज्ञ लोग क्रातिन्कारी आकस्मिक उभाड़ नाम जनता के उस आन्दोलन को देते हैं जो पुराने शासन के विरुद्ध सार्वजनिक विद्रोह के फलस्वरूप संगठित रूप धारण के लेता है। लेकिन विजय के लिए जिस स्पष्ट लक्ष्यज्ञान, लड़ाई



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के निर्धारित उपाय, या विज्ञ नेतृत्व की आवश्यकता होती है वह उसमें नहीं रहती। इस क्रान्तिकारी उभाड़ को सनातनी इतिहास लेखक, और खासकर उनमें जो जनतन्त्र शासनवादी लोग होते हैं वे, अनिच्छित, पर अनिवार्य, बुराई के रूप में कबूल करते हैं और कहते हैं कि इसकी जवाबदेही पुरानी शासनप्रणाली के हीं माथे है। मगर उनके द्वारा उसके प्रति ऐसी रिआयत दिखाने में असली कारण यह होता है कि दरअसल ऐसी क्रान्ति पूँजीवादी शासन व्यवस्था के दायरे से बाहर जा ही नहीं सकती।''

ऐसी मनोवृत्ति वस्तुतः सोशल डेमोक्रेटिक पार्टियों के नेता और सदस्य ही दिखलाते हैं, जिन्हें रूस में मेनशेविक और सोशल रेवोल्यूशनरी कहा जाता था। इसके सम्बन्ध में तो उनने लम्बे-चौड़े मन्तव्य तैयार किये हैं और इस प्रकार अपनी असली कमजोरी को छिपाने की कोशिश उनने की है। यही कारण है कि लेनिन ने इसे पूँछ पकड़ के चलने का सिद्धान्त (tailism) कहा है और इसकी तीव्र आलोचना की है। स्तालिन ने भी 'लेनिनिज्म' में इस सिद्धान्त की बड़ी थुक्कम फजीती की है।

इस प्रकार जो कुछ हमने लिखा है उससे यह वात तो साफ हो जाती है कि क्रान्तियाँ दो तरह की मानी गयी हैं। जिन्हें अल्पमत क्रान्ति और बहुमत क्रान्ति कहते हैं। यही पुराना तरीका है क्रान्ति के ब्योरे के बारे में। अल्पमत क्रान्ति को ही पूँजीवादी क्रान्ति, बूर्ज्वा क्रान्ति और जनतन्त्रवादी क्रान्ति भी कहते हैं। इसी प्रकार बहुमत क्रान्ति को ही सर्वहारा क्रान्ति, मजदूर क्रान्ति और समाजवादी क्रान्ति के नामों से भी पुकारते हैं। मगर इन सबों के बारे में कुछ विशेष विवरण देना जरूरी है; क्योंकि अब यही प्रचलित नाम है। इनमें किनका कौन-सा स्थान है, इन सबों की जरूरत क्या है आदि बातें जानना भी जरूरी है।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# पूँजीवादी क्रान्ति और सर्वहारा क्रान्ति

## 1

अब तक के विवेचन से यह बात साफ नहीं होती कि किस दशा में कौन-सी क्रान्ति की जरूरत होती है। यह भी पता नहीं चलता कि आया सभी क्रान्तियों की कभी न कभी जरूरत होती है, या कि इनमें किसी खास से ही काम चल जाता है। यह मामला इतना गहन और पेचीदा है कि थोड़ा लिखने से समझ में आता नहीं। इसका तो विस्तृत विवेचन किये बिना काम चली नहीं सकता। आमतौर से राजनीति के जो नये विद्यार्थी हैं वह तो घोर जंगल में फँस के राह भटक से जाते हैं और उन्हें कुछ पता चलता ही नहीं कि दरअसल बात क्या है। और जब इस बात की सफाई हुई ही नहीं तो आगे बढ़ने का सवाल ही कहाँ रहा? इसीलिए और आगे जाने के पहले कुछ खास बातें जान लेना जरूरी है।

अंगरेजी में जिसे बूर्च्वा रेवोल्यूशन, डेमोक्रेटिक रेवोल्यूशन, बूर्च्वा डेमोक्रेटिक रेवोल्यूशन और अग्रेरियन रेवोल्यूशन कहते हैं उसे ही पूँजीवादी क्रान्ति, जनतन्त्र या गणतन्त्र क्रान्ति, पूँजीवादी जनतन्त्र क्रान्ति और किसान क्रान्ति नाम दिया गया है। बूर्च्वा कहते हैं सम्पत्तिजीवी या पूँजीवादी को, पूँजीपति को। डेमोक्रेसी के मानी हैं जनतन्त्र या गणतन्त्र शासन—यानी लोगों की राय से चलनेवाली हुकूमत (अग्रेरियन का मतलब है कृषि या खेत, जमीन या किसानों से ताल्लुक रखनेवाली) इस प्रकार इन नामों के देखने से इतना तो जाहिर होई जाता है कि इस क्रान्ति में पूँजीवादियों की आवाज रहती है—उनका स्वार्थ इससे सिद्ध होता है। या यों कहिये कि वस्तुओं के पैदा करने, बनाने और बेचने का—खरीद-बिक्री और उत्पादन का—तरीका इस क्रान्ति के फलस्वरूप वही होता है जो पूँजीपतियों का होता है। साथ ही, शासन में शासितों की राय ली जाती है, यह बात भी स्पष्ट हो जाती है। इस क्रान्ति में किसानों का जमीन सम्बन्धी सवाल भी हल होता है यह भी जान पड़ता है। उन्हें जमीनें मिल जाती हैं और उनकी दूसरी माँगें पूरी होती हैं।

इसी प्रकार अँगरेजी में जिसे प्रोल्तारियन या सोशलिस्ट रेवोल्यूशन कहते हैं



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसी का नाम सर्वहारा क्रान्ति है। प्रोल्तारियत (Proletoriat) कहते हैं सर्वहारा को। सर्वहारा के मानी हैं जिसका सब कुछ खत्म हो गया है, जो सब कुछ छिनवा या गँवा चुका है। जो मजदूर कल-कारखानों में, रेल वगैरह में या कोयले वगैरह की खानों में काम करते हैं, मगर जिनके पास सिवाय अपने शरीर या श्रमशक्ति के या स्त्री-बच्चों के और कोई सम्पत्ति नहीं रह गयी है, वही सर्वहारा कहे जाते हैं। न तो उनके रहने का अपना मकान या झोंपड़ा होता है, न इंच भर जमीन होती है, न कोई औजार-हथियार होते हैं और न कोई पूँजी होती है। किन्तु अगर कमाएँ तो खाएँ, नहीं तो भूखों मरें, किराये के मकानों से भी हटा दिए जायँ, या मिलवाले अपने मकानों से जिन्हें जब चाहें हटा दें, जिनकी नौकरी का भी ठिकाना नहीं होता कि कब तक रहेगी और कब छिन जायगी, पूँजीपति जब चाहें जिन्हें जवाब दे दें, वही दरअसल सर्वहारा कहे जाते हैं। उनको तनख्वाह भी जो मिलती है उसे रोजाना तनख्वाह (daily wage) कहते हैं। वह प्रतिदिन, प्रति सप्ताह, प्रति पखवारा या प्रति मास भी मिलती रहती है, जैसा कि कारखानों वालों को अनुकूल हो। उनकी तनख्वाहें भी मामूली होती हैं। असल में तनख्वाह या वेतन या पारिश्रमिक की जगह अँगरेजी में वेज (wage) और सैलरी (salary) शब्द आते हैं। इनमें दूसरा शब्द तो निश्चित वेतन को कहता है। मगर वेज का अर्थ है अनिश्चित वेतन। आम तौर से यही मानी लगाया जाता है। यों तो अकसर दोनों शब्द एक ही मानी में बोले जाते हैं। इसलिए 'वेज' पानेवाला ही प्रायः प्रोल्तारियत या सर्वहारा कहा जाता है। ऐसे लोग ज्यादातर शारीरिक काम ही करते हैं। यों तो प्रोल्तारियत का जो अर्थ बताया है उसमें दिमागी काम करनेवाले आ ही जाते हैं।

असल में सैलरी पानेवालों की खास ढंग की वर्दी (uniform) भी काम के अनुसार ही रहती है। मगर 'वेज' वालों की यह बात नहीं होती। इसीलिए सैलरी पानेवाले लोग बाबू भी कहे जाते हैं। वह लोग टटपुँजिये बाबू दल (petty bourgeois) में आ जाते हैं। उनके कामों की प्रतिष्ठा भी होती है। मगर कोयला काटने, इंजन चलाने, मिल में सूत कातने और कपड़ा बुनने वालों को कौन पूछता है? यही कारण है कि बाबू लोग प्रोल्तारियत के भीतर आने पर भी अपना एक अलग ही दल समझते हैं। कपड़ा-लत्ता साफ है; मकान भी जरा साफ-सुथरा है; वर्दी भी तड़क-भड़क वाली है। तब अपनी एक अलग जाति—अपना अलग वर्ग—क्यों न मानें? ऑफिसों के अर्दली लोग भी चमकीली वर्दी पहनने और साइकिल वगैरह पर चलने के बाद अपने को साधारण मजदूरों से अलग ही समझते हैं। उनके भीतर भी शान आ जाती है। फिर बाबुओं का कहना ही क्या? मगर मैला कुचैला कपड़ा पहननेवाले कुलियों और ड्राइवर वगैरह की तो यह बात होती नहीं। उनमें न तो शान है और न वे अपने को मजदूरों से जुदा मानी सकते हैं।

जो लोग कभी कल-कारखानों में काम करते और कभी घर रहते या खेती



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बारी करते हैं वे मजदूर तो हैं। मगर उन्हें सर्वहारा नहीं कहते। वे अर्द्ध सर्वहारा (Semi-proletariat) भले ही कहे जाते हैं। खेती के मजदूर या मिहनत करके जैसे-तैसे गुजर करनेवाले गरीब किसान भी अर्द्ध मजदूर (अर्द्ध सर्वहारा) कहे जाते हैं। हाँ, जो घर-बार के बिना होने पर भी भीख माँगते या चोरी वगैरह से गुजर करते हैं वे भी प्रोल्तारियत या सर्वहारा न हो के लम्पन प्रोल्तारियत (Lumpen-proletariat) कहे जाते हैं। क्योंकि वे अपनी श्रमशक्ति (मिहनत करने की ताकत) पैसे के लिए बेचते नहीं। मगर प्रोल्तारियत तो बेचते हैं। सर्वहारा श्रेणी का सबसे बड़ा कष्ट यह होता है कि उसकी नौकरी का—जीविका का—कोई निश्चय नहीं रहता है। आज है, कल छिन गयी। अभी है, दूसरे क्षण में छिन गयी। उनके काम की इज्जत भी नहीं की जाती है, हालाँकि दरअसल लोगों के आराम की चीजें वही लोग मर-खप के तैयार करते हैं। यही कारण है कि सर्वहारा भीतर-ही-भीतर वर्तमान समाज, सामाजिक व्यवस्था और सरकारी कायदे-कानून से जलता और कुढ़ता रहता है। वह चाहता है कि इसे कब खत्म कर दें—मिटा दें—जहन्नुम में पहुँचा दें।

इसीलिए असली क्रान्तिकारी वही होता है। उलटफेर और बुनियादी रद्दोबदल से उसका कुछ बिगड़नेवाला तो रहता नहीं। उसके पास हई क्या जो नष्ट होगा? हाँ, उसकी गरीबी, गुलामी, भूख, बीमारी आदि आपदायें बची जरूर हैं—उसकी बेड़ियाँ और जंजीरें ही तो रह गयी हैं ! वही खत्म होंगी। लेकिन यह तो वह चाहता ही है। इसीलिए कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो के अन्त में मार्क्स ने लिखा है कि "सर्वहारा लोगों के पास है ही क्या जो गँवाया जायगा सिवाय (पराधीनता और मुसीबत की) जंजीरों के? हाँ, उनके जीतने के लिए तो सारी चीजें हैं, दुनिया है।" फिर उन्हें क्रान्ति के लिए उतावलापन न हो के हिचक क्यों हो? वे तो ख़ामखाह क्रान्ति का स्वागत करने को सदा तैयार रहेंगे ही।

हाँ, किसानों, कलाकारों, दस्तकारीवालों, दुकानदारों या इसी तरह के दूसरे लोगों के पास, जो निम्न-मध्यम श्रेणीवाले (petty bourgeoisie) कहाते हैं, थोड़ी बहुत सम्पत्ति रहती है। और नहीं तो एक झोंपड़ा और उसके इर्द-गिर्द की जमीन ही रहती है। इसीलिए उन्हें हमेशा यह डर बना रहता है कि कहीं यही गायब न हो जाय। वे हमेशा अपनी नन्ही-सी सम्पत्ति बचाने की फिक्र में रहते हैं। उन्हें वर्तमान की चिन्ता नहीं है। किन्तु भविष्य की। भविष्य में, अगले क्षण में, आज ही, या कल, परसों, जानें कब वह सम्पत्ति चौपट हो जाय, वह खेत और झोंपड़ा, दुकान वगैरह खत्म हो जायँ, इसीलिए वे परेशान रहते हैं। उनके लिए भविष्य अन्धकारमय है, किन्तु वर्तमान वैसा नहीं है। उन्हें भविष्य की चिन्ता जितनी है उतनी वर्तमान की नहीं। इसीलिए वे दकियानूस और क्रान्ति विरोधी हैं। बल्कि वे तो चाहते हैं कि जो बड़े-बड़े खेत (फार्म) बन गये हैं और बड़े-बड़े कारखाने खुल गये हैं वह सब-के-सब टूट जायँ और उनकी जगह पर फिर छोटे-छोटे खेत और कारखाने बन जायँ। वह



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बीते जमाने को फिर वापस लाना चाहते हैं। इसीलिए वे प्रतिक्रान्तिवादी हैं।

लेकिन सर्वहारा तो वर्तमान की ही चिन्ता रखता है। उसके लिए भविष्य तो प्रकाशमय है। वह वर्तमान को ही मिटाना चाहता है। वह पुराने जमाने को—भूत को—लाना भी नहीं चाहता है। वह बड़े-बड़े कारखानों और खेतों को मिटाने के बजाय उनकी और तरक्की चाहता है। सारांश, जहाँ किसान वगैरह भूत और भविष्य की ही तरफ नजर रखते, फिक्र रखते हैं तहाँ सर्वहारा भूत को भूलकर केवल वर्तमान की चिन्ता करता है। उसे भविष्य के लिए खुशी ही खुशी है। इसीलिए मैनिफेस्टो में मार्क्स कहता है कि—

"पूँजीवादियों के विरोधी जितने वर्ग हैं उनमें केवल सर्वहारा ही सचमुच क्रान्तिकारी वर्ग है। मौजूदा उद्योग-धन्धों के चलते बाकी सभी वर्ग धीरे-धीरे मिटते-मिटाते अन्त में सर्वथा विलुप्त हो जाते हैं। लेकिन सर्वहारा-वर्ग तो पूँजीवाद और इन कल-कारखानों की खास और अनिवार्य उपज है, देन है।"

"निम्न-मध्यम श्रेणीवाले, छोटे मोटे कारखानेदार, दुकानदार, दस्तकार, किसान—ये सभी पूँजीपतियों से सिर्फ इसीलिए लड़ते हैं कि मध्यम वर्ग के अंग (भाग) की हैसियत से खुद कायम रह जायँ और उनकी हस्ती मिट न जाय। इसीलिए वे लोग क्रान्तिकारी नहीं हैं, किन्तु दकियानूस और पुराणपंथी हैं। इतना ही नहीं, वे तो क्रान्तिविरोधी या प्रतिगामी हैं। क्योंकि वे ऐतिहासिक चक्र को पीछे घसीटना चाहते हैं। और अगर संयोग से कभी वे क्रान्तिकारी बन जाते हैं तो सिर्फ इसीलिए कि उन्हें खतरा है कि कहीं वे भी सर्वहारा न बन जायँ। इससे साफ है कि वे अपने वर्तमान की रक्षा न करके भविष्य की ही करते हैं। और अगर वे अपने को सर्वहारा के स्थान में कभी रखना चाहते हैं तो उन्हें अपने दृष्टिकोण को छोड़ना पड़ता है।"

बात असल यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था में जब-जब बड़े कारखाने खुलते हैं तो उनमें बननेवाला माल ख़ामखाह संस्ता पड़ता है। इसलिए छोटे-मोटे कारखानों या दस्तकारी के माल महँगे होने के कारण बाजार में खप नहीं सकते। अगर बनाने वाले ख़ामखाह खपायें तो घाटा पड़ता है। फलतः हर हालत में ऐसे कारखाने बन्द हो जाते हैं और दस्तकारी जाती रहती है। एक कपड़े का ही दृष्टान्त काफी है। यों तो आटा, तेल, चीनी, आदि की मिलों ने भी पुराने ढंग की चक्कियों, तेली के कोल्हुओं और चीनी के कारखानों को खत्म कर ही दिया। यही बात दूसरों पर भी लागू है। इन चीजों के बेचनेवाले दुकानदार भी इसी से दिवालिये हो जाते हैं। अब तो छोटी-बड़ी सभी चीजों का सामूहिक उत्पादन ही होता है। फिर छोटे डटें तो कैसे? इसीलिए भिखमंगे और मजदूर बन जाते हैं। यही कारण है कि पूँजीवादियों के घोर शत्रु वे लोग होते हैं।

उनमें काम करनेवालों और जीविका चलानेवालों में कुछ को तो बड़े कारखानों में काम मिलता है। शेष बेकार होकर मारे-मारे फिरते हैं। बड़े-बड़े कारखानों में भी



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

धीरे-धीरे हर काम के लिए आदमी के बजाय मशीनें बनने लगती हैं। फलतः आदमियों की जरूरत कम होने लगती है। ऐसी भी तरकीब निकलती है कि सैकड़ों आदमियों का काम एकी-दो कर डालते हैं, जिससे बाकी बेकार हो जाते हैं। फिर तो ये सभी बड़े-बड़े मिलवालों को ही अपना शत्रु समझते हैं। तेली के हजारों कोल्हुओं को मिटा के एक तेल की मिल बनती है। तब वे हजार तेली और उनके आश्रित लोग उन मिलवालों को कोसें नहीं, तो क्या आशीर्वाद दें?

इस प्रकार जितने लोग बेकार हो जाते हैं उनकी कुछ आदत ही ऐसी होती है कि गैरों के यहाँ मजदूरी करने में हिचकते हैं। यह बात उनकी शान में बट्टा जो लाती है। मगर जीवन-यापन का जो साधन उनके पास था वह तो है नहीं। इसलिए मजबूर भी रहते हैं। बड़े फार्मों के करते नन्हे-नन्हे खेतवाले किसानों का भी दिवाला हो जाता है। क्योंकि उनकी पैदा की हुई चीजें नीचे दर्जे की और महँगी पड़ती हैं। फिर वे करें तो क्या करें? वे या पहले कहे गये लोग मालदार तो थे नहीं। केवल गुजर कर लेते थे। अत्यन्त गरीबों और बड़े मालदारों के बीच में ही वे लोग पहले भी थे। यही खाते-पीते लोग कहे जाते थे। आज भी वे सर्वहारा और पूँजीवादियों के बीच में त्रिशंकु या चिमगादड़ की तरह लटके पड़े हैं। न इधर के और न उधर के हैं ! उन पर दोनों ओर से धक्के लगते हैं। कभी इधर खिंच जाते हैं, कभी उधर ! बराबर सोचते रहते हैं कि इन पूँजीवादियों का नाश हो ताकि फिर वही छोटे-छोटे खेत, वही दस्तकारी, वही टटुपुँजिये कल-पुर्जे चालू हों। वे बेचारे इतनी समझ तो रखते नहीं कि अब यह चीजें होने की नहीं। अगर उनमें कोई यह समझते हैं भी, तो पुरानी आदत, पुराने संस्कारों और पुरानी रहन से मजबूर होकर पुरानी ही बातें सोचते रहते हैं।

सर्वहारा (proletariat) और पूँजीवादी (bourgeoisie) के बीचवाले ये लोग ही टटुपुँजिये या फटेहाल बाबू, पेट्टी बूर्ज्वा क्लास के (petty-bourgeoisie) बाबू आज की भाषा में कहे जाते हैं। पहले के बताये ऑफिसरों के अर्दली, क्लर्क, किरानी वगैरह तथा वकील, बैरिस्टर, डॉक्टर, वैद्य, हकीम, प्रोफेसर, अध्यापक, सैकड़ों प्रकार के एजेण्ट वगैरह भी इसी दल में शामिल हैं। इनका स्वभाव ऐसा होता है कि ऊपर की ओर, पूँजीवादी मालदारों की तरफ ही देखें। मगर जब सर्वहारा-वर्ग क्रान्तिकारी भावना से भरा होता है या कम-से-कम उसका अग्रदूत (Vanguard) हर तरह से क्रान्ति की सफलता के लिए तैयार रहता है—क्योंकि क्रान्ति की सफलता का दारोमदार उसी अग्रदूत पर ही होता है; वही अपने त्याग, अपनी लगन, अपनी धुन, अपनी वर्ग चेतना के बल से बाकियों को अपनी ओर खींचता है—तो उसके दबाव से ये लोग धनियों का साथ छोड़ देते हैं और सर्वहारा के साथ जा मिलते हैं। और ज्यों ही सर्वहारा में ठण्डक आती है, त्यों ही धनियों की ओर ही झुकते और दुम हिलाते हैं। खूबी तो यह कि जिधर ये जाते हैं उधर ही औरों को भी घसीटते हैं; क्योंकि पढ़े-लिखे



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होने के कारण इनमें बातें बनाने और सच-झूठ प्रचार की बड़ी ताकत होती है। साथ ही, ये बड़े ही बुजदिल और कमजोर होते हैं। इनके बारे में लेनिन ने लिखा है कि—

"पूँजीपतियों शोषकों के पिछलग्गू बन के निम्न-मध्यम वर्गवाला जनसमूह चलने लगता है। क्योंकि सभी देशों के अनुभव से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि देशवासियों के इस भाग (निम्न-मध्यम वर्ग) में मजबूती (साबित कदमी) तो होती ही नहीं। कभी तो ये लोग सर्वहारा-वर्ग के साथ चलते हैं। लेकिन ज्यों ही क्रान्ति के काम में कठिनाइयाँ पेश हुईं और सर्वहारा को जरा भी रुकावट हुई कि ये लोग आतंकग्रस्त हो जाते हैं, मारे डर के बदहवास हो जाते हैं, इन्हें सूझता ही नहीं कि कहाँ जायँ और बुजदिलों की तरह छाती पीटते हुए कभी इधर, तो कभी उधर भागते फिरते हैं !"

यह चित्रण कितना सुन्दर है ! ऐसा तो नहीं, मगर इसी तरह का कुछ महत्त्वपूर्ण पर विरतृत वर्णन त्रात्स्की ने भी अपने रूसी क्रान्ति के इतिहास में दिया है। वह लिखता है कि—

"किसी देश की जनसंख्या सिर्फ सर्वहारा और भारी मालदार—इन्हीं दो—श्रेणियों में बँटी नहीं होती। इन दोनों के बीच में बड़े-बड़े दल फटेहाल बाबुओं के होते हैं जिनमें राजनीतिक और आर्थिक इन्द्रधनुष के सभी रंग पाये जाते हैं। इन्हीं बीचवाले दलों को जो निराशा मौजूदा शासक वर्ग नीति के प्रति होती है, उनमें जो असन्तोष और जलन होती है और इस प्रकार सर्वहारा-वर्ग के द्वारा किये जानेवाले हिम्मतवर इनकिलाबी कामों के समर्थन की जो मुस्तैदी इनमें पायी जाती है, वही है क्रान्ति की तीसरी राजनीतिक बुनियाद। यह बुनियाद कुछ अंशों में तो अक्रिय होती है, जहाँ तब इसका ताल्लुक इन निम्न-मध्यम वर्गीय बाबुओं के ऊपरी तबकों को तटस्थ बना देने तक है। लेकिन अंशतः यह सक्रिय भी होती है। क्योंकि इसके चलते इसके नीचेवाले तबके मजदूरों के साथ-साथ क्रान्तिकारी युद्ध में सीधे कूद पड़ते हैं।

"यह तो साफ ही है कि ये तीनों राजनीतिक बुनियादें एक-दूसरे पर असर डालती हैं। जितने विश्वास और निश्चय के साथ मजदूर दल काम करेगा उतनी ही अच्छी तरह बीच के दलों को अपनी ओर खींचने में इसे सफलता मिलेगी, उतना ही अधिक शासक वर्ग तनहा और अकेला पड़ जायगा और उतना ही ज्यादा उस शासक दल के भीतर पस्ती आयेगी। विपरीत इसके यदि शासकों में ही पस्ती आ गयी तो उससे क्रान्तिकारी वर्ग के काम में और भी उत्तेजना मिलेगी।"

"निम्न-मध्यम श्रेणी की मनोवृति ही क्रान्ति की बुनियादों में सबसे कम टिकाऊ चीज है। राष्ट्रीय उथल-पुथल के समय यह दल उसी वर्ग के पीछे चलता है न सिर्फ जिसकी बातों में, बल्कि कामों में इसे यकीन हो जाता है। यह ठीक है कि इस वर्ग में भावुकतापूर्ण उत्साह और कभी-कभी क्रान्तिकारी क्रोध भी होता है। मगर इसमें मुस्तैदी नहीं पायी जाती, जरा-सी प्रतिकूलता (हार) होने पर चटपट यह पस्त हो जाता है और इस प्रकार बहुत बड़ी आशा से एकाएक निराशा (निरुत्साह) में पड़ जाता



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। और इस वर्ग की मनोवृत्ति में तेजी के साथ होनेवाले कटु परिवर्तन अपनी कमजोरी का असर समूचे क्रान्तिकारी वायुमण्डल में फैलाते हैं। अगर सर्वहारा दल की पार्टी (अर्थात् उस वर्ग के चुने-चुनाये लोगों से बना हुआ अग्रदूत या वानगार्ड) पहले से ही इस कदर निश्चित नहीं है कि आम जनता की आशा-आकांक्षाओं को ठीक मौके पर क्रान्तिकारी रूप दे सके, तो उत्साह की लहर ऊपर जाने के बजाय नीचे जा गिरती है। फलतः बीच वाले दल (मध्यवर्गी दल) अपनी नजर क्रान्ति से फेर लेते और उसके विरोधियों की ओर अपने उद्धार के लिए ताकने लगते हैं। और ठीक जिस प्रकार बढ़ती हुई उमंग की लहरों के समय मजदूर दल के साथ मध्यवर्गीय बाबू खिंच आते हैं, उसी तरह उमंग मिट जाने के समय मध्यम दल वाले ही उलटे मजदूरों के ही एक खासे हिस्से को अपनी तरफ खींच लेते हैं। गत युद्ध के बाद यूरोप में जगह-जगह जो कभी साम्यवाद और कभी फासिस्टवाद की लहर दीख पड़ती है उसका यही रहस्य है।"

कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो के उद्धरण में यह भी कहा गया है कि एक सर्वहारा ही पूँजीवाद की खास और बुनियादी देन और उपज है। दूसरे वर्ग तो धीरे-धीरे मिटते जाकर खत्म हो जाते हैं। मिटने की बात बता ही चुके हैं। बीचवाले दलों का शायद ही एकाध आदमी कभी-कभी, बड़ी दिक्कत और मिहनत के बाद पूँजीपति दल में जा मिलता होगा। मगर अधिकांश तो भिखमंगे और मजदूर ही बनते हैं। मजबूरी जो ठहरी। इस प्रकार जो दल खुद पूँजीवाद के धक्के से धराशायी हो जाता है, खत्म हो जाता है, वह उससे क्या लड़ेगा? जिसकी कब्र पर ही उसका महल खड़ा होता है वह भला लड़ेगा उसी से? जिसे मार कर ही वह फलता-फूलता है वह उसके सामने क्योंकर टिक सकेगा?

मगर मजदूर या सर्वहारा-वर्ग तो ख़ामखाह उससे भिड़ेगा। क्योंकि पूँजीवाद के फलने-फूलने के लिए वही बुनियाद है। उसके बिना कल-कारखाने चलेंगे कैसे? पूँजीपति तो अपने हाथों उन्हें चला नहीं सकता। मिस्त्री, इंजिन-ड्राइवर, खलासी वगैरह का काम मालिक कैसे करेगा? उसके लिए तो यह असम्भव बात है। और जब एक-एक मिल में हजारों हजार मजदूर काम करते हैं तभी वह चालू रहती है, तो हजार कोशिश के बाद भी मिलवाला उसे अकेला ही कैसे चला सकेगा, अगर मजदूर जवाब दे दें? यही तो पूँजीपति की मजबूरी है और इसी में मजदूरों के लिए उम्मीद है।

यह भी बात है कि पूँजीवाले सर्वहारा को बराबर ही परेशान करते रहते हैं। यही नहीं कि उसकी नौकरी का ठिकाना नहीं रहता कि कब खत्म हो जाय, या उसकी कोई इज्जत नहीं रहती। सबसे बड़ी विपदा तो उसके लिए यह है कि पूँजीपति हमेशा इसी कोशिश में रहते हैं कि उसकी तनख्वाह या मजदूरी कैसे कम की जाय। यह भी नहीं कि कमी की कोई सीमा हो कि उसके आगे मजदूरी न घटेगी। वह तो बराबर घटती ही जाती है। कहने के लिए तो यह सिद्धान्त माना जाता है, और



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किताबों में भी लिखा गया है, कि कम से कम इतनी मजदूरी तो उसे मिलनी ही चाहिए जिससे उसकी श्रमशक्ति बनी रहे और बाल-बच्चे भी पैदा कर सके। ताकि उसके बुढ़ापे में या मरने पर उसका लड़का काम कर सके और मजदूरों की कमी न हो जाय। मगर व्यवहार में यह बात नहीं आती। मालदार को इसकी परवाह नहीं कि वह मरेगा या जिन्दा रहेगा। आज तो इतने लोग मारे फिरते हैं कि एक के हटने पर दस पहुँचते हैं। वे पहले मजदूर की अपेक्षा कम मजदूरी पर ही तैयार भी हो जाते हैं। इतने पर भी चढ़ा बढ़ी रहती है कि हमें रख लो, हमें रख लो। यह तो नर्क और मौत की जिन्दगी है।

यदि मजदूरी घटाने में कोई लाज-शर्म हुई या और ही अड़चन दिखी, तो काम के घण्टे ही बढ़ा दिये गये और हुक्म हुआ कि 8 के बजाय 10 घण्टे काम करना होगा। यह भी मजदूरी का घटाना ही है। मगर यह नयी हिकमत है। ऐसा भी होता है कि नये ढंग की मशीनें मँगा के एक ही मजदूर के जिम्मे इतना काम सौंपा जाता है कि वह पलक मार नहीं सकता। नहीं तो काम ही चौपट हो जाय। उसकी नजर बराबर मशीन पर ही रहती है। फलतः उसका दिमाग रोज-रोज की इस सख्त दिमागी मिहनत के चलते बावला-सा बन जाता है। उसके अंग-अंग टूटते रहते हैं। वह खुद मशीन-सा बन जाता है। यह तीसरा तरीका उसके खून पीने का निकला है। चौथी बात यह है कि मशीनों की तरक्की इतनी हो गयी और हो रही है कि मर्दों की जगह औरतों, लड़कियों और लड़कों से ही काम ज्यादातर लेते हैं। यह बात बढ़ती जाती है। इसमें तनख्वाह कम जो देनी पड़ती है। फलतः मर्द बेकार हो के औरत-बच्चों की कमाई पर गुजर करते हैं ! उधर औरतों और बच्चे-बच्चियों का स्वास्थ्य चौपट हो जाता है। वह सभी कम उम्र में ही रोगी और मौत के शिकार हो जाते हैं !

और जब ऐसा होता है तो भला औरत को मर्द के साथ मुहब्बत क्या होगी, या बच्चे को बाप के साथ? वह तो उनके लिए भार बन जाता है। क्योंकि औरत और बच्चे ही उसे खिलाते-पिलाते हैं। यह भी होता है कि कभी-कभी हफ्तों माँ को फुर्सत ही नहीं मिलती कि बच्चे को आकर देखे। बच्चे की भी यही दशा होती है कि माँ-बाप से मिल नहीं सकता। और ज़ब दूर-दराज के देशों में औरत-बच्चे काम के ही लिए चले जायँ तो और भी बुरा होता है। उनका चरित्र तो चौपट होई जाता है। स्त्री, पुरुष, बच्चों में कोई पारिवारिक नाता न रह के कमाई और पैसे का ही नाता रह जाता है। इसका हृदय विद्रावक वर्णन् एंगेल्स ने अपनी किताब 'इंगलैंड के मजदूरों की दशा' (Working Class Condition in England) में किया है। मार्क्स और एंगेल्स के सम्मिलित दिमाग से जो कम्युनिस्ट-मैनिफेस्टो सन् 1848 ई. में तैयार हुआ था, उसमें तो इस बात का चित्र ही खींचा गया है। उसमें लिखा है—

"जिस किसी काम को अब तक प्रतिष्ठा और रोब-दाब की नजर से देखा



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाता था उसकी इस विशेषता को पूँजीवादियों ने मिटा दिया है। अब तो डॉक्टर, कानूनदाँ लोग, पुरोहित, कवि और वैज्ञानिक—सभी—को मजदूरी के ही लिए काम करना पड़ता है।

"परिवार में जो एक भावुकता का सम्बन्ध रहता था, उसे भी पूँजीवादियों ने मिटा के पारिवारिक सम्बन्ध को पैसे के सम्बन्ध में परिणत कर दिया है।"

"आज का पूँजीवादी समाज—जिसके भीतर उत्पादन, विनिमय और सम्पत्ति के सम्बन्ध भी आ जाते हैं, और जिसने अत्यन्त विशाल यन्त्रादि उत्पादन और विनिमय के लिए तैयार किए हैं—उस जादूगर और मन्त्र जाननेवाले जैसा है जिसने पहले तो अपने जादू-मन्तर से भूत-प्रेतों को वश में किया। मगर पीछे चल के वे भूत-प्रेत उसके मन्तर-यन्तर को सुनते ही नहीं और उसके वश के बाहर हो जाते हैं।

"जिस हथियार से पूँजीवादियों ने सामन्तशाही को धरासात् कर दिया था, वही हथियार अब उन्हीं के खिलाफ इस्तेमाल हो रहे हैं !

"सिर्फ यही नहीं कि अपने आपको ही खत्म कर देने वाले हथियारों को ही पूँजीपतियों ने पैदा किया है। उनने ऐसे लोगों को भी पैदा कर दिया है जो उन हथियारों का प्रयोग करेंगे, और वह हैं आज के मिल मजदूर या सर्वहारा लोग।"

"मध्य युग के परम्परा प्राप्त (पैतृक) कारीगरों की नन्ही-सी दुकान को वर्तमान उद्योग व्यापार ने पूँजीपतियों की बड़ी फैक्टरी के रूप में बदल दिया है। वहाँ मजदूरों का समूह संगठित सिपाहियों के रूप में जमा होता है। उद्योग-धन्धों की फौज के सिपाहियों के रूप में वे मजदूर सार्जेंटों और छोटे-बड़े अफसरों की क्रमबद्ध शृंखला के मातहती में रहते हैं। वे केवल पूँजीवादी श्रेणी और उसकी सरकार के ही गुलाम नहीं हैं। वे तो प्रतिदिन और प्रति घण्टे सबसे पहले तो खुद मशीन के ही गुलाम हैं। उसके बाद उन पर निगरानी करनेवाले अफसरों के और अकसर कारखानेदारों के भी गुलाम रहते हैं। इस तरह यह नियन्त्रण जितना ही साफ-साफ यह घोषित करता है कि उसका लक्ष्य और उद्देश्य है सिर्फ मुनाफा, उतना ही क्षुद्र, नफरत की चीज और जलन पैदा करनेवाला यह खुद बनता जाता है।

"मिल वगैरह के काम में जितनी ही कम चातुरी और शारीरिक श्रम की जरूरत होती जाती है, यानी आज के उद्योग-धन्धों का विस्तार जितना ही होता जाता है, उतना ही अधिक मर्दों की जगह स्त्रियों से काम लिया जाता है। मजदूरों में उम्र और स्त्री-पुरुष के भेद की अब कोई खास कदर रह नहीं गयी है। सब-के-सब एकमात्र काम करने के यन्त्र बना दिये गये हैं। फर्क इतना ही है कि उनसे काम लेने में उम्र और लिंग के अनुसार कम बेश खर्च पड़ता है।"

ऊपर बताये चित्रण ने इस बात की सफाई कर दी है कि मजदूर किस कदर सताये जा रहे हैं। साथ ही यह भी साफ है कि वे पूँजीवाद से युद्ध करने के लिए न सिर्फ फौजी ढंग से तैयार के दिये गये हैं, बल्कि उन्हें हथियार भी दे दिये गये



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं। आन्दोलन, संगठन, हड़ताल आदि ही उनके हथियार हैं। इन्हीं के द्वारा पूँजीवादियों ने सामन्तशाही को खत्म किया था और अब यही उन्हें भी खत्म करेंगे। पूँजीवाद अपने ही हथियार और अपने ही पैदा किये मजदूरों के द्वारा श्मशान यात्रा करेगा। पूँजीवाद ने ही मजदूरों को सब तरह से तैयार किया है। उनके बिना वह टिक सकता नहीं, रह सकता नहीं। मगर वे तो उस पर खार खाये ही बैठे हैं। इसलिए अन्तिम आक्रमण करेंगे। मगर पूरी तैयारी के बाद। वह जब तक बचा है तभी तक बहुत है। जैसा कहा जाता है कि "केला, बिच्छू, बाँस—अपने जन्मे नाश"—यानी इन तीनों का नाश इन्हीं से पैदा होनेवाले ही करते हैं। ठीक यही बात पूँजीवाद के बारे में भी अक्षरशः लागू है।

किसान या निम्न-मध्यम वर्ग के दूसरे लोग यह काम खुद नहीं कर सकते, यह पहले ही कहा गया है। वे सर्वहारा-वर्ग की मदद कर सकते हैं। (मगर वह भी मदद वे खुद नहीं कर सकते, जब तक कि सर्वहारा लोग अपने ही कामों के द्वारा उन्हें अपनी ओर खींच न लें।) यह तो बताई चुके हैं। यह ठीक है कि निम्न-मध्यम वर्ग के कुछ लोग दिलोजान से मजदूरों में जा मिलते हैं। आजकल की भाषा में उन्हें वर्गच्युत (declassed) कहते हैं। मगर मेरा तो विचार है कि कहीं जन्म लेने मात्र से ही या कोई काम कर देने से ही किसी के आर्थिक वर्ग (economic class) का निर्णय नहीं होता। आज का समाज ही ऐसा है कि परिस्थितिवश लोग कहीं के कहीं जा पड़ते हैं। इस मामले में जन्म से जाति (वर्ग) मानने का प्रश्न भी उठता नहीं है और न तात्कालिक कामों से ही जाति मानने का। हमें तो इस बात का निश्चय करने के लिए मनुष्य की भीतर बनावट—स्वाभाविक झुकाव और मनोवृत्ति—पर ही ध्यान देना चाहिए। यह देखना चाहिए कि उसके सोचने-विचारने का तरीका क्या है। इसीलिए देखने के लिए निम्न-मध्यम श्रेणी में पैदा हो के या रह के भी वैसे लोग, जिन्हें वर्गच्युत कहते हैं, असल में सर्वहारा-वर्ग के ही हैं। इस बात का ज्यादा विचार 'किसान क्या करें' पुस्तक में हमने किया है। यही कारण है कि मजदूर वर्ग में रह के भी कुछ लोग निम्न-मध्यम वर्ग वाली मनोवृत्ति के होते हैं। उन्हें वर्गच्युत मजदूर (declassed proletariat) कहने की अपेक्षा पूर्वोक्त सिद्धान्त ही उनके बारे में भी लागू होना चाहिए।

मगर किसानों के बारे में खासतौर से कुछ जान लेना जरूरी है। वे हैं तो निम्न-मध्यमवर्ग के ही और स्वभावतः प्रतिगामी तथा दकियानूस भी हैं। यह तो मार्क्स और एंगेल्स के मैनिफेस्टो वाले पूर्व उद्धरण से सिद्ध ही है। फ्रांस के किसानों के बारे में मार्क्स ने अपनी पुस्तक 'लुई बोना पार्ट का 18वाँ ब्रुमेयर' में एक बहुत ही सुन्दर विश्लेषण किया है। मगर वह सर्वत्र कमबेश लागू होता है। वह यों है—

"अपने छोटे-छोटे तख्तों (खेतों) को ही जोत-बो के गुजर करने वाले किसान ही फ्रांस की जनसंख्या के अधिकांश हैं। समस्त देश में वे लोग प्रायः एक-सी ही



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दशा में रहते हैं। फिर भी उनका एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध नहीं के बराबर ही है। उनकी खेती-बारी का तरीका उन्हें परस्पर संसर्ग में लाने के बजाय एक-दूसरे को जुदा कर देता है। फ्रांस में जो यातायात के साधन काफी नहीं हैं, इसीलिए और उनकी गरीबी के चलते भी उनकी यह 'अपनी-अपनी डफली, अपनी-अपनी गीत' वाली हालत और भी बदतर हो गयी है। उनके खेत इतने छोटे हैं कि उनमें काम के बँटवारे के लिए दरहकीकत कोई गुंजाइश हई नहीं और न वैज्ञानिक खेती का ही अवसर है। इसीलिए किसानों की अभिवृद्धि अनेक प्रकार की होई नहीं सकती। उनके बुद्धिविकास में भी तारतम्य नहीं होता। सामाजिक आदान-प्रदान से ताल्लुक रखनेवाली सम्पत्ति का तो नाम ही नहीं। हरेक परिवार अपने ही पर निर्भर करता है, अपने ही खेतों में अपनी जरूरत की अधिकांश चीजें पैदा करता है और इस प्रकार समाज के भीतर लेन-देन और विनिमय के बदले प्रकृति के साथ विनिमय करके ही अपनी जरूरतें पूरी कर लेता है। कहीं एक छोटा-सा खेत का टुकड़ा है और एक किसान परिवार वहीं बसता है। दूसरी जगह दूसरे टुकड़े पर दूसरा किसान अपने स्त्री-बच्चों के साथ रहता है। ऐसे ही नन्हे-नन्हे टुकड़े एक या दो कोड़ी मिला के गाँव कहे जाते हैं और इन चन्द कोड़ी गाँवों को मिला के सरकारी प्रबन्ध का एक विभाग बन जाता है।

"इस तरह फ्रांस राष्ट्र का बहुमत केवल एक ही प्रकार के लोगों को एक साथ जोड़ देने से तैयार हो जाता है, जिस तरह एक बोरा आलू का अर्थ यही होता है कि बहुत से आलू एक बोरे में जमा कर दिये गये हैं। किसानों के ये परिवार केवल इसी मानी में एक वर्ग या श्रेणी कहे जाते हैं कि लक्ष-लक्ष किसान परिवारों की जिन्दगी की आर्थिक हालत ऐसी होती है जिसे उनके जीवन-यापन का ढंग, उनके स्वार्थ और उनकी संस्कृति दूसरे वर्गों की इन्हीं बातों से भिन्न होती है और इस प्रकार वे कम बेश दूसरे वर्गों के विरोधी बन जाते हैं। लेकिन अगर देखा जाय कि इन परिवारों के आपसी ताल्लुक सिर्फ खानदान तथा वंश परम्परा के ही होते हैं और इनके स्वार्थों की एकता सम्मिलित रूप से प्रकट नहीं होती, फिर चाहे वह राष्ट्रीय संस्थाओं के द्वारा हो या राजनीतिक संस्थाओं के द्वारा, तो मानना होगा कि सचमुच इन किसान परिवारों का कोई वर्ग हई नहीं। इसीलिए अपने वर्ग के स्वार्थों को वे अपनी ओर से दावे के साथ पेश नहीं कर सकते—न तो पार्लिमेण्ट के ही द्वारा और न अपनी कांग्रेस के ही जरिये। वे खुद अपना प्रतिनिधित्व कर नहीं सकते। उनका प्रतिनिधित्व किसी और को करना ही होगा। मगर उनका प्रतिनिधि जो होगा उसे उनकी नजरों में उनका मालिक और शासक भी होना चाहिए, जिसका उन पर अधिकार हो, जिसका शासनाधिकार निरंकुश हो, जो दूसरे वर्गों से उनकी रक्षा कर सके और जो उनके लिए आसमान से धूप और पानी भी दिलाये। परिणामस्वरूप किसानों का राजनीतिक प्रभाव ऐसी ही शासक संस्था के द्वारा प्रकट होता है जो अपनी स्वच्छन्द



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मर्जी के नीचे समाज को दबाये रहे।"

मार्क्स का यह किसान-चित्रण है तो उन्नीसवीं सदी के मध्य में रहने वाले फ्रांसीसी किसानों का। मगर अधिकांश में उन सभी किसानों पर भी लागू होता है जो पिछड़े हुए मुल्कों में रहते हैं, जहाँ पूँजीवादी ढंग से खेती नहीं होती। भारत के किसानों में अधिकांश की मनोवृत्ति, उनकी रहन-सहन, उनकी विचारधारा ऐसी ही होती है। यों तो फ्रांस में भी कहीं-कहीं के किसानों को क्रान्तिकारी बताया गया है और मार्क्स ने खुद इसी चित्रण के बाद ही लिखा है कि जाग्रत और समझदार किसानों की मनोवृत्ति क्रान्तिकारी होती है। मगर वे अपवाद हैं। किसान वर्ग का सामान्य वर्णन यही है। वह वर्ग प्रतिगामी और दकियानूस होता है, यह ठीक है।

हाँ, इस दकियानूसीपन में तारतम्य जरूर है। असली सवाल है कमाने और भूख का। जो जितने ही गरीब हैं और इसीलिए जिन्हें जितनी ही ज्यादा कमाई करनी पड़ती है, लेकिन फिर भी जिनकी भूख शान्त हो नहीं पाती और न मोटी जरूरतें ही पूरी होती हैं, वह उतने ही क्रान्ति के नजदीक होते हैं—क्रान्तिकारी होते हैं। उनकी बेबसी उन्हें क्रान्ति की तरफ बलात् घसीटती है। इसीलिए मार्क्स और एंगेल्स ने मध्यम किसानों से क्रान्ति में मदद की उम्मीद जाहिर की है। लेनिन ने बार-बार जो मिहनत करनेवाले, गरीब और अत्यन्त गरीब किसानों का जिक्र क्रान्ति तथा सर्वहारा के एकतन्त्र शासन (proletarian dictatorship) के सम्बन्ध में किया है और उनके साथ सर्वहारा-वर्ग की मैत्री पर जोर दिया है उसका भी यही मतलब है। उन्हीं को अर्द्ध सर्वहारा (semi-proletarians) कहने का भी यही आशय है।

अतएव यह सिद्ध है कि क्रान्ति का नेतृत्व किसान हर्गिज नहीं कर सकते। वे सिर्फ उसमें मददगार बन सकते हैं। यही वजह है कि दूसरी क्रान्ति को किसान क्रान्ति न कह के सर्वहारा क्रान्ति या प्रोल्तारियन रेवोल्यूशन कहते हैं। बल्कि पूँजीवादी क्रान्ति को ही किसान क्रान्ति (Agrarian revolution) कहा जाता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि किसान बूर्ज्वा वर्ग का ही है, कम से कम उसका प्रसिद्ध स्वार्थ बूर्ज्वा से ही मिलता है। यह दूसरी बात है कि वह पेट्टी बूर्ज्वा (फटेहाल बाबुओं) के स्वार्थ से ही मिले।

अब केवल एक ही बात और कह के इस बात को पूरा करेंगे और आगे बढ़ेंगे। हमने अब तक प्रोल्तारियन रेवोल्यूशन का मोटा-मोटी अर्थ समझाया है। उस पर विशेष प्रकाश तो आगे डालेंगे। लेकिन रह गया है, सोशलिस्ट रेवोल्यूशन (समाजवादी विप्लव)। सर्वहारा क्रान्ति का ही नाम समाजवादी क्रान्ति भी है। रूस में जो अक्टूबर सन् 1917 ई. में क्रान्ति हुई थी, जिसे नवम्बर की क्रान्ति भी कहते हैं, उसे ही लेनिन ने अपने लेखों में कहीं प्रोल्तारियन रेवोल्यूशन और कहीं सोशलिस्ट रेवोल्यूशन कहा है। एक या दो बार नहीं, किन्तु सैकड़ों बार यह बात आयी है। असल में सर्वहारा क्रान्ति के बाद ही सोशलिज्म या समाजवाद का अवसर आता है, न कि पूँजीवादी



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्रान्ति के बाद ही। इसीलिए सर्वहारा क्रान्ति को ही समाजवादी क्रान्ति भी कहते हैं। जब तक सर्वहारा के हाथ में शासन सूत्र न आ जाय और किसानों के साथ उनकी घनिष्ठ मैत्री के आधार पर सर्वहारा लोगों का एक तन्त्र शासन कायम न हो जाय तब तक सोशलिज्म के लिए गुंजाइश होगी कैसे? रह-रह के पूँजीवादी सिर उठाते ही रहेंगे। इसीलिए मुल्क से पूँजीवाद को मटियामेट करना होगा, जड़मूल से उखाड़ फेंकना होगा। तभी समाजवाद का बीज बोया जा सकेगा। खेत में दूसरी जड़ें रहने पर कोई भी बीज उगता ही नहीं, उगने पर भी फलता-फूलता ही नहीं। इसीलिए तो लेनिन ने साफ ही लिखा है कि—

"सर्वहारा क्रान्ति तब तक हो ई नहीं सकती जब तक बल प्रयोग पूर्वक पूँजीवादी शासन का यन्त्र तहस-नहस करके उसकी जगह नया शासन यन्त्र खड़ा किया न जाय।"

लेनिन के आशय की स्पष्टता इससे ज्यादा क्या हो सकती है? सोशलिज्म के प्रतिद्वन्द्वी कैपिटलिज्म (पूँजीवाद) शासन के ढाँचे को नष्ट कर देने से ही तो रास्ता साफ हो जाता है। बेशक, बहुतेरे ऐसे माननेवाले भी हैं जो पहली या गणतन्त्र क्रान्ति को ही आखिरी ध्येय मानते हैं। वह तो यहाँ तक कह डालते हैं कि सर्वहारा का एकतन्त्र भी जरूरी नहीं है। जनतन्त्र क्रान्ति के बाद ही धीरे-धीरे शान्ति से ही समाजवाद स्थापित हो सकता है। उनकी बुद्धि पर हमें तरस आता है और हँसी भी आती है। पता नहीं, उन्हें कुछ आता है या नहीं।

## 2

अब हमें पूँजीवादी क्रान्ति और सर्वहारा क्रान्ति का विवेचन करना है। जब ऐसा करने चलते हैं तो जान पड़ता है कि पूँजीवादी क्रान्ति कुछ ऐसी चीज होगी जिसमें पूँजीवादियों का ही बोलबाला होगा। जिन्हें इसकी तह में घुसने और क्रान्तियों की चरम सीमा तक सोचने का मौका नहीं मिला है वह ऐसा ही मानते भी हैं। मगर बीसवीं सदी के शुरू होते न होते लेनिन ने दूसरी ही बात कहनी शुरू की। उसने तदनुसार ही काम भी किया। रूस में उसे उसी से सफलता भी मिली—ऐसी सफलता कि दुनिया में वह अपने ढंग की पहली ही चीज हुई। रूस में ऐसी बात हो गयी कि जिसकी किसी को भी आशा न थी। इसीलिए क्रान्ति को व्यावहारिक रूप देने में लेनिन को ही आचार्य माना जाता है। बाकी लोगों ने तो उसे सिद्धान्त के रूप में ही कहा और लिखा था। उसके पहले उसे पूरी तरह अमली जामा किसी ने भी पहनाया न था।

बीसवीं सदी के श्रीगणेश के पूर्व तक लोग यही मानते थे कि पूँजीवादी क्रान्ति का नेतृत्व पूँजीवादी ही करते हैं। क्योंकि वह क्रान्ति होती ही है पूँजीवाद के विकास के लिए। पूँजीवादी युग के पहले का युग सामन्तशाही और गुलामी का माना जाता है। उस युग में स्वेच्छाचारी शासन का ही बोलबाला रहता है। या तो मुल्क में एक



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही शासक होता है और वह अपनी मर्जी के अनुसार ही हुकूमत करता है। उसपर कोई अंकुश होता ही नहीं। दृष्टान्त के लिए रूस की जारशाही को ही ले सकते हैं। रूस में जो भी जार बादशाह होते गये सबके सब स्वेच्छाचारी ही थे। और अन्तिम जार द्वितीय निकोलस का तो कुछ पूछिये मत। उसे तो खूनी जार नाम दिया गया है। उसके मन में जोई आता वही कर डालता था। उसकी महारानी जारिना भी वैसी ही थी। फ्रांस के 14वें, 15वें और 16वें लुई भी ऐसे ही माने जाते हैं। इंगलैंड का द्वितीय चार्ल्स भी ऐसा ही माना जाता है। यह ठीक है कि वह लुई और जार जैसा निरंकुश नहीं था। फिर भी उसमें भी निरंकुशता काफी थी। इंगलैंड जैसे व्यापारी देश में सत्रहवीं सदी के मध्य में उसी के चलते मार-काट और क्रान्ति हुई। उसके प्रायः सौ वर्ष के बाद फ्रांस में भी ऐसा ही हुआ। फिर करीब सवा सौ साल गुजरने पर रूस में उसी की पुनरावृत्ति हुई।

एक निरंकुश शासक अपनी मातहती में छोटे-छोटे शासक नियुक्त रखता है जिन्हें सामन्तशाह (feudal lords) कहते हैं। इनके नीचे या सीधे उसी की मातहती में जमींदार, जागीरदार और साहूकार होते हैं। इनका काम होता है खुद भी खेती कराना और किसानों को जमीन देके उन्हें खेती में लगाना। महाजन और साहूकार मनमाने दर पर किसानों और दूसरों को कर्ज देते हैं। जमींदार और जागीरदार जमीन के बदले किसानों से न सिर्फ लगान लेते हैं, सो भी बँधा हुआ, किन्तु बेगार, नजराना, हरी, हुकूमत वगैरह के रूप में जाने कितने बेहूदे काम करते और वसूलियाँ जारी रखते हैं। कोई नियम-कानून तो होता नहीं। उनने जब जैसा चाहा किया। अपनी खेती के लिए किसानों के ही हल-बैलों से ज्यादातर काम लेते हैं। वही तो हरी है। रूस आदि देशों में भी क्रान्ति के पूर्व यह बात थी। जमीन पर किसानों का आधिपत्य तो होता नहीं। इसीलिए वे मजबूरन जमींदारों के अत्याचारों को बर्दाश्त करके खेती करते हैं। यही कारण है कि उन्हें जमीन की भूख सबसे से ज्यादा होती है। वह चाहते हैं कि खेती के लायक जमीनों पर उन्हीं का स्वामित्व हो।

जमींदार लोग ऐसा भी करते हैं कि गरीबों को थोड़ी-सी जमीन देके उसी में उन्हें बसा देते हैं और उन्हीं से अपनी खेती का काम लेते हैं। यह बात दूसरे मुल्कों में पहले बहुत चलती थी। खेती का काम जिनसे लेते थे उन्हें खेती के गुलाम (serf) कहते थे। फ्रांस की सन् 1789 ई. वाली क्रान्ति के बाद ही वहाँ के ये गुलाम स्वतन्त्र हुए। उन्हें कामचलाऊ थोड़ी-थोड़ी जमीनें मिलीं। वे खुश हो गये, जमीन के मालिक जो बन गये। यही तो चाहते थे। इस काम में नेपोलियन बोनापार्ट का ज्यादा हाथ रहा। इसलिए फ्रांसीसी किसान उसी के भक्त थे। फ्रांस में जहाँ ज्येष्ठ बोर्बन राजवंश के हिमायती जहाँ जमींदार और उनके दोस्त थे, तहाँ ओर्लीयन्जवाली राजवंश की कनिष्ठ शाखा के हिमायती नये पूँजीवादी थे। मगर नेपोलियन ने चालाकी से किसानों को अपने साथ किया। उन्हीं को फौज में भर्ती भी किया। इसीलिए उसकी तूती



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बोली। क्योंकि देशवासियों में अधिकांश किसान ही थे और वे थे उसी के साथ।

रूस में यह गुलामी सन् 1861 ई. की 19वीं फरवरी को जार द्वितीय अलेग्जैंडर के समय में कानून के जरिये मिटायी गयी। मगर व्यावहारिक रूप में तो वह बराबर किसी-न-किसी रूप में बनी ही रही। वह दरअसल मिटी सन् 1917 ई. की क्रान्ति के बाद ही। किसानों को पूर्णतः जमीनें मिलीं उस साल की अक्टूबर वाली क्रान्ति के फलस्वरूप ही। इसीलिए रूसी किसानों ने लेनिन और उसकी बोल्शेविक पार्टी का साथ दिया। इटली और जर्मनी वगैरह मुल्कों में तो अनेक स्वतन्त्र शासक थे और उनकी मातहती में सामन्तशाही का बोलबाला था। यह सामन्तशाही भी क्रान्ति के चलते ही मिटी।

कर्ज देनेवाले साहूकार भी एक तो सूद दर सूद लेते हैं। दूसरे सूद की दर का कोई ठिकाना नहीं रहता। चाहे जितना रख लिया। यह भी नहीं कि साल में सूद न मिलने पर ही उसका भी सूद बाँधा जायगा। तीन, चार-या छः महीनों के बाद ही सूद जोड़ के मूल में मिला देते और समूचे पर नये सिरे से सूद चालू होता है। गल्ले के सूद का तो कुछ पूछिये ही नहीं। वह तो चार या छः मास में ही कहीं ड्योढ़ा और कहीं दूना हो जाता है ! कहीं-कहीं तो असल के चार छः गुने तक साल में सूद हो जाया करता है। उसका हिसाब भी ठीक लिखा नहीं जाता। जो रुपये वसूल होते हैं उन्हें भी महाजन ठीक-ठीक लिखते नहीं। कोई कानूनी बन्धन तो होता नहीं। इसीलिए जोई चाहा किया। यही कारण है कि कुछी दिनों बाद कर्जदार लोग बर्बाद हो जाते हैं। उनका घर-बार, माल-मवेशी, खेती-बाड़ी महाजन ले लेते हैं। यही वजह है कि इन कर्जों की मंसूखी की पुकार मचती है। जो लोग यह काम कर देते हैं या कम से कम इस कष्ट में काफी कमी कर देते हैं किसान और शोषित लोग उन्हीं का साथ देते हैं। इसीलिए इस बात की होड़ रहती है कि किसानों को जमीनें किसके हाथ से मिलेंगी, सूद, कर्ज आदि के भार से उन्हें और दूसरों को मुक्ति कौन दिलायेगा और खेतीवाली गुलामी (serfdom) कौन मिटायेगा। इसमें जिसे ही सफलता मिलती है मुल्क का बहुमत उसी का साथी होता है। क्रान्ति की सफलता की यही कुंजी है। फिर चाहे वह पूँजीवादी क्रान्ति हो, या सर्वहारा क्रान्ति।

सामन्तशाही (feudalism) के युग में कल-कारखाने नाममात्र को ही होते हैं। छोटे-मोटे दस्तकार होते हैं और पुराने ढंग की बढ़ई, लोहार आदि की मशीनें होती हैं, करघे, चरखे होते हैं। लोग उन्हीं के जरिये अपनी जरूरत की चीजें बनाते हैं। कितना कौन-सा माल बने जिससे सबका काम चले और "बासी बचे, न कुत्ता खाये" वाली बात हो, इसका भी प्रबन्ध करना पड़ता है। नहीं तो या तो जरूरत ही पूरा न हो, या ज्यादा चीजें बनने पर बेकार सड़ती रहें और उनमें लगी पूँजी एवं श्रम—दोनों ही—बेकार जायँ। ऐसा भी हो सकता है कि कुछी लोगों ने गुटबन्दी करके ज्यादा कपड़ा वगैरह तैयार कर लिया और धनी बन बैठे। फलतः बाकी लोग बेकाम होकर



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भूखों मरने लगे। इसलिए इस बात का भी अंकुश और नियन्त्रण जरूरी होता है। कौन माला कब, कहाँ, कैसे जाय, किस दर से बिके, यह काम भी करना होता है। ये सभी बातें उन कारीगरों की पंचायतें करती हैं, जिन्हें अँगरेजी में गिल्ड (guild) कहते हैं। यह बात पहले समय में होती थी। बड़ी सख्ती से ये पंचायतें पेश आती थीं। किस कारीगर के पास कितने औजार या आदमी काम करेंगे इस बात का भी हिसाब रखा जाता था। जो न माने उसे पंचायत से निकाल देते और उसका हर तरह से बहिष्कार करते थे।

मगर आखिर दुनिया तो आगे बढ़ती है। मनुष्य का दिमाग पत्थर तो है नहीं। वह तो विकसित होता है। चीजों के बनाने में धीरे-धीरे तरक्की होती गयी। सस्ती और ज्यादा चीजें बनने लगीं। जहाँ पहले जरूरत के ही लिए बनती थीं, तहाँ अब बाजारों में बिकने लगीं। जो पंचायतों से बाहर हटे उनमें कुछ ने मनमानी तरक्की की। उनका दल देखादेखी बढ़ चला। अन्त में गिल्ड जाते रहे। कुछ चलते-पुर्जे लोगों ने सारे कारबार हथिया लिये। बाकियों को अपने यहाँ मजदूरी पर रख लिया। उन्हें काफी नफा होने लगा। इस प्रकार आज के पूँजीपतियों (bourgeoisie) के पूर्वजों का जन्म हो गया। वे स्वभावतः चाहते थे कि उनका कारबार खूब चले। कोई रोकटोक न हो, लूटपाट न हो। मगर सरकारी सहायता के बिना यह बात असम्भव थी। कानून की मदद जरूरी थी। नहीं तो निरंकुश शासक सारा मुनाफा ही छीन लेंगे। और नहीं तो वे चोर-लुटेरों को ही न रोकेंगे—उनसे न बचायेंगे और सब कमाई गायब हो जायगी। इतना ही नहीं कारबार चलाने में सरकार की आर्थिक सहायता मिले तो पौबारह हो। कच्चा माल मिलने में और उसके तथा बने माल के लाने, ले जाने में भी सरकार की कृपा से बहुत सुविधाएँ मिल सकती हैं, किराया कम लग सकता है, चुंगी और दूसरे टैक्सों से पिण्ड छूट सकता है और अगर दूसरों के माल हमारे बाजार में न आने पायें तो हमारा माल खूब ही बिक सकता है। इसी तरह की हजारों बातें उस समय के पूँजीपतियों को—या यों कहिये कि भावी पूँजीपतियों को, क्योंकि उस समय वे नाममात्र के ही पूँजीवादी थे—बेचैन कर रही थीं।

इसीलिए जब उन्हें और तरह से सफलता न मिली और निरंकुश शासक उनकी बातें सुनने को तैयार न हुए तो उनने उनके शासन को मिटा देने की ही बात सोची। शासक तो अपने को अजय समझते थे। मगर जहाँ एक ओर पूँजीवादी लोग बेचैन थे, तहाँ दूसरी ओर किसान वगैरह भी सामन्तशाही के अत्याचारों से ऊबे थे। बस, यही तो सुनहला मौका था। उनने (पूँजीवादियों ने) शोषित जनता को लम्बी-लम्बी आशाएं दिलायीं, सब्जबाग दिखाये, कि वर्तमान शासकों को मिटा के उनकी जगह हमें बैठा दो। फिर तो तुम्हारी भी पाँचों अँगुलियाँ घी में होंगी। हम पलक मारते तुम्हारी माँगें पूरी कर देंगे। लोग उनकी बात में पड़ गये। उनने फौज के जवानों पर भी कुछ असर डाला। कुछ चलते-पुर्जे लोगों को भी मिलाया। इस तरह तैयारी



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करके मौके की ताक में रहे और अवसर पाते ही धावा बोल दिया। पुराना शासन तो जीर्ण-शीर्ण था ही। जनता के असन्तोष ने उसे भस्म कर दिया और नये शासकों—पूँजीपतियों—को उसकी जगह बिठा दिया। यही है पूँजीवादी क्रान्ति का संक्षिप्त रूप। यह बात सभी जगह पायी गयी है।

जब तक मजदूरों (सर्वहारा) का उदय नहीं हुआ था—क्योंकि नये ढंग के कल-कारखानों ने ही उनको जन्म दिया है—तब तक तो किसान और दूसरे लोग ही पूँजीवादियों का साथ देते रहे। मगर सन् 1789 ई. में पेरिस में जो क्रान्ति हुई और जिसका सिलसिला सन् 1871 ई. तक चलता रहा, उसमें सर्वहारा ने भी जम के लड़ाई लड़ी। यह ठीक है कि उनकी तादाद अभी ज्यादा न थी। अभी तो उनका श्रीगणेश ही हुआ था। फिर भी वे लड़े और खूब ही लड़े। वही तो आगे थे। उनने विजय के बाद एक के बाद दीगरे कोशिश भी 1871 तक बार-बार की कि उनके ही हाथ में शासन-सूत्र रहे। (सन् 1871 ई. में तो 14 मार्च से 28 मई तक—72 दिनों तक—उनने सचमुच ही आदर्श शासन कायम भी किया।) जिसे पेरिस कम्यून (paris-commune) कहते हैं। उसके पहले तो उनने 1789 से 1794 तक कोशिश खूब ही की थी और कुछ-कुछ वैसा किया भी। मगर उनमें सफल न हो सके। मगर उनमें पूर्ण जागृति, वर्ग-चेतना और राजनीतिक ज्ञान न होने से ही वे सदा के लिए सफल न हो सके। फलतः पूँजीवादियों के ही हाथ में फिर हुकूमत गयी। दूसरे देशों में तो पूँजीवादियों को मजदूरोंवाली इतनी दिक्कत का भी सामना करना पड़ा और सीधे शासन-सूत्र को उनने हथिया लिया। असल में उन्नीसवीं सदी के अन्त तक मजदूरों का समय आया ही न था। वे पूरे तैयार हो सके ही न थे। इसके लिए जिन बातों की जरूरत थी वे तब तक हो न सकी थीं। इसी से वे विफल रहे। फलतः फ्रांस, इंगलैंड, अमेरिका आदि सभी मुल्कों में पूँजीपतियों के हाथों में शासन सौंप के क्रान्ति सो गयी, खत्म हो गयी। वह आगे बढ़ न सकी।

कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में जिस बात का सजीव वर्णन है, जो चित्र खींचा गया है और मजदूरों को सफलता मिलने के लिए जो बुनियादी तौर पर जरूरी है उसका सम्पादन सामन्तशाही कर नहीं सकती थी। यह तो पूँजीपतियों का ही काम था कि वह बात करें। सारे संसार की कायापलट कर देना, भूमण्डल के एक छोर से दूसरे छोर को नाथ देना, यातायात और आवागमन के सभी साधन मुहैया कर देना, सर्वहारा को पैदा करके उसे अपार संख्यावाला बनाना, उसे फौजी ढंग से शिक्षित करना और लड़ाई का अस्त्र-शस्त्र संगठन तथा हड़ताल के रूप में उसे सौंप देना—यह दूसरों की शक्ति की चीज न थी। यह तो पूँजीवादी ही कर सकते थे। जैसा कि मार्क्स ने मैनिफेस्टो में स्पष्ट लिखा है। ऐसा करने में उनकी मजबूरी थी। जैसे रेशम का कीड़ा अपने स्वभाव से मजबूर होके अपनी मौत का सामान खुद पैदा करता है, ठीक यही बात वर्तमान पूँजीवादियों की है।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसीलिए पूँजीवादी लोग जब गद्दी पर जा विराजे तो उनने बेशक अपनी कुछ बातों को पूरा किया, किसानों को जमीनें दीं, देने का प्रबन्ध कर लिया, गुलामी को भी मिटाया और सूदखोरी वगैरह पर नियन्त्रण किया। फ्रांस के सन् 1789 ई. वाले विप्लव के बाद ही वहाँ जमींदारी जो मिटी सो फिर पनप नहीं सकी। दूसरे मुल्कों में भी कुछ इसी तरह की बातें हुईं। सिर्फ इंगलैंड में ही जमींदारी रह गयी है। मगर वहाँ तो पूँजीवाद सभी मुल्कों की अपेक्षा पहले विकसित हुआ। इसीलिए वहाँ का तरीका कुछ और ही रहा। फ्रांस में किसानों के हक पूँजीवादियों ने ही दिलाये थे, दिये थे। इसीलिए किसान उन्हीं के साथी बन गये, और यही कारण है कि उसके बाद सन् 1848 ई., या सन् 1871 ई. में जब-जब सर्वहारा श्रेणी ने पूँजीवादियों की सरकार पर हमले किये तब-तब किसानों ने पूँजीवादियों का ही साथ दिया। इसी कड़वे अनुभव के बल पर रूस में लेनिन और बोल्शेविक पार्टी ने शुरू से ही किसानों को मिलाने की कोशिश की। यद्यपि उन लोगों के मत में भूमि को व्यक्तिगत सम्पत्ति न बना के राष्ट्र, या समूचे समाज की सम्पत्ति बनाना जरूरी था। तथापि शासनसूत्र हाथ में आते ही लेनिन ने पहली घोषणा करके किसानों को जमीनें दे दीं। इसी से वहाँ के किसान बराबर लेनिन के ही दल के साथ रहे। नहीं तो विरोधी हो जाते। वहाँ के पूँजीवादी इसी बात में चूक गये और हुकूमत को खो बैठे।

लेकिन पूँजीवादी क्रान्ति के बाद पूँजीपतियों का असल काम यह जमीन वगैरह का देना-दिलाना न था। उनका तो लक्ष्य था पूँजीवाद की जड़ को जमाना, उसे मजबूत बनाना और खूब फलने-फूलने का मौका देना। यही कारण था कि फ्रांस में सन् 1870-71 ई. आते न आते किसानों के छोटे-छोटे खेत साहूकारों और सूदखोरों के हाथ में बन्धक हो जाने तथा किसानों की हजार तबाही के होते हुए भी उनने उनकी परवाह न की कि उन्हें सुखी बनायें। वे तो अपना ही काम बनाते रहे। मजदूरों पर तो किसानों का विश्वास था नहीं। जमींदार मिटी चुके थे और दूसरा दल था नहीं जो उन्हें फोड़ लेता। पूँजीवादियों ने पहले उन्हें जमीनें दी थीं ही। इसीलिए हर हालत में किसान उनके खिलाफ जा सकते थे नहीं। बस, पूँजीपतियों के लिए इतना ही काफी था। वे बेखटके अपनी ताकत बढ़ाते रहे। पूँजीवादी क्रान्ति ने उस समय क्या किया, या आम तौर से उसका काम बीसवीं सदी के शुरू होने के पहले तक क्या रहा, इसका सुन्दर वर्णन मार्क्स ने पूर्वोक्त पुस्तक '18वें ब्रूमेयर' में यों किया है—

"पूँजीवादी क्रान्ति का लक्ष्य था पूँजीवादियों को स्वतन्त्र करना और वर्तमान पूँजीवादी समाज का संगठन करना। जिस जमीन में सामन्तशाही की जड़ जमी थी उसे फ्रांसीसी क्रान्ति की जैकोबिन पार्टी ने छिन्न-भिन्न कर दिया, तथा उस पर जो जमींदार फूलते-फलते थे उनका खात्मा कर दिया। उसके बाद नेपोलियन ने समूचे फ्रांस में ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी जिसके करते व्यापार में स्वतन्त्र चढ़ा-बढ़ी फूल-फल सकी, बड़ी-बड़ी जमींदारियों को तोड़-ताड़ के जमीन की पैदावार से काफी फायदा



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उठाया गया और इस प्रकार देश की उद्योग-धन्धे सम्बन्धी ताकत का पूरा-पूरा उपयोग किया गया। फ्रांस के पूँजीवादी समाज के लिए उसके बाहर यूरोप में (कच्चे और पक्के माल के बाजार वगैरह के रूप में) जिस अनुकूल वातावरण की उस समय जरूरत थी उसे उसने सभी जगह सामन्तशाही को मिटा कर बना दिया।''

मानव समाज को आगे बढ़ने में जिन बातों की जरूरत होती है उनकी पूर्ति समय-समय पर होती रहती है। पूँजीवादी क्रान्ति भी उन्हीं की पूर्ति के लिए होती है। इसीलिए मनुष्यों की उन्नति की सीढ़ियों में एक वह भी है। अगर बड़े-बड़े कारखानों के खोलने में लगे रुपयों की हिफाजत और वृद्धि का इन्तजाम न कर सकें तो पूँजीवादी उनमें पैसे और दिमाग खर्च क्योंकर करेंगे? उनके माल के बिकने का पूरा इन्तजाम न हो और जरूरत के मुताबिक इफ़रात से रूई आदि कच्चा माल मिल सके नहीं, तो कारखाने चौपट ही हो जायँ। इसलिए इसकी गारण्टी होनी चाहिए। देश-विदेश में माल भेजने या वहाँ से कच्चा माल मँगाने में भी सुविधा चाहिए। यदि दूसरे देशवाले रुकावटें डालें तो उनका जवाब देने की ताकत भी चाहिए। दूर-दराज देशों में खुले कारबार की हिफाजत का भी पूरा इन्तजाम चाहिए। अगर वहाँ कोई गड़बड़ी हो तो चटपट खबर मिले, फौरन फौज वगैरह भेजी जा सके। इसके लिए रेल, तार, बेतार के तार वगैरह का पूरा इन्तजाम चाहिए। माल के आने-जाने में भी इन साधनों की सख्त जरूरत होती है। मगर जब तक सोलहों आना सरकार पूँजीपतियों की न हो यह बात होगी कैसे? हरेक काम उनकी मर्जी के मुताबिक होगा कैसे? इसीलिए वे सरकार को हथियाना चाहते हैं और दूसरा उपाय न देखकर ही क्रान्ति करते हैं।

किसानों को जमीन देने या और सुविधाएँ करने के लिए जो वे लोग तैयार होते हैं वह प्रतिज्ञा-पूर्ति के लिए ही नहीं, जैसा कि पहले बताया गया है। असल में जमीन मिल जाने पर खूब परिश्रम करके किसान पूँजीपतियों के कारखानों की जरूरत के मुवाफिक ही रूई, जूट, ऊख वगैरह तैयार करेगा। वे उसे कर्ज या मदद देकर अपने मन-मुताबिक माल तैयार करायेंगे। और न होगा तो ज्यादा रुपये देके उसकी जमीनें खुद खरीदेंगे और लम्बे-लम्बे खेतों (फार्मों) में आधुनिक ढंग से खेती करके अपनी जरूरत भर कच्चा माल पैदा करेंगे। क्योंकि जैसे-जैसे कारखानों की तरक्की होती जाती है वैसे-वैसे कच्चे माल की जरूरत ज्यादा होती है। अन्त में हालत यह हो जाती है कि छोटे-छोटे खेतों की पैदावार से काम चलता ही नहीं, जब तक सामूहिक रूप से लम्बे फार्मों में रूई वगैरह कच्चा माल तैयार न किया जाय। सामूहिक रूप से पक्का माल पैदा करने के लिए सामूहिक रूप से ही कच्चा माल पैदा करना जरूरी है। मगर जब तक किसान जमीनों का मालिक न हो उन्हें पूँजीवादियों के हाथ बेचेगा कैसे? जमींदारों को तो गरज नहीं, और अगर वाजिब कीमत से कई गुना पायें तो शायद बेचें—मगर ऐसा करने पर तो पूँजीवाद का दिवाला ही हो जायगा।

यही कारण है कि किसानों को जमीन वगैरह का हक वे लोग दिलाते हैं।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसमें उनकी अपनी गरज है। एक बात और भी है कि जमींदारों का एक दल पूँजीवाद का विरोधी रहता है और जिसके करते आगे भी पूँजीवादियों के रास्ते में रोड़े अटकते रहते हैं। इंगलैंड में तो जमींदारों तथा कारखानेदारों के संघर्ष अकसर हुए हैं। एंगेल्स ने अपनी पूर्वोक्त किताब में इसका जिक्र किया है। मार्क्स के 'कैपिटल' के द्वितीय भाग में भी यह बात आयी है। इंगलैंड में जो 'गल्ले के कानून' (Corn Low) नेपोलियन की लड़ाई के जमाने में ही बने थे उनके मंसूख कराने में भी जमींदारों और पूँजीवादियों में काफी कशमकश हुई थी। जमींदार उनकी मंसूखी नहीं चाहते थे और कारखानेदार चाहते थे। जमींदारी की शान में आकर भी वे लोग अपनी डेढ़ ईंट की मस्जिद अलग ही बनाना चाहते हैं। इसीलिए चुनावों में भी उनके करते अड़ंगे पड़ते हैं, पड़ सकते हैं। इसीलिए जमींदारी मिटाना जरूरी हो जाता है।

कहने का मतलब यह है कि पूँजीवादी लोग पूँजीवादी-क्रान्ति के बाद जो कुछ करते हैं वह उसी व्यवस्था की मजबूती के लिए। न कि किसी और मतलब से। ऊपर के विवेचन से यह भी साफ हो गया कि पूँजीवादी-क्रान्ति को किसान क्रान्ति क्यों कहते हैं। जमींदारी-प्रथा का खात्मा और किसानों की दूसरी माँगों की पूर्ति उससे होती है। इसीलिए उसे 'अग्रेरियन रेवोल्यूशन' भी कहते हैं। उसमें किसानों की बेड़ियाँ कटती जैसी मालूम होती हैं। उनकी छाती पर पड़ी चट्टान हटती जैसी प्रतीत होती है। बहुत अंशों में हट भी जाती है। यदि वही बूर्ज्वा क्रान्ति सर्वहारा के नेतृत्व में हो, तब तो किसानों का दुःख सदा के लिए ही भाग जाता है और वे आजाद हो जाते हैं। सर्वहारा का स्वार्थ उनकी वास्तविक आजादी में ही जो है। यह बात आगे बतायी जायगी। मगर पूँजीवादियों के नेतृत्व में यह बात हो नहीं सकती। उन्हें अपनी सामाजिक व्यवस्था कायम जो रखना है। फिर सोलहों आने आजादी किसानों को वे दें तो कैसे दें?

उसी क्रान्ति को डेमोक्रेटिक या जनतन्त्र क्रान्ति भी कहा जाता है। बात यों होती है कि पूँजीवादी क्रान्ति के लिए जब बूर्ज्वा-वर्ग लड़ता है तो यह थोड़े ही कहता है कि हम अपने ही वर्ग के लिए लड़ रहे हैं। जैसा कि कह चुके हैं, वह तो बराबर यही पुकार मचाता है कि हम तो सभी मजलूमों के ही लिए लड़ते हैं—हमारी क्रान्ति का ध्येय है शोषितों और पीड़ितों को हक दिलाना। यह ठीक है कि शोषितों में अधिकांश किसान ही होते हैं। इसीलिए उनको जमीनें मिलती हैं। मगर दूसरों को भी कुछ न-कुछ मिलता है। लेकिन फिर आगे क्या होगा, यह सवाल आता है। आगे भी किसानों का तथा औरों का विश्वास पूँजीवादियों पर बना रहे इसका उपाय वह यह करते हैं कि सबको मताधिकार देते हैं, चुनाव में राय देने का हक आम लोगों को देते हैं। यह ठीक है कि उन्हें खतरा रहता है कि यह वोट कहीं उन्हीं के विरुद्ध काम में न लाया जाय। इसीलिए पहले तो बालिग मताधिकार नहीं मानते। किन्तु हजार बहानेबाजी करके कुछ खास सम्पत्तिवालों को ही यह हक देते हैं। औरतों को भी



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पहले नहीं देते। सम्पत्तिवाले तो ख़ामखाह चाहते हैं कि कोई आकस्मिक शासन परिवर्तन या उलटफेर न हो। नहीं तो वे घाटे में रहेंगे। इसीलिए पूँजीवादी लोग उन्हीं पर विश्वास करते हैं और हमेशा ही यह तरकीब करते हैं कि चुनाव में बहुमत उन्हें मिले।

इस तरह समय पा के जब वे चुनाव की हिकमत में पूरे कामयाब हो जाते हैं और अपनी नाकेबन्दी तरह-तरह से कर लेते हैं, तो बालिग मताधिकार भी देते हैं। औरतों को भी यह हक सौंपते हैं तो भी अपने समाचार-पत्रों, अपने पक्ष के साहित्य, प्रचार, सिनेमा और प्रलोभन आदि के जरिये अपने पक्ष में बहुमत का निश्चय हमेशा रखते हैं। निरंकुश शासन को हटाने के बाद जनता की राय से ही तो शासन होना चाहिए। यही तो उनकी मजबूरी होती है। इसीलिए उस राय को ही ठगने के लिए उन्हें बंदिशें करनी पड़ती हैं—हजारों झूठी बातें बनानी पड़ती हैं। लोकमत के शासन से उन्हें यह भी फायदा होता है कि जनता शासन को अपना समझने लगती है। इसीलिए यदि उसपर कोई हमला करे तो खुद लड़ने को तैयार हो जाती है। इस प्रकार पूँजीवादी शासन में मजबूती भी आती है और यही सबसे बड़ा लाभ पूँजीवादियों के लिए लोकमत मूलक शासन से होता है। यही कारण है कि बूर्ज्वा-क्रान्ति को जनतन्त्र क्रान्ति कहा जाता है। कहने के लिए बेशक लोगों की राय से ही शासन होता है। मगर वह राय तो पूँजीवादियों के लिए तरह-तरह से खरीदी हुई ही होती है। यही कारण है कि उस जनतन्त्र को पूँजीवादी जनतन्त्र या बूर्ज्वा-डेमोक्रेसी के ही नाम से पुकारते हैं। लेनिन ने अपनी पुस्तक 'साम्राज्यवाद' (Imperialism) में इस पूँजीवादी जनतन्त्र के बारे में यों लिखा है—

"इस तरह धन की सर्वशक्तिमत्ता पूँजीवादी गणतन्त्र में कहीं ज्यादा सुरक्षित रहती है। क्योंकि उस समय उसे पूँजीवाद के कमजोर राजनीतिक जिरह-बख्तर का सहारा लेना नहीं पड़ता। उसकी रक्षा का सर्वोत्तम राजनीतिक कवच तो यह शासन खुद बन जाता है। इसलिए ज्योंही एक बार पूँजीवाद ने पालचिन्स्की, चरनोफ, सेरेतली वगैरह अवसरवादियों के जरिये किसी प्रकार इस सर्वश्रेष्ठ कवच पर कब्जा कर लिया कि वह अपनी ताकत इस दृढ़ता और मजबूती के साथ जमा लेता है कि चाहे हजार पार्टियाँ, संस्थाएँ या आदमी बदलते रहें, मगर उस पूँजीवाद को कोई हिला नहीं सकता।"

लेनिन ने ही मार्क्स के 'गोथा प्रोग्राम' नामक लेख का विश्लेषण करते हुए भी इसी के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

"यह जनतन्त्र तो केवल मुट्ठी भर अमीरों के ही लिए है। पूँजीवादी समाज का जनतन्त्र शासन यही तो है। अगर हम इस जनतन्त्र की रचना पर विचार करें तो हमें सर्वत्र—तथाकथित ब्योरे की बातों में, जैसे मतदान की योग्यता में (क्योंकि मकान वगैरह पास में होने की शर्तें होती हैं, स्त्रियों को मताधिकार नहीं होता, आदि-



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आदि) और प्रतिनिधि मूलक संस्थाओं के जो काम के तरीके होते हैं, सभा वगैरह करने में असली बाधाएँ होती हैं (क्योंकि 'भुक्खड़ों' को सार्वजनिक मकान सभा के लिए मिलते ही नहीं) और दैनिक समाचार पत्रादि तो शुद्ध पूँजीवादी ढंग से ही चलाये जाते हैं, आदि आदि—सभी जगह एके बाद दीगरे जनतन्त्र पर जकड़बन्द बन्धन लगे हैं। गरीबों के लिए जो ये बन्धन, अपवाद, बहिष्कार और अड़ंगे लगाये गये हैं वे उन लोगों की नजरों में बेशक मामूली से जँचते हैं जिन्हें खुद किसी आवश्यकता का अनुभव हुआ ही नहीं और जिन्हें पीड़ित जनों के सामूहिक जीवन से कोई ताल्लुक नहीं है। अगर सौ में निन्यानवे नहीं तो दस में नौ पूँजीवादी राजनीतिज्ञ और व्याख्याता ऐसे ही होते भी हैं। लेकिन इन सब शर्तों और बन्धनों का सम्मिलित परिणाम यही होता है कि गरीब लोग राजनीति और जनतन्त्र शासन में भाग लेने से सोलहों आना महरूम रह जाते हैं।

"मार्क्स ने बहुत ही खूबी के साथ इस जनतन्त्र की असलियत पहचानी थी, जब उसने पेरिस के कम्यून के अनुभव का विश्लेषण करते हुए यह कहा था कि कुछ वर्षों का अन्तर दे-देके शोषितों तथा पीड़ितों को केवल एक मौका दिया जाता है कि वे बतावें कि अपने सताने वालों में से किस आदमी को वे चाहते हैं कि जो पार्लिमेण्ट में उनका प्रतिनिधित्व करे और उन्हें सताये, दबाये।"

'चीन में लाल तारा' के अन्तिम प्रकरण 'लाल क्षितिज' में उसके सुयोग्य लेखक मिस्टर एडगर स्नो ने, पूँजीवादी जनतन्त्र का पूँजीपतियों की ही दृष्टि से क्या महत्त्व है, यह बात, यों लिखी है—

"क्योंकि जनतन्त्र का प्रसार वर्तमान राष्ट्र की पूर्णता की ही तरह इस बात की जरूरत को जाहिर करता है कि कोई ऐसी ताकत और ऐसा तरीका निकाला जाय जिससे वर्गों के जो परस्पर बुनियादी विरोध हैं और जिनका पूँजीवादी समाज में सामंजस्य नहीं हो सकता, उनके मिटाने की कोशिश की जा सके। पूँजीवादी जनतन्त्र शासन का यही सबसे-सीधा सादा निरूपण है।"

"आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक स्वार्थों का केन्द्रीभूत होना, जिसे तथाकथित एकीकरण की प्रक्रिया कहते हैं,—अर्थात् जिन बातों के करते ही यह प्रथा पैदा होती है वही—साथ ही साथ यह भी चाहती हैं कि उन्हें कायम रखने के लिए क्रमशः विस्तृत दलों का प्रतिनिधित्व केन्द्र में हो। ताकि वर्गों के स्वार्थ संघर्ष जो तेज होते जा रहे हैं और जिनकी सुलझन असम्भव सी प्रतीत होती है उनके सुलझाने का यत्न किया जा सके। और नानकिंग की सरकार जितने ही ज्यादा देश के विस्तृत और विभिन्न स्वार्थों के प्रतिनिधित्व की ओर झुकेगी, अर्थात् जनतन्त्र शासन के जितना ही निकट जायगी उतना ही अधिक उसे इस बात की मजबूरी होगी कि राष्ट्र के सर्वोच्च अधिकार को पुनरपि स्थापित करके उसी के द्वारा अपनी रक्षा की कोशिश करे।"

अब तक पूँजीवादी जनतन्त्र शासन का जो विवेचन किया गया है उससे उसकी



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

असलियत पर प्रकाश पड़ जाता है और यह भी पता लग जाता है कि पूँजीवादी क्रान्ति को ही पूँजीवादी जनतन्त्र क्रान्ति क्यों कहते हैं। असल में किसान-क्रान्ति, जनतन्त्र-क्रान्ति या पूँजीवादी-क्रान्ति कहने से उसके अर्थ का स्पष्टीकरण नहीं होता है। ये सभी शब्द केवल आंशिक रूप से, या यों कहिये कि पर्दे के भीतर, उस चीज को बताते हैं। मगर पूँजीवादी जनतन्त्र क्रान्ति (bourgeois democratic revolution) शब्द ही उसके असली भेद और कच्चे चिट्ठे को जाहिर कर देता है। उसी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उसके अन्तर्गत जो किसान क्रान्ति है वह भी संकुचित चीज ही है। वह केवल पूँजीवाद को दृढ़ करनेवाली ही है। लेकिन पूँजीवादी क्रान्ति का सनातनी स्वरूप तो यही माना जाता है। उसका लक्ष्य भी यही कहा जाता है।

## 3

परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बीसवीं सदी आते न आते लेनिन के नेतृत्व में इस बूर्ज्वा क्रान्ति की काया पलट हो गयी। लेनिन ने इसे और ही रूप दे दिया। इसके यह मानी हर्गिज नहीं, कि उसके बाहरी रूप में कुछ उलटफेर हुआ। सामन्तशाही का खात्मा करना यही तो उसका बाहरी और प्रकट काम माना जाता था। ज्यों-ज्यों इस बात की पूर्ति होती जाती थी त्यों-त्यों उस क्रान्ति का रूप स्पष्ट होता जाता था। घोषणा भी तो इसी बात की की जाती थी। पूँजीवाद की जड़ को जमाने का काम तो अप्रत्यक्ष रूप से ही—खुल के नहीं—किया जाता था। पूँजीवादी लोग यह बात साफ-साफ कभी स्वीकार थोड़े ही करते थे। वह तो किसानों, मजदूरों और अन्य शोषितों को धोखे में डाल के ही अपना काम बना लेते थे। इसीलिए पूँजीवादी क्रान्ति का जो घोषित रूप और काम अब तक माना जाता था और जो सर्वसम्मत था उसे तो लेनिन और उसके दल ने भी स्वीकार किया ही।

मगर उसने जो असली काम किया वह यह कि पूँजीवाद की जड़ मजबूत होने न पाये, ऐसी तरकीब ढूँढ़ निकाली। अब तक क्रान्ति के तथाकथित आचार्य और नेता केवल किताबों और लेखों में ही यह बात दुहराते आ रहे थे कि पूँजीवादी क्रान्ति के बाद सर्वहारा क्रान्ति होती है। मगर वह कब, कैसे होती है इसकी परवाह किसी को न थी। यह सोचने का किसी ने कष्ट ही न उठाया कि उस क्रान्ति को व्यावहारिक रूप कैसे दिया जाय। उनके अमलों से पता चलता था कि वे पूँजीवादी-क्रान्ति से ही सन्तुष्ट थे। वहीं अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मानते थे। उनमें अधिकांश लसाले, कौत्स्की वगैरह तो यहाँ तक कहते थे कि इस क्रान्ति के बाद क्रान्ति की जरूरत रही नहीं जाती। धीरे-धीरे वैधानिक तरीकों और आन्दोलन के फलस्वरूप, और साम्राज्यवाद के भीतरी संकटों के चलते भी, खुद-ब-खुद शोषित और पीड़ित जनता के हाथ में शासनसूत्र चला आयेगा। इसमें केवल समय लगेगा। जर्मनी के क्रान्तिकारी नेता और मार्क्सवादी कहे जानेवाले कार्ल कौत्स्की ने तो यह भी कह दिया था कि



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साम्राज्यवाद का अत्यन्त विकास हो जाने पर वही अत्युच्च रूप (Ultra or super imperialism) में परिणत हो जायगा, जिसमें किसी को कष्ट होगा ही नहीं। सभी लोग समान रूप से सुखी होंगे। उस समय पूँजीवादी जनतन्त्र के स्थान पर—'शुद्ध जनतन्त्र' (pure democracy) अपने आप ही स्थापित हो जायगी। इसे ही किसान-मजदूर राज्य, समाजवाद या साम्यवाद कह सकते हैं। हमें आश्चर्य है कि वर्तमान युग के कितने ही समाजतन्त्रवादी भी इसी सड़ी चीज को स्वीकार करते हैं। हालाँकि इसकी बुरी तरह खबर लेनिन ने अपनी पुस्तकों "सर्वहारा का एकतन्त्र और पथ-भ्रष्ट कौत्स्की" (The dictatorship of the proletariat and Kautsky the renegade) आदि में ली है। लेनिन के दो उद्धरण जो हमने कुछ ही पहले दिये हैं। उनसे इसका कुछ पता चलता है।

हाँ, तो लेनिन ने जो नया तरीका सुझाया उसी को हमें देखना है। सबसे पहला प्रश्न जो इस सम्बन्ध में उठा और अब भी उठता है वह है नेतृत्व का। पूँजीवादी क्रान्ति का नेतृत्व कौन करे इस बात को लेनिन ने सबसे पहले छेड़ा। क्योंकि सर्वहारा क्रान्ति का मौका ही नहीं आ सकता यदि यह बात तय न हो जाय। अगर हमें सर्वहारा क्रान्ति करनी है और उसे सफल बनाना है, तो उसने सोचा कि पूँजीवादी क्रान्ति से ही शुरू करना चाहिए। रूस में बीसवीं सदी के आने के पहले क्रान्तिकारियों की एक ही पार्टी थी, जिसका नाम था सोशल डेमोक्रेटिक रशन लेबर पार्टी। लेनिन और उसके साथी उसी के मेम्बर थे। ये सभी उग्र क्रान्तिकारी थे। मगर जो लोग नरम दलीव थे और इसीलिए समझौते से भी काम लेते थे, वह भी उसमें शामिल थे। वे लोग दरअसल अवसरवादी थे। इसलिए समझौता और सुधार ही उनका लक्ष्य था। क्रान्ति का नाम तो यों ही लोगों की आँखों में धूल झोंकने के ही लिए लेते थे। उनमें भी दो प्रधान दल थे। एक को मेनशेविक और दूसरे को सोशल रेवोल्यूशनरी कहते थे। असल में था तो पहले एक ही दल सोशल रेवोल्यूशनरियों का ही। मगर जब रूस की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी में दो दल हो गये तब अल्पमतवालों का नाम मेनशेविक और बहुमतवालों का बोलशेविक पड़ा। उस अल्पमत में सोशल रेवोल्यूशनरियों के सिवाय दूसरे लोग भी थे। इसीलिए मेनशेविक नाम का सोशल रेवोल्यूशनरियों से एक जुदा ही दल माना जाने लगा। सन् 1903 ई. की गर्मियों में जो रूस की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी की दूसरी कांग्रेस लन्दन में हुई थी उसमें जो उसके पूर्वोक्त दो दल हो गये वह प्रधानतया पूँजीवादी क्रान्ति के नेतृत्व को ही लेकर हुए थे। पार्टी के संगठन का भी प्रश्न वहाँ उठा था कि उसमें कैसे लोग लिए जायँ और इसमें भी मतभेद हो गया। मगर पार्टी की बात की जड़ में भी वही क्रान्ति के नेतृत्व की ही बात थी। पार्टी का सवाल भी उसी के करते खड़ा हो गया था। इस सम्बन्ध में पहले खुद कुछ न कह के मिस्टर आर. पेजआरनाट की लिखी 'रूसी क्रान्ति की संक्षिप्त हिस्ट्री' (A Short History of the Russian Revolution) के पहले भाग



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से कुछ लम्बा उद्धरण देना ही उचित समझते हैं। वह लिखता है—

"आइये पहले 1905 वाली क्रान्ति, जो निकट आ रही थी, के स्वरूप और उसे आगे ले चलनेवाली ताकत (नेतृत्व) का विचार करें। दो प्रकार के विप्लवों को साफ-साफ अलग समझना होगा। इन दोनों में पूँजीवादी विप्लव तो सामन्तशाही या मध्ययुगीन बातों और रिवाजों के खिलाफ है। और सर्वहारा विप्लव है पूँजीवाद या साम्राज्यवाद का शत्रु। दोनों के उदाहरण हमें फ्रांस के इतिहास में मिल सकते हैं। सन् 1789 के सिलसिले में फ्रांस में जो महान् क्रान्ति हुई वह पूँजीवादी क्रान्ति का दृष्टान्त थी। 1871 वाली पेरिस-कम्यून सर्वहारा क्रान्ति का नमूना थी।

"जो लोग सन् 1903 ई. वाली लन्दन की कांग्रेस में मौजूद थे उनमें अधिकांश को क्रान्तियों का यह भेद मालूम था। उस महत्त्वपूर्ण विलक्षणता को वे लोग जानते थे जिसके करते इंगलैंड की प्यूरिटन क्रान्ति (प्यूरिटन उस समय ईसाई धर्म का एक राजनीति से मिला-जुला सम्प्रदाय था), जो सत्रहवीं सदी के मध्य में हुई, सन् 1776 वाली अमेरिका की क्रान्ति, फ्रांस की महत्त्वपूर्ण क्रान्ति जो 1789 में हुई और एके बाद दीगरे जो अनेक पूँजीवादी क्रान्तियाँ उन्नीसवीं सदी में और बीसवीं में भी होती रहीं,—ये सबकी सब—पूँजीवादी क्रान्तियों में गिनी गईं। वे यह भी जानते थे कि जिन फ्रांस, अमेरिका और इंगलैंड आदि मुल्कों में पूँजीवादी क्रान्तियाँ पूर्ण हो चुकी हैं उनमें जो पहेली मजदूरों तथा आम जनता के सामने थी वह थी समाजवादी सर्वहारा क्रान्ति की।

"लेकिन जो समस्या रूस के लिए और दूसरे मुल्कों के लिए भी थी वह यह थी कि पूरी अठारहवीं सदी और उन्नीसवीं के पूर्व भाग में जो क्रान्तियाँ हुई थीं उनके बाद एक नया वर्ग कायम हो गया, जिसे सर्वहारा या प्रोल्तारियत कहते हैं। प्रश्न यह था कि सबों के मत से जो क्रान्ति पूँजीवादी क्रान्ति है उसमें इस नये सर्वहारा-वर्ग का क्या भाग होगा? जो पीछे मेनशेविक के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनने दकियानूसी 'बाबा वाक्यं प्रमाण' के अनुसार यह निर्णय किया कि जब वह पूँजीवादी क्रान्ति है, तब तो उसका असली नेतृत्व ख़ामखाह पूँजीवादी ही करेंगे। इसका आशय यह था कि रूस में जारशाही और मध्ययुगीन बची-बचायी घृणित प्रथाओं के विरुद्ध उन्हें मिटाने के लिए, जो क्रान्ति होगी उसके नेता बनेंगे पूँजीवादी ही। वहाँ का सर्वहारा-वर्ग उन्हीं की सहायता करेगा।

"इसके विपरीत बोलशेविकों का कहना था कि अन्त तक क्रान्तिकारी बने रहने वाला तो केवल सर्वहारा-वर्ग है। इसीलिए यह जरूरी है कि रूसी जनता की जो लड़ाई जारशाही निरंकुशता के विरुद्ध होगी उसका नेतृत्व वह सर्वहारा-वर्ग ही करे। यह ठीक है कि यह सर्वहारा की समाजवादी क्रान्ति न होगी। ताहम आजादी की इस क्रान्तिकारी लड़ाई का नेतृत्व केवल सर्वहारा ही कर सकते हैं। क्यों? इसीलिए कि पूँजीवाद की प्रगति, या यों कहिये कि पूँजीवादी वर्ग की प्रगति मजदूर श्रेणी के



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साथ निरन्तर संघर्ष के सिलसिले में ही होने के कारण यह बात साफ है कि रूसी पूँजीवादी जारशाही से सुलह कर लेंगे। क्योंकि उन्हें भय है कि "कहीं क्रान्ति बहुत दूर न चली जाय"। इसीलिए सच पूछिये तो क्रान्ति की विजय होने न पायेगी।

"इस पर मेनशेवकों की यह दलील हुई कि मान लीजिये कि क्रान्ति का नेतृत्व सर्वहारा ही करेंगे। लेकिन उन्हें यह काम पूँजीवादियों से मिल के ही करना होगा। ताकि सभी प्रगतिशील शक्तियाँ जारशाही के विरुद्ध मिल के लड़ सकें। क्योंकि जारशाही के मददगार न सिर्फ जमींदार होंगे। बल्कि भोले-भाले और पिछड़े हुए किसानों की जमात भी उसकी सहायक होगी।

"बोलशेविकों ने यह बात भी न मानी और उत्तर दिया कि सच पूछिये तो ये भोले-भाले और पिछड़े किसान ही इसमें सर्वहारा के मित्र बन सकते हैं और सर्वहारा उनका नेतृत्व कर सकते हैं। क्योंकि उनकी दशा बहुत ही बदतर है, उनका शोषण परले दर्जे का हो रहा है और उनकी विपदा युग-युगान्तर से चली आ रही है। ऐसी हालत में सिर्फ सर्वहारा श्रेणी का ही काम है कि सबों को आगे ले चलने में प्रमुख बने। वही किसानों की लम्बी जमात के साथ मिल के जारशाही की मनमानी घरजानी को मिटा सकती और इस काम में समझौतावादी पूँजीवादियों को तटस्थ होने के लिए विवश कर सकती है।"

इस सम्बन्ध में और कुछ कहने के पहले इस लम्बे उद्धरण की तीन बातों पर विशेष ध्यान दिलाना जरूरी है। इस छः पैराग्राफ के अवतरण में चौथे तथा छठे पैरा में जो कुछ लिखा है उसका सम्बन्ध हमारे देश की आजादी की लड़ाई से भी है। छठे पैरा में जो अन्त में यह कहा गया है कि "सर्वहारा श्रेणी इस काम (लड़ाई) में पूँजीवादियों को तटस्थ होने को विवश कर सकती है," उससे साफ हो जाता है कि पहले चाहे जो कुछ रहा हो। मगर सर्वहारा श्रेणी के तैयार हो जाने पर इस युग में पूँजीवादियों से क्रान्ति या आजादी की लड़ाई में सक्रिय और प्रमुख भाग लेने की आशा नहीं की जा सकती है। वे तटस्थ रह जायँ और विरोधियों का साथ न दें यही बहुत है और यही बात की जानी चाहिए। भरसक उन्हें दुश्मनों से जा मिलने का मौका नहीं दिया जाना चाहिए। कोशिश यही हो कि वे तटस्थ रहें। यह बात भी आरजू-मिन्नत या उनसे सुलह-सपाटा करने से नहीं होगी। इसका तो नतीजा उलटा ही होगा। वे तटस्थ भी रहेंगे जब सर्वहारा श्रेणी खूब संगठित होकर प्राण पन से लड़े और मजलूम किसानों को बखूबी अपने साथ कर ले। वे इस अपार शक्ति से डर के ही चुपचाप बैठेंगे।

चौथे पैराग्राफ में दो बातें हैं। पहले लिखा है कि "ताहम आजादी की इस क्रान्तिकारी लड़ाई का नेतृत्व केवल सर्वहारा ही कर सकते हैं"। हमारे मुल्क में भी जो आजादी की लड़ाई लड़ी जा रही है उसमें भी यही बात होगी। यह ठीक है कि औपनिवेशिक और गुलाम मुल्कों में बाहरी देशों की हुकूमत होती है, जैसा कि भारत



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में है। रूस की जारशाही तो विदेशी न थी—वहीं की थी। मगर यह कोई खास फर्क नहीं है, जिससे परिस्थिति में महत्त्वपूर्ण अन्तर आ जाय। यह बात सही है कि गुलाम देशों के पूँजीवादी एक हद तक क्रान्तिकारी लड़ाई में भाग ले सकते हैं। मगर साम्राज्यवादी देशों के पूँजीवादी ऐसा नहीं करते। फिर भी यह बात पुराने युग की है। साम्राज्यवाद की चरम उन्नति और सर्वहारा श्रेणी के विशेष जागरणवाले इस युग में यह बात सम्भव नहीं। अब तो सभी देशों के पूँजीवादी समान रूप से प्रतिक्रियावादी हो गये हैं और हो रहे हैं। यों तो किसी समय ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका के पूँजीवादियों ने भी क्रान्तिकारी लड़ाई लड़ी थी।

इसलिए जहाँ कहीं आजादी की लड़ाई लड़ी जायगी वहीं उसका नेतृत्व मजदूर श्रेणी को ही करना होगा। यह तो कही चुके हैं कि आजादी की लड़ाई का ही नाम पूँजीवादी क्रान्ति है। इसलिए हर मुल्क में इस क्रान्ति के नेता मजदूरों को ही होना पड़ेगा। तभी किसानों और मजदूरों की—मजलूमों की—मुसीबतें दूर होंगी। लेकिन हमने यदि इस ओर ध्यान नहीं दिया और भूलकर खिचड़ी या सम्मिलित नेतृत्व (Mixed Leadership) का रास्ता अख्तियार किया, तो धोखा होगा। यह सम्मिलित नेतृत्व और कुछ नहीं। केवल टटुपुँजिये बाबुओं (Petty bourgeoisie) का ही, या दूसरे शब्दों में मध्यमवर्ग और पूँजीवादियों का ही नेतृत्व होगा। क्योंकि ये बाबू तो बेपेंदी के लोटे की तरह स्वभावतः मालदारों की ही ओर लुढ़कते हैं। और जब क्रान्तिकारी मजदूरों का दबाव न हो तब तो ख़ामखाह उधर झुकते हैं। क्रान्तिकारी श्रमिकों के दबाव का तो मतलब ही है सर्वहारा का नेतृत्व।

चौथे पैराग्राफ में जो यह कहा गया है कि पूँजीवादी जारशाही से जरूर सुलह कर लेंगे और उसमें जो कारण दिया गया है कि मजदूरों से लड़ते-लड़ते ही उनकी वृद्धि हुई है, वह बहुत ही महत्त्व रखता है। यह बात सभी पूँजीवादियों पर लागू है। रूस का नाम तो दृष्टान्त के रूप में है, या यों कहिये कि उसी के बारे में विचार ही हो रहा था। फिर दूसरे देश की बात कहते कैसे? समझौता करने के लिए जो वजह के तौर पर दलील दी गयी है उसी से यह बात साफ हो जाती है। दलील तो यही है कि पहले के पूँजीवादियों से आज के पूँजीपति विलक्षण हैं। क्योंकि जहाँ पहले वालों ने अपनी तरक्की करते समय सर्वहारा श्रेणी के साथ होनेवाले संघर्ष का बहुत ही कम या नहीं के बराबर सामना किया था, तहाँ आज के पूँजीपतियों को निरन्तर मजदूरों के संघर्ष का ही सामना करना पड़ता है। इसीलिए यह लड़ाई लड़ते-लड़ते ही उनने तरक्की की है। फलतः वे लोग मजदूरों की ताकत और मनोवृत्ति का पता लगा चुके हैं। वह अच्छी तरह जानते हैं कि मजदूर पूँजीवाद को मिटाने के पहले दम न लेंगे और इनकी ताकत अपार है। इसीलिए पूँजीवादी मजदूरों से काफी डरते हैं।

यही कारण है कि वे निरंकुश शासन से—जारशाही से—समझौता ख़ामखाह



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कर लेंगे। क्योंकि ऐसा न करने में उन्हें यह खतरा दीखता है कि क्रान्ति बहुत दूर चली जायगी। अर्थात् पूँजीवादी-क्रान्ति समाजवादी क्रान्ति में परिणत हो जायगी। फिर तो हम कहीं के न रह जायँगे ! यह बात तो सभी मुल्कों के सरमायादारों (पूँजीपतियों) पर अक्षरशः लागू है। सब के सब तो मजदूरों के साथ बराबर ही लड़ते-लड़ते आगे बढ़ते हैं, बढ़ सके हैं। इसीलिए सबों को उनसे खतरा है। यदि निरंकुश शासन या विदेशी शासन से वे सुलह न कर लेंगे, तो समाजवादी क्रान्ति होके ही रहेगी। फिर उनकी हस्ती कहाँ रहेगी?

इस प्रकार ये तीन बातें महत्त्वपूर्ण हैं। मगर इन्हीं से मिलती-जुलती एक चौथी बात भी है, जो उस लम्बे अवतरण में कई बार आयी है। वहाँ केवल 'आजादी की लड़ाई' यही नहीं कहा गया है। किन्तु मनमानी घरजानी (absolutism), निरंकुशता (autocracy), सामन्तशाही (feudalism), मध्ययुगीन बर्बरता का अवशेष (survivals of medevalism) आदि कहा गया है। वहाँ साफ ही बताया गया है कि पूँजीवादी क्रान्ति या आजादी की लड़ाई इन्हीं बातों को मिटाने के लिए होती है। उसका यही काम ही है। लेकिन ये बातें केवल रूस में ही न थीं। वे तो सर्वत्र पायी जाती हैं। भारत में भी कम-बेश उसी तरह पायी जाती हैं, जैसा कि अन्य देशों में। अगर इनमें कुछ कमी है, अगर इनका अब उतना भीषण रूप नहीं है, तो यह बात सर्वत्र है और समय के प्रभाव से ही इनमें पुरानी भयंकरता रहने न पायी है। इसलिए इनकी जड़ तो बनी ही है, जिसे खत्म करना है और आजादी के युद्ध, जनवादी क्रान्ति, किसान क्रान्ति, या पूँजीवादी क्रान्ति की जरूरत इसीलिए है भी। इन्हें मिटाना उसी का काम है। फलतः रूस के बारे में कही बातें सर्वत्र—यहाँ भी—पूर्ण रूप से लागू हैं। अर्थात् आजादी की लड़ाई में जिसे सर्वहारा श्रेणी का नेतृत्व (Proletarian hegemony or Leadership) कहते हैं उसके बिना हमें भी यहाँ सफलता मिल सकती नहीं।

हाँ, तो हम लेनिन और उसके साथियों की उस खास बात पर फिर आयें, जो उनने पूँजीवादी क्रान्ति के बारे में कही थी। जो उद्धरण हमने पहले दिया है उसके चौथे पैराग्राफ के अन्त में कहा गया है कि अगर पूँजीवादियों का नेतृत्व रहा—और आजकल तो वे लोग खुले आम न आकर फटेहाल बाबुओं के द्वारा ही अपना काम निकालते हैं—तो सिर्फ यही बात न होगी कि वे लोग निरंकुश शासन के साथ सुलह कर लेंगे। किन्तु क्रान्ति की विजय होई न सकेगी—उसकी हार हो जायगी—'revolution would be defeated.' यह बात मार्के की है। सन् 1850 ई. में, कम्यूनिस्ट लीग कायम होने के बाद, मार्क्स ने जो सर्क्यूलर मजदूरों के नाम भेजा था उसमें लिखा है कि—

"टटुपुँजिये जनतन्त्रवादी बाबू लोग तो चाहते ही हैं कि ज्योंही उनकी चन्द माँगें पूरी हो जायँ जल्द से जल्द क्रान्ति को खत्म कर दें। लेकिन यह तो मजदूरों



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का ही काम है कि क्रान्ति को सर्वकालिक (स्थायी) बना दें। ताकि करीब-करीब सभी पूँजीवादियों और मालदारों के हाथ से शासन सूत्र छिन न जाय, ताकि सर्वहारा के हाथ में शासन की बागडोर न आ जाय और एक ही मुल्क में नहीं, किन्तु संसार के सभी समुन्नत देशों में, सर्वहारा का संगठन ऐसा जबर्दस्त न हो जाय कि वहाँ मजदूरों में आपसी चढ़ाबढ़ी खत्म हो जाय और कम से कम मूलाधार रूप जो उद्योग-धन्धे हैं वह सर्वहारा के हाथ में आ जायँ।"

यहाँ जो टटुपुँजिये बाबू या निम्न-मध्यम श्रेणी (Petty bourgeois democrate) लिखा है उसका तात्पर्य पूँजीवादियों से ही है क्योंकि जैसा अभी कहा है, ये बाबू तो उन्हीं के कठपुतले होते हैं। इसीलिए लेनिन ने अपनी पुस्तक 'साम्राज्यवाद' (Imperialism) की भूमिका में इनके बारे में साफ ही लिखा है कि—

"पूँजीवादी मनोवृत्तिवाले ये मजदूर ही तो, जिन्हें 'मजदूर-अशराफ' कहते हैं, जिनका जीवन निम्न-मध्यवर्गीयों जैसा ही होता है, जिनकी आय भी वैसी ही होती है और विचार भी उसी तरह के रहते हैं, संकण्ड इण्टरनेशनल (अवसरवादी मजदूरों की पुरानी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था) के मुख्य स्तम्भ तथा समाज में पूँजीवादियों के निश्चय ही सबसे बड़े विश्वसनीय मददगार हैं। ये लोग पूँजीपतियों के पक्के दलाल, मजदूरों के बीच में उनके लिए बड़ी मुस्तैदी से काम करनेवाले, उनकी वकालत करनेवाले और आज कल की साम्राज्यवादी युद्ध की मनोवृत्ति एवं सुधारवाद के बड़े भारी हिमायती होते हैं।"

असल में अवसरवादी और सुधारक लोग तो चाहते ही हैं कि संघर्ष न हो, या कम से कम हो। इसीलिए पूँजीवादी क्रान्ति में यदि मजबूरन पड़ भी जाते हैं, तो भी उनकी ख्वाहिश बराबर यही रहती है कि यह बला जल्द से जल्द मिटे और भविष्य में पुनरपि इसमें फँसने का मौका न आये। और अगर कहीं पूँजीवादी विप्लव का नेतृत्व उनके ही हाथों में या उनके मालिकों (पूँजीवादियों) के ही अधीन रहा, तब तो वे खामखा उसी के बाद रुकी जायँगे। आगे बढ़ना कभी नहीं चाहेंगे। इसीलिए मजदूरों का नेतृत्व जरूरी है। जिस प्रकार पूँजीवादियों का मकसद पूरा हो जाने के कारण पूँजीवादी क्रान्ति से आगे बढ़ना वे नहीं चाहते, ठीक उसके उलटा मजदूरों का उद्देश्य पूरा न हो सकने के कारण वे ख़ामखाह आगे बढ़ना और सर्वहारा क्रान्ति तक पहुँचना चाहते हैं। ताकि पूँजीवाद के मिट जाने से उनकी विपदा दूर हो और वे सुख की जिन्दगी न सिर्फ खुद बितायें, बल्कि समस्त मानव के लिए भी वह जिन्दगी सुलभ कर दें। वह तो लड़नेवाले होते हैं। उनका अस्तित्व ही लड़ाई की भट्ठी में बनता और कायम रहता है। और लड़ाई से ही तो पूँजीवादी क्रान्ति को सर्वहारा क्रान्ति का रूप दिया जा सकता है। तथाकथित मार्क्स मतानुयायी और अवसरवादी कार्ल कौत्स्की, हिल्फरडिंग, चरनोफ, मारटोफ आदि नेता यह बात नहीं मानते हैं। इसीलिए पहले कदम के बाद ही रुक जाते हैं। वे सर्वहारा क्रान्ति को दूसरी तरह



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लाना चाहते हैं। उन्हें क्या पता कि पूँजीवादी-क्रान्ति को ही आगे बढ़ा के सर्वहारा-क्रान्ति के रूप में बदला जाता है। लेनिन ने इस बारे में स्पष्ट लिखा है—

''कौत्स्की आदि ने यह समझा ही नहीं है कि पूँजीवादी-क्रान्ति और सर्वहारा क्रान्ति का आपस में सम्बन्ध क्या है। पहली (पूँजीवादी) क्रान्ति ही दूसरे के रूप में परिणत हो जाती है। जैसे-जैसे क्रान्ति आगे बढ़ती जाती है तैसे-तैसे पूँजीवादी क्रान्ति की समस्याओं को सर्वहारा क्रान्ति हल ही कर देती है। यह दूसरी क्रान्ति पहले के कामों को मजबूत भी कर देती है। संघर्ष और केवल संघर्ष इस बात का फैसला करता है कि कहाँ तक पूँजीवादी जनतन्त्र क्रान्ति के गर्भ से सर्वहारा-समाजवादी क्रान्ति पैदा हो सकती है।''

जब संघर्ष ही इस बात का निर्णायक है और उसी के बल से पूँजीवादी क्रान्ति के गर्भ से ही सर्वहारा क्रान्ति पैदा की जा सकती है, फलतः जितना ही तेज तथा निरन्तर चलनेवाला यह संघर्ष होगा उतनी ही मजबूती और तेजी के साथ पहली क्रान्ति के बाद दूसरी क्रान्ति आयेगी और सफल होगी, तब तो दोनों के मध्य में जरा भी विराम की गुंजाइश होई नहीं सकती। लेकिन अगर पहली क्रान्ति के नेता पूँजीवादी या उनके गण लोग होंगे, यदि उसे लाने में पूँजीवादियों या उनके पिट्ठुओं का ही प्रधान हाथ होगा, तब तो बीच में, उसके बाद विराम अवश्यम्भावी है। इसीलिए पहले की क्रान्तियों के बाद ऐसा विराम हुआ कि आगे काम ही रुक गया। लेनिन ने इसीलिए उनकी जगह मजदूरों का नेतृत्व स्थापित करके रूस में पूर्ण सफलता प्राप्त की। जब 'पूँजीवादी क्रान्ति' का अधूरा काम सर्वहारा क्रान्ति ही पूरा करती है, उसे मजबूत भी वही करती है और जब उसके बिना पहली क्रान्ति का काम पूरा होई नहीं सकता, तब तो शुरू से ही सर्वहारा-वर्ग का नेतृत्व निहायत जरूरी है।

## 4

प्रश्न यह हो सकता है कि पूँजीवादी क्रान्ति की जरूरत ही क्या है? जब इतने झमेले होते हैं, फिर भी खतरे रही जाते हैं; जब उस क्रान्ति का काम अधूरा ही रहता है और कभी पूरा होई नहीं सकता जब तक सर्वहारा-क्रान्ति न हो; जो काम हुआ रहता है उसकी भी मजबूती जब सर्वहारा क्रान्ति से ही होती है, तो वह होई क्यों? एकाएक सर्वहारा-क्रान्ति ही क्यों न की जाय? पूँजीवादी-क्रान्ति होने के नाते उसमें पूँजीवादियों के नेतृत्व का सवाल ख़ामखाह उठेगा ही। फिर तो झमेले खड़े होंगे ही। ऐसी दशा में 'न रहे बाँस, न बाजे बाँसुरी' क्यों न किया जाय? केवल एक ही क्रान्ति होगी और वह होगी सर्वहारा क्रान्ति। वह जरूरी भी है हर हालत में। उसी से सब काम चल जायगा। दूसरी क्रान्ति न होगी और न यह बखेड़ा पैदा होगा।

बात तो देखने से कुछ ऐसी ही प्रतीत होती है। मगर किया क्या जाय? मजबूरी जो ठहरी। जब यह मानी हुई बात है कि पूँजीवादी क्रान्ति ही आगे बढ़के सर्वहारा-क्रान्ति



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बनती है, जब उसी के गर्भ से सर्वहारा-क्रान्ति का जन्म होता है, तब फिर यह कैसे माना जाय कि उसकी जरूरत हई नहीं? दूसरों की तो बात ही जाने दीजिये। जब सर्वहारा-क्रान्ति के आचार्य स्वयं लेनिन ने ही यह बार-बार कबूल किया है कि पूँजीवादी-क्रान्ति ही सर्वहारा क्रान्ति के रूप में बदल जाती है, तब तो वही आधार ठहरी, बुनियाद हो गयी। फिर उसका इनकार कैसे किया जाय? लेनिन साफ कहता है–

"जैसा हमने कहा था ठीक वैसा ही हुआ। क्रान्ति ने जो रुख लिया उससे हमारे विचार सही साबित हुए। सबसे पहले सर्वहारा ने सभी किसानों को बिना भेदभाव के साथ लेके राजसत्ता, जमींदारी और मध्ययुग की बची-खुची बर्बरता के विरुद्ध धावा बोल दिया। और यहाँ तक तो यह क्रान्ति पूँजीवादी या पूँजीवादी जनतन्त्र-क्रान्ति ही रही। उसके बाद सर्वहारा ने ज्यादा गरीब किसानों, अर्द्ध-सर्वहारा-वर्ग और शोषितों को ही अपने साथ लिया और पूँजीवाद, उसके देहाती प्रतिनिधियों, धनी किसानों और जुआचोरों के खिलाफ चढ़ाई की। फलतः अब वही क्रान्ति समाजवादी क्रान्ति बन गयी। दरअसल इस एक ही लम्बी क्रान्ति के दो पहलुओं को एक-दूसरे से अलग करने की कोशिश करना, या यह मानना कि इन दोनों को जुदा करनेवाला बीच में हिमालय पहाड़ है, और यह असलियत कबूल नहीं करना कि इन दोनों में यदि कोई अन्तर है तो वह केवल अंश का ही है और वह यह कि पहली क्रान्ति के समय सर्वहारा उतना तैयार नहीं रहते और उनके तथा अत्यन्त गरीब किसानों के बीच मैत्री उतनी गाढ़ी और दिली नहीं होती जितनी कि सर्वहारा क्रान्ति के समय होती है–ऐसा करना मार्क्स के सिद्धान्तों का तोड़-मरोड़ करना है, उन्हें कलुषित करना है और नर्मदली अवसरवाद एवं मार्क्स को एक करना है।"

लेनिन इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता। वह तो हर बात की पूरी सफाई करके ही दम लेता है। वह जानता है कि सिद्धान्त के बारे में दिमागी गड़बड़ खतरनाक है। इसीलिए सन् 1915 ई. के नवम्बर के एक लेख में वह पुनरपि लिखता है–

"सर्वहारा लड़ते हैं और सारी ताकत लगाके बराबर लड़ते रहेंगे। ताकि शासन-सूत्र हाथ में आ जाय, गणतन्त्र स्थापित हो जाय, जमींदारों की जमीनें छिन जायँ और सर्वहारा के अलावे जो जन-समूह है वह भी इस बात के लिए रुजू किया जा सके कि पूँजीवादी रूस को फौजियों और जमींदारों के सम्मिलित साम्राज्यवाद से, जिसे जारशाही कहते हैं, मुक्ति दिलायी जा सके। लेकिन जारशाही और जमींदारों की हुकूमत से जो यह त्राण रूस के पूँजीवादियों को मिलेगा उसका फौरन ही मजदूर लोग ऐसा उपयोग करेंगे कि जिससे धनी किसानों, अत्यन्त गरीब किसानों और खेत-मजदूरों को दबा के अपना उल्लू सीधा न कर सकें। किन्तु पश्चिमी यूरोप के सर्वहारा लोगों से मिल के समाजवादी क्रान्ति पूरी की जा सके।"

'लेनिनिज्म' के 103 पृष्ठ में लेनिन के एक महत्त्वपूर्ण वचन को उद्धृत करते



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हुए स्तालिन ने लिखा है कि "सन् 1905 ई. वाले पहले रूसी रेवोल्यूशन के ठीक पहले, आज से बहुत पूर्व, लेनिन ने अपनी पुस्तक 'दो चालें' (Two tactics) में ठीक ही कहा था कि पूँजीवादी क्रान्ति और समाजवादी क्रान्ति ये दोनों ही एक लड़ी की दो कड़ियाँ हैं, रूसी क्रान्ति के दो स्वाभाविक पहलू हैं।"

लेनिन का वह वचन इस प्रकार है–

"सर्वहारा का काम होगा कि वह पूँजीवादी क्रान्ति को आखिर तक जरूर ही पहुँचा दें। इस काम में मजदूरों का साथ देने के लिए वह किसानों को रुजू करें। ताकि निरंकुशता की शक्ति छिन्न-भिन्न हो जाय और पूँजीवादियों का आगा-पीछा कुछ काम न कर सके–वह खत्म हो जाय। समाजवादी क्रान्ति को भी उन्हें अन्त तक पहुँचाना ही होगा और इस काम में अर्द्ध-सर्वहारा लोगों की जमात को भी अपने साथ लाना होगा, ताकि पूँजीवादियों की ताकत खत्म हो जाय और किसानों तथा निम्न-मध्यम श्रेणी का आगा-पीछा बेकार साबित हो जाय। सर्वहारा के जिम्मे यही काम है।"

पूँजीवादी क्रान्ति और सर्वहारा क्रान्ति किस परिस्थिति में होती है और दोनों की खसूसियतें क्या हैं, दोनों में किसमें क्या आसानी और क्या दिक्कत है इसका विस्तृत मार्मिक विवेचन लेनिन ने किया है। उसने बताया है कि पूँजीवादी-क्रान्ति के लिए यह गैरमुमकिन है कि देर तक शोषितों और पीड़ितों की सहायता पा सके। वह तो यह काम कुछी समय तक कर पाती है, जब तक मजलूमों को उससे उम्मीद रहती है, जब तक उनकी आँखें नहीं खुलती हैं। मगर सर्वहारा क्रान्ति की तो खास बात यही है कि दिनोंदिन उसे दुखिया दलों की ही मदद मिलती है, वे उसके चारों ओर जुटते ही चले जाते हैं। वह लिखता है–

"पूँजीवादी क्रान्ति और समाजवादी (सर्वहारा) क्रान्ति में जो बुनियादी फर्क हैं उनमें एक यह है कि पूँजीवादी क्रान्ति तो हमेशा ही सामन्तशाही के ही भीतर पैदा होती है। इसीलिए नयी आर्थिक संस्थाएँ धीरे-धीरे पुराने समाज के भीतर ही पैदा होती रहती हैं, यहाँ तक कि कारबार के तरीकों की प्रगति भी उसी में होती है और यही चीजें धीरे-धीरे सामन्तशाही समाज की सभी सूरतों में पूरा परिवर्तन कर देती हैं। पूँजीवादी क्रान्ति को तो सिर्फ एक काम करना होता है–यानी पुराने समाज में जितनी जकड़बन्दियाँ हों उन्हें नष्ट कर देना और उनसे समाज का पिण्ड छुड़ा लेना। ज्योंही यह काम हो जाता है त्योंही हरेक पूँजीवादी क्रान्ति का काम पूरा समझिये। क्योंकि इसका नतीजा यह होता है कि क्रय-विक्रय के (पण्य) पदार्थों का उत्पादन बेतहाशा बढ़ता है और इस तरह पूँजीवाद की वृद्धि तेजी से होती है।

"परन्तु समाजवादी-क्रान्ति की तो विलक्षण बात है। इतिहास का रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा होने के कारण जितने ही अधिक पिछड़े मुल्क में यह क्रान्ति शुरू हो जायगी, पूँजीवादी तरीकों को समाजवादी बनाने में वहाँ उतनी ही ज्यादा दिक्कतें होंगी। असल



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में ऐसी क्रान्ति का काम केवल नाश करना ही नहीं होता। किन्तु उसी के साथ नये काम भी इसे करने पड़ते हैं, जो हद से ज्यादा कठिन होते हैं, जैसे संगठन आदि के काम।"

दोनों क्रान्तियों की सभी विशेषताओं और विलक्षण परिस्थितियों को पाँच भागों में बाँट के उनका विशद निरूपण स्तालिन ने 'लेनिनिज्म' के बीसवें पृष्ठ में इस तरह किया है।

"1. पूँजीवादी क्रान्ति आम तौर से ऐसे समय में शुरू होती है जबकि पूँजीवादी तौर-तरीके पहले से ही कमबेश विकसित हो चुके रहते हैं। क्योंकि वे तो इस खुली क्रान्ति के श्रीगणेश के पहले ही पुरानी सामन्तशाही सोसायटी में ही पैदा होके जड़ जमाना शुरू कर चुके रहते हैं। लेकिन सर्वहारा क्रान्ति तो तब शुरू होती है जबकि समाजवादी तौर-तरीके या तो बिलकुल होते ही नहीं या, अगर होते भी हैं तो करीब-करीब सोलहों आने दुर्बल होते हैं।

"2. पूँजीवादी क्रान्ति का बुनियादी काम है शासन को हथियाना और पहले से ही मौजूद पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के अनुकूल उसे बना देना। लेकिन सर्वहारा क्रान्ति का मौलिक काम यह है कि शासन-सूत्र के हथियाने के बाद नयी समाजवादी आर्थिक व्यवस्था तैयार करे।

"3. आम तौर से शासन सूत्र पर कब्जा जमाने के बाद ही पूँजीवादी क्रान्ति की इतिश्री हो जाती है। लेकिन सर्वहारा क्रान्ति का तो श्रीगणेश ही होता है हुकूमत पर अधिकार जमाने के साथ ही। क्योंकि शासन को हथियाने के बाद पुरानी आर्थिक व्यवस्था को बदलने और नयी समाजवादी व्यवस्था कायम करने में उस अधिकार से ही मदद ली जाती है।

"4. पूँजीवादी क्रान्ति को इसकी जरूरत ही नहीं कि शासन के पुराने ढाँचे को तहस-नहस करे। क्योंकि हुकूमत की गद्दी से शोषकों के एक दल को हटा के उस पर उन्हीं के दूसरे दल को बिठाने के अतिरिक्त यह क्रान्ति और कुछ हई नहीं। लेकिन सर्वहारा-क्रान्ति का तो मतलब ही है कि शोषकों के सभी दल एक-एक करके शासन से हटा दिये जायँ और सभी मजदूरों, सभी शोषितों और सर्वहारा-वर्ग के नेताओं के हाथ में शासन की बागडोर चली जाय। इसीलिए उनके लिए तो इसके सिवाय कोई चारा ही नहीं है कि पुराने शासन-यन्त्र को चकनाचूर करके उसकी जगह नया बनायें।

"5. पूँजीवादी क्रान्ति को बहुत समय तक श्रमजीवियों और शोषितों की सहायता मिल नहीं सकती और इसका सीधा कारण यह है कि करोड़ों लोग या आम जनता तो सिर्फ श्रमजीवी और पीड़ित लोग ही हैं। लेकिन सर्वहारा-क्रान्ति तो यह काम कर सकती है और उसे यह करना ही होगा कि सभी श्रमजीवियों तथा शोषितों के साथ, सर्वहारा-वर्ग के साथ चिरस्थायी मैत्री कायम करके उसे मजबूत बनाये। क्योंकि



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किसी और तरीके से अपनी ताकत को दृढ़ करना और नयी समाजवादी आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करना उसके लिए सम्भव नहीं है।"

हमने पूँजीवादी क्रान्ति की जरूरत और स्वरूप के बारे में अपनी ओर से कुछ न कह के लेनिन आदि के वचनों के अनेक उद्धरण अब तक दिये हैं। इससे पढ़नेवाले घबरा के पूछ सकते हैं कि इतने अधिक उद्धरणों की जरूरत क्या थी? दोई-एक तो काफी थे। उन्हीं से काम चल सकता था। मगर हमारे ऐसा करने का कुछ मतलब है। जो लोग इन वचनों पर पूरा गौर करेंगे और उनके भीतर प्रवेश करेंगे उन्हें पता चलेगा कि इनकी जरूरत है। सर्वहारा और पूँजीवादी क्रान्तियों के पहलुओं पर इनसे प्रकाश पड़ता है। किस दशा में कौन-कौन-सी क्रान्ति आती हैं, होती है, कब किस क्रान्ति की पुकार मचेगी और उसमें कौन-कौन-से लोग या दल साथ देंगे, किन्हें साथ लेने की कोशिश होनी चाहिए, किन्हें तटस्थ या उदासीन बना देना चाहिए, कब किससे लड़ना चाहिए, आदि बातों पर इससे पूरा प्रकाश पड़ता है। इनमें किसी एक वचन के न देने पर कोई-न-कोई पहलू छूट जायगा, और वह ठीक समझ में न आ सकेगा।

एक बात जो अच्छी तरह साफ हो जाती है वह यह है कि दरअसल ये दोनों दो स्वतन्त्र क्रान्तियाँ नहीं हैं, जिनका या तो परस्पर सम्बन्ध हई नहीं, या अगर है भी तो वैसा ही जैसा किन्हीं दो स्वतन्त्र चीजों का होता है। एक ही लम्बी और चिरस्थायी क्रान्ति के ही ये दो पहलू हैं जिन्हें पूँजीवादी और सर्वहारा क्रान्तियों के नाम से पुकारा जाता है। श्रमिकदल की कुछ मजबूरियाँ होती हैं, जिनके करते एकाएक सर्वहारा-क्रान्ति न करके पूँजीवादी क्रान्ति का ही झण्डा उसे उठाना पड़ता है। जब तक वह दल समूचा का समूचा या अधिकांश खूब अच्छी तरह तैयार नहीं रहता, कम-से-कम उसका अग्रदूत तो सर्वात्मना तैयार हो और बाकी उसकी शुभ-कामना तो चाहें ही, जब तक उसमें जीती-जागती वर्ग-चेतना नहीं रहती, जब तक वह लक्ष्य सिद्धि के लिए, जैसा कि पहले कह चुके हैं, जान हथेली पर लिये खड़ा नहीं रहता, जब तक पूँजीवादी और निम्न-मध्यम वर्ग के लोगों में आगा-पीछा की मनोवृत्ति और असमर्थता की हालत बनी रहती है और उनकी धाक आम जनता पर से हटी नहीं रहती है, फिर भी परिस्थिति उस समय ऐसी हो जाती है कि खामखा क्रान्ति का बिगुल बजाया जाय, तो उस समय सिवाय पूँजीवादी क्रान्ति के और होई क्या सकती है? सर्वहारा और गरीब किसानों की मैत्री जब तक खूब मजबूत और पक्की नहीं हो जाती, उसी हालत में यदि क्रान्ति का वायुमण्डल हो जाय तो वह तो पूँजीवादी ही होगी। सर्वहारा क्रान्ति का तो सामना ऊपर लिखी सभी बातों के रहते ही होता है—तभी वह सफल हो सकती है।

दूसरी बात यह है कि जो लोग पूँजीवादी क्रान्ति में साथ देते हैं, दे सकते हैं वे सबके सब समाजवादी क्रान्ति में साथ नहीं देते, नहीं दे सकते। दृष्टान्त के लिए धनी किसानों को ही ले सकते हैं।...(मूल प्रति 118-119 उपलब्ध नहीं है?)



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"रूस की वर्तमान परिस्थिति की विलक्षणता यह है कि क्रान्ति की पहली सीढ़ी, जिसमें सर्वहारा की अधूरी वर्गचेतना और अपूर्ण संगठन के करते शासन की बागडोर पूँजीपतियों के हाथ में चली गयी, और अगली (दूसरी) सीढ़ी, जिसमें यह बागडोर सर्वहारा तथा गरीब किसानों के हाथ में जायगी ही, के बीच का सन्धि-काल यही है।

"इस सन्धि-काल की पहली खास बात यह है कि यहाँ लोगों को अधिक-से-अधिक आजादी इस समय है। क्योंकि सभी लड़ाकू देशों में सबकी अपेक्षा ज्यादे-से-ज्यादा स्वतन्त्र इस समय रूस ही है। दूसरी खास बात यह है कि इस समय आम जनता के साथ खून-खराबी और जोर-जुल्म से काम नहीं लिया जा रहा है। तीसरी बात यह है कि जनता का भोला-भाला विश्वास अभी पूँजीवादियों की सरकार में है, हालाँकि वह सरकार शान्ति और समाजवाद का जानी दुश्मन है।

"इस असाधारण परिस्थिति का तकाजा है कि हम लोग उन असंख्य श्रमजीवियों में, जिनमें अभी-अभी अभूतपूर्व राजनीतिक चेतना आयी है, अपनी पार्टी की जरूरतों के अनुसार काम करने की योग्यता अपने भीतर लायें।"

इससे तो स्पष्ट हो जाता है कि क्रान्ति की पहली सीढ़ी पर पाँव देना निहायत जरूरी है, अनिवार्य है। क्योंकि इसी के चलते दूसरी सीढ़ी पर पाँव देने के पहले उसकी तैयारी का मौका बीच में मिल जाता है। जिन असंख्य श्रमजीवियों और मिहनतकश (कमानेवाले) किसानों के बल पर हमें आगे की सीढ़ी पर चढ़ना है वे तो पहली सीढ़ी के फलस्वरूप ही राजनीतिक जीवन पाते हैं, उनमें अभूतपूर्व जागृति आती है। इस पहली सफलता के चलते ही तो उनमें आशा का संचार होता है कि हमारी विपदा भागेगी। नहीं तो निरंकुश शासन और जमींदारी जुल्मों के मारे वे पस्त रहते हैं, उनमें इस बात की उम्मीद रहती ही नहीं कि उनके दिन भी पलटेंगे। पूँजीवादी क्रान्ति की पहली सीढ़ी बलात् उनकी आँखें खोल देती है—उन्हें क्रान्ति के कामों और राजनीतिक मामलों में ख़ामखाह घसीट लाती है।

तीसरी बात यह है कि पूँजीवादी क्रान्ति में खतरे कम होने के कारण उसमें जहाँ एक ओर सफलता आसानी से मिल सकती है बनिस्बत सर्वहारा-क्रान्ति के, तहाँ दूसरी ओर यह भी साफ-साफ नजर आता है कि हम कितने गहरे पानी में हैं। यों तो जबान से सभी लोग मदद करते रहते हैं। मगर जब तक मौके पर अमली तौर से जाँच न कर ली जाय कि किसकी बातों में कितनी असलियत है, कौन शत्रु हैं और कौन मित्र, तब तक ऐन मौके पर समाजवादी क्रान्ति के समय धोखा हो सकता है। मगर यह जाँच होई नहीं सकती, यदि पूँजीवादी क्रान्ति की ओर सर्वहारा लोग पहले न बढ़ें। यही तो कसौटी है। जैसा कि पहले कहा है, लड़ाई के दौरान में ही पीड़ित जनता अपनी ओर खिंच आती है। उसी समय यह साफ-साफ पता चल जाता है कि कौन कहाँ तक साथ देंगे। यही कारण है कि अपनी कमी को



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जान के सन्धि-काल में उसकी पूर्ति का मौका पूरा-पूरा लगता है। यही बात लेनिन के इस द्वितीय मन्तव्य से स्पष्ट होती है।

चौथी बात यह है कि जैसा कि लेनिन ने बताया है, जनता तो भोली-भाली होती है। उसका विश्वास तो पूँजीवादियों में रहता ही है। वह, तो उनकी बातों और स्पीचों पर मुग्ध रहती है। वह उन्हीं चीजों से उन्हें तौलती है। यह तो उसका स्वभाव ही है। यह भी पक्की बात है कि वे लोग पीछे ख़ामखाह जनता को धोखा देते ही हैं। लेकिन दिक्कत यही है कि वह यह समझती ही नहीं, जब तक उसके माथे न पड़े। अपनी आप बीती के बिना उसकी आँखें खुलती ही नहीं। केवल लेक्चर और अखबारों से उसके इस अन्धविश्वास को हम हटा नहीं सकते। इसी बात को लेनिन ने बिना सोचे-समझे यकीन कर लेना (Unthinking trustfulness) के नाम से बार-बार कहा है। लेकिन पूँजीवादी क्रान्ति के बाद जो सन्धि-काल होता है और जिसमें अगली क्रान्ति की तैयारी की जाती है, उसी में पूँजीवादियों की पोल भी खुल जाती है। क्योंकि जनता के सामने बार-बार किये गये अपने लम्बे-लम्बे वादों को वे पूरा तो कर सकते नहीं। बस, जनता को उन्हें पहचानने का मौका मिल जाता है। जब उनकी ही सरकार होने पर भी वे वादों को पूरा नहीं करते, तो जनता का विश्वास रहे कैसे? रूस में यही हुआ। पूँजीवादियों के हाथ में शासन आने पर भी न तो किसानों को वे जमीनें दे सके, न रोटी का ही सवाल हल कर सके और न लड़ाई ही बन्द कर सके। इस तरह जनता उनसे दिल से बिगड़ गयी। यदि पूँजीवादी क्रान्ति पहले हुई न रहती, तो यह बात कभी न होती। और ऐसा होने से ही सर्वहारा क्रान्ति में विजय आसान हो गयी।

पाँचवीं बात यह है कि जैसे अखाड़े में लड़ने का अभ्यास करने के बाद ही बाहर भारी पहलवान से लड़ सकते और उसे पछाड़ सकते हैं, या जैसे नाटक के पहले उसकी नकल करके खेलनेवाले अभ्यास करते हैं, तभी नाटक खेलने में उन्हें पूरी सफलता मिलती है। इसे ही अँगरेजी में रिहर्सल (Rehearsal) कहते हैं। ठीक वही बात पूँजीवादी क्रान्ति में होती है। यह तो आसान सीढ़ी होती है। इसमें साथी भी प्रभावशाली लोग हो जाते हैं। इसमें कोई नयी सामाजिक व्यवस्था बनाने का सवाल तो हई नहीं। सामन्तशाही के गर्भ में ही जो पूँजीवादी व्यवस्था पहले से ही आ गयी रहती है उसे ही बाहर लाने और विकसित करने का काम ही तो करना होता है। समाज तो पुराना ही रहता है। धीरे-धीरे उसे ही सुधारते जाते हैं। इसी तरह पूँजीवाद जवान हो जाता है। सरकार का ढाँचा वही रहता है। सिर्फ होता यही है कि शोषकों के एक दल को हटा के उस पर दूसरे को बिठाया जाता है। मगर सर्वहारा-क्रान्ति में तो नयी दुनिया बनाना होता है। पहला शासनयन्त्र चूर-चूर करके नया—ताजा-ताजा—बनाना पड़ता है। सभी शोषकों को हटा के शोषितों को गद्दीनशीन करना पड़ता है। इसीलिए यह बहुत ही कठिन है। इसी के लिए पूँजीवादी क्रान्ति



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रिहर्सल का काम देती है। जिस प्रकार रूस में सन् 1917 ई. की फरवरी वाली पूँजीवादी क्रान्ति का रिहर्सल सन् 1905 ई. वाली असफल क्रान्ति थी। लेनिन ने ऐसा ही कहा है जैसा कि विदेश से लिखे उसके पत्रों (Letters from afar) से स्पष्ट है। वह लिखता है कि, "फरवरी वाली क्रान्ति जो आठ दिन में पूरी हुई उसके बारे में यदि आलंकारिक भाषा में कहा जाय तो कह सकते हैं कि यह नाटक पहले दर्जनों अभ्यास और रिहर्सल के बाद ही ठीक-ठीक खेला जा सका। इसीलिए इसमें नाटक के हरेक पात्र एक-दूसरे को बखूबी जानते थे। किनका क्या स्थान है, किन्हें क्या करना है और खेला कैसे जायगा यह सब कुछ उन्हें ज्ञात था। हर ब्योरे को वे अच्छी तरह जानते थे यहाँ तक कि छोटी-सी-छोटी राजनीतिक विचारधारा और काम के तरीके उन्हें सबों के बारे में पूर्ण अवगत थे।" ठीक उसी तरह 1917 की अक्टूबर वाली सर्वहारा क्रान्ति का रिहर्सल फरवरी वाली थी।

छठी बात यह है कि आखिर समाजवादी या सर्वहारा क्रान्ति का काम तो यही है कि नयी सामाजिक व्यवस्था बनायें। यह करने में उसे पूँजीवादी प्रणाली को मिटाना पड़ता है। उसी की जगह नयी प्रणाली बनायी जाती है ऐसा सभी मानते हैं। मगर जब तक पूँजीवादी प्रणाली कायम हुई ही नहीं, तभी तक उसके नाश का, या उसे हटा के नयी व्यवस्था कायम करने का प्रश्न उठी कैसे सकता है? सामन्तशाही व्यवस्था में तो पूँजीवाद का गर्भ मात्र रहता है। तब तो वह विकसित भी नहीं हो पाती, पूर्ण विकास की तो बात ही जुदी है। लेकिन गर्भपात करवाना और बनी-बनायी चीज का नाश करना दोनों एक बात है नहीं। पूँजीवादी व्यवस्था के नाश करने पर उसकी हड्डियों और राख-मांस से नयी सामाजिक व्यवस्था की नींव बनती हैं, ईंटें बनती हैं। गारा-सुर्खी बनती है। गर्भपात करने से तो यह होने का नहीं। दधीचि की हड्डी की जरूरत थी वृत्रासुर के संहार के लिए, या वज्र बनाने के लिए, ताकि असरों से देवताओं की रक्षा हो। लेकिन दधीचि को गर्भ में ही मार देने से वह हड्डी कैसे मिलती?

सातवीं बात यह है कि सर्वहारा क्रान्ति तो समाजवाद का निर्माण करती है और समाजवाद का अर्थ ही यही है कि जो जितना काम करे उसके हिसाब से उसे जीवन के लिए जरूरी सभी सामान मिलें। पीछे तो यह बात बदल जाती है और ऐसा हो जाता है कि हर आदमी से उतना ही और वही काम कराया जाय जो वह कर सके और जितना कर सके। मगर उसे जितनी चीजें आराम आशाइश के लिए आवश्यक हों उतनी जरूर दी जायँ—'From every one according to his capacity, to every one according to his needs.' लेकिन सामन्तशाही और जमींदारी के युग में तो छोटे-छोटे खेत होते हैं और नन्हे-नन्हे कारखाने। उनमें तो इतनी चीजें, इतना गल्ला वगैरह, इतने सामान पैदा होई नहीं सकते कि बढ़ती हुई जनसंख्या की भूख भी शान्त हो सके, उसका तन भी ढँक सके, उसे औषधि और झोंपड़े भी मिल सकें। ऐसी हालत में तो लोगों को काम करने का मौका ही नहीं मिलता। हट्टे-कट्टे स्त्री-पुरुष



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

न खेत पाते कि जोतें-बोयें और न दूसरा ही काम पाते हैं। तब यह कैसे होगा कि सभी को काम करने की पूरी सुविधा होगी और उसी हिसाब से पारिश्रमिक या वेतन मिलेगा? तब समाजवाद का यह वसूल कैसे लागू होगा? समाजवाद की पूरी प्रगति हो जाने पर जो सभी की सारी जरूरतों की चीजें मिलने की बात है, उसका तो कुछ कहना ही नहीं है। वह तो अभी असम्भव-सी बात है।

असल में सामन्त-युग में उत्पादन की सारी शक्तियों पर बन्धन लगा रहता है। वह जकड़ी रहती हैं। इसे ही लेनिन ने 'समाज की पुरानी बेड़ियों' (The fetters of the old society) कहा है। उनका विकास होने ही नहीं पाता। इसीलिए पूँजीवाद की जरूरत होती है। ताकि वे ताकतें हिरण की चौकड़ी की चाल से आगे बढ़ें। देखा भी जा रहा है कि पूँजीवाद ने विज्ञान, साइंस और कल-कारखानों की आश्चर्यजनक उन्नति की है। जहाँ पहले जरूरत की चीजों का अभाव-सा रहता था, तहाँ अब वह इतनी ज्यादा बनने लगी हैं कि उन्हें पूछनेवाले ही नहीं रहे। जिस तेजी से संसार की जनसंख्या बढ़ रही है उससे कहीं ज्यादा तरक्की उत्पादन की शक्तियाँ कर रही हैं। इसलिए चाहे जो चीज जितनी चाहिए आसानी से मिल सकती है। यह नहीं हो सकता है कि संसार की जनसंख्या की जरूरतों की पूर्ति करने के लिए चीजें न हों। हालत तो यह है कि यद्यपि सन् 1931 ई. में संसार की सम्मिलित जनसंख्या मोटा-मोटी दो अरब (2012000000) थी और राष्ट्रसंघ ने हिसाब लगाकर यह भी बताया है कि दो करोड़ के करीब हर साल बढ़ती है। (Daily Herald 8.7.32—London) फिर भी 7 मार्च, सन् 1931 वाले लन्दन के 'स्पेक्टेटर' पत्र में डॉ. आर.ए. फिसर का जो वक्तव्य छपा था उसमें सर जार्ज निब्ज का का हवाला देते हुए लिखा गया है कि "भूमण्डल की सारी उत्पादन शक्तियों का हिसाब लगाने से पता चलता है कि अभी भी वर्तमान की चौगुनी जनसंख्या का अच्छी तरह भरण-पोषण हो सकता है।"

इतना ही नहीं। सन् 1918 ई. में लार्ड लिवरहुम ने प्रो. स्पूनर की किताब 'वेल्थ फ्राम वेस्ट' की भूमिका में लिखा है कि "विज्ञान ने अब तक जितने साधन हमें दिये हैं उनके बल से सभी लोगों—हरेक की—भोजन, घर और कपड़े आदि की जरूरतों को पूरा किया जा सकता है, यदि हममें हर आदमी स्कूल जाने की उम्र से लेकर बुढ़ापा आने के पहले तक हफ्ते में केवल एक घण्टा काम करे।"

उसके पन्द्रह वर्ष बाद 20 जून, सन् 1932 ई. में इंजीनियर जे.एल. हॉगसन ने एक लेख 'रायल सोसायटी ऑफ आर्ट्स', के सामने पढ़ा था। उसमें पूर्वोक्त वक्तव्य को मानके उसने कहा था कि "तब से हमारी—भूमण्डल की—उत्पादन शक्ति प्रायः दूनी हो गयी है।" इसका सीधा अर्थ यह है कि यदि हर आदमी हफ्ते में केवल आधा घण्टा काम करे तो भी हरेक की सभी जरूरतें पूरी हो सकती हैं। और सन् 1932 ई. के बाद इधर नौ-दस साल में तो और भी प्रगति हुई है। फलतः प्रति सप्ताह



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

15-20 मिनट काम कर देना ही मानव-समाज की सभी जरूरी चीजों के पैदा कर देने के लिए काफी है। इसीलिए समाजवाद और साम्यवाद के युग में हमें शेष समय में अपनी सर्वतोमुखी उन्नति करने, दिल-दिमाग को पूर्ण विकसित बनाने और कला एवं विज्ञान को चरम सीमा पर पहुँचाने का पूरा अवसर मिल सकता है। हम इतनी प्रगति कर सकते हैं कि बीमारियों की जड़ ही खत्म कर दें, मौत को भी मिटा दें, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि को होने दें ही न और आकाशस्थ अन्य ग्रह, उपग्रहों के साथ आवागमन जारी कर दें। यह बात विज्ञान के लिए असम्भव नहीं जान पड़ती।

यही कारण है पूँजीवादी-क्रान्ति के जरिये उत्थान के साधनों का पूरा प्रसार करके हम समाजवादी क्रान्ति का रास्ता साफ करते हैं। जैसे दधीचि की अस्थि की जरूरत इन्द्र को हुई, वैसी ही समाजवाद और साम्यवाद को इन अत्यन्त समुन्नत उत्पादन साधनों की जरूरत है। इनके बिना काम चली नहीं सकता। यही कारण है कि पूर्व उद्धृत लेनिन के वचन में यह कहा गया है कि जितने ही पिछड़े मुल्क में सर्वहारा या समाजवादी क्रान्ति होगी उतनी ही हमारी दिक्कतें बढ़ेंगी। क्योंकि नये सिरे से सभी कल-कारखानों, वैज्ञानिक खेती आदि का संगठन भगीरथ प्रयत्न के बिना हो नहीं सकता। इसे ही लेनिन ने हद से ज्यादा कठिन काम बताया है। रूस में इन सभी संकटों का सामना करना पड़ा है। क्योंकि वह पिछड़ा मुल्क था। कल-कारखाने वहाँ बहुत ही कम थे। लेकिन फिर भी कुछ तो थे। मगर जहाँ इनका एकदम अभाव हो और शुद्ध सामन्तशाही का बोलबाला हो वहाँ कितनी मुसीबतें सर्वहारा क्रान्ति के सामने आयेंगी यह समझना कठिन नहीं है।

सबसे बड़ी और आठवीं बात यह है कि सर्वहारा क्रान्ति को सफल बनाते हैं सर्वहारा लोग ही। दूसरे तो यह काम करी नहीं सकते। यहाँ तक कि पूँजीवादी क्रान्ति के लिए भी उन्हीं का नेतृत्व अपेक्षित है अगर हम उसके बाद सर्वहारा क्रान्ति लाना चाहते हैं। मगर यह सर्वहारा-वर्ग या उसका अग्रदूत सुसंगठित और ज्वलन्त वर्ग चेतना-युक्त होने पर ही, जबकि वह लक्ष्य के लिए मर-मिटने को तैयार हो जाय, इस क्रान्ति को सफल बना सकता है। यह बात पहले ही कह चुके हैं। इस बात में कुछ कमी रहने पर भी पूँजीवादी क्रान्ति सफल हो जाती है सही। लेकिन सर्वहारा क्रान्ति तो इसकी पूरी तैयारी चाहती है।

लेकिन जैसा पहले कहा गया है, सर्वहारा-वर्ग तैयार होता है पूँजीवाद से लड़ाई करते-करते ही। वह तो पूँजीवाद के गर्भ से ही जन्म लेता है, उसी का पैदा किया हुआ है। यही कारण है कि पहले की पूँजीवादी क्रान्तियों में उसका पता ही न था। पेरिस की 1870 वाली क्रान्ति में वह पैदा हो चुका था सही। फिर भी उसका कोई वैसा महत्त्व नहीं था। इसीलिए उसे सफलता नहीं ही मिली। अगर पैदा भी हुआ था तो पूँजीवाद के ही करते। मगर बीसवीं सदी के आरम्भ में तो उसका समाज में एक महत्त्वपूर्ण स्थान हो चुका था। यही कारण था कि लेनिन और उसके साथियों



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ने सर्वहारा की स्थिति का विचार करके भविष्य में हर तरह की क्रान्तियों का नेतृत्व उसी के माथे मढ़ा। उसे छोड़ के काम चली नहीं सकता था। उसकी उपेक्षा की जा सकती थी नहीं।

रूस में यद्यपि पूँजीवादी क्रान्ति का उद्योग दो बार किया गया और पहली बार सन् 1905 ई. में सफलता न मिल के सन् 1917 ई. की फरवरी में ही उसे सफलता भी मिली। तथापि उस दल का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान उस समय—1905 में भी—हो चुका था। क्योंकि कल-कारखाने यद्यपि स्वतन्त्र रूप से खोले न जाकर जारशाही की मर्जी से ही खोले जा सकते थे, और इसीलिए उसे मिटाने के लिए पूँजीवादी क्रान्ति की जरूरत भी थी, ताकि नये उद्योग-धन्धों का निराबाध प्रवाह चले। फिर भी जो कारखाने खुले थे—क्योंकि उनके बिना जारशाही का भी काम साम्राज्यवादी युग में चल सकता न था, अन्य राष्ट्रों से मुकाबिला जो करना पड़ता था—वह अधिकांश परले दर्जे के थे। अत्यन्त समुन्नत पूँजीवादी देशों के ही पूँजीपतियों ने अधिकांश कारखाने खोले थे, और वे कारखाने बहुत ही बड़े और नवीन से नवीन आविष्कृत मशीनों से चलते थे। इसीलिए रूस के लेनिनग्राड, मास्को आदि कुछ ही शहरों में मजदूरों का जमघट हो गया था। वे थे भी एक-एक कारखाने में बहुत ज्यादा तादाद में। इससे उनके संगठन में आसानी थी। बड़े-से-बड़े कारखाने होने के कारण उन्हें बराबर ही लड़ते रहना पड़ता था। इसीलिए उनमें और देशों से मुस्तैदी अपेक्षाकृत ज्यादा थी। वे क्रान्ति में सफल भी इसी से हो सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वहारा क्रान्ति की सफलता के लिए जिस दल के कुशल नेतृत्व की जरूरत है वह है वही सर्वहारा और उसका पूर्ण विकास बिना निरंकुश पूँजीवाद के हो सकता नहीं। जैसे-जैसे पूँजीवाद बढ़ता है वैसे-वैसे सर्वहारा-वर्ग संगठित और मजबूत बनता जाता है। इसीलिए पूँजीवादी क्रान्ति के बिना सर्वहारा क्रान्ति होई नहीं सकती। वह अनिवार्य है।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# सर्वहारा का नेतृत्व

हमें यहाँ अब इस बात की जरूरत मालूम होती है कि सर्वहारा-वर्ग के जिस नेतृत्व का बार-बार नाम अब तक लिया गया है उस पर विशेष प्रकाश डाला जाय। पूँजीवादी क्रान्ति का नेतृत्व भी जब सर्वहारा श्रेणी ही करेगी, उसे ही करना चाहिए, यह माना जाता है, तो इस नेतृत्व की सफाई हुए बिना काम चल नहीं सकता। हम कैसे जान सकते हैं कि किसका नेतृत्व है? आखिर पूँजीवादी क्रान्ति की लड़ाई में तो पूँजीवादी भी भाग लेते ही हैं और निम्न-मध्यम-वर्ग के बाबू लोग भी। किसान भी—सभी तरह के धनी-गरीब—उसमें शामिल होते ही हैं। तब इस बात की पहचान क्या है कि किसका नेतृत्व है? यह भी नहीं कि जिससे पूछके काम किया जाय वही नेता हो। हमेशा तो कमेटियों के द्वारा ही यह काम होता है और उनमें जो लोग चुने जाते हैं वह सबों की राय से ही। किसी एक श्रेणी या वर्ग की न तो वे कमेटियाँ ही बनती हैं और न खास श्रेणी के लोग उस काम में राय ही देते हैं कि कमेटी में कौन रखे जायँ, कौन नहीं। वह तो क्रान्ति के लिए लड़नेवाले सभी वर्गों की सम्मिलित सम्मति से बनती हैं। हमारे देश में कांग्रेस को ही ले सकते हैं। जब वह आजादी के लिए लड़नेवाली मानी जाती है, तब तो कहना ही होगा कि बूर्ज्वा क्रान्ति ही उसका लक्ष्य है। मगर उसकी सभी कमेटियाँ सभी वर्गों के मेम्बरों की राय से ही बनी मानी जाती हैं। इस हालत में नेतृत्व किस वर्ग का है इसका निश्चय किसी और ढंग से करना ही होगा। इसी के साथ यह भी सवाल होता है कि सर्वहारा का नेतृत्व रहने से उस क्रान्ति को भी सर्वहारा क्रान्ति ही क्यों नहीं कहते?

बात तो सही है। नेतृत्व की कोई पक्की पहचान हुए बिना धोखा हो सकता है, हो जाता है। उसकी तो पहचान ख़ामखाह इतनी साफ होनी चाहिए कि कोई भी आसानी से जान सके कि किसका नेतृत्व है। सर्वहारा का नेतृत्व रहने के कारण उसे सर्वहारा क्रान्ति कहने में तो कोई हर्ज है नहीं। लेनिन ने ऐसा कहा भी है। पूँजीवादी क्रान्ति तो उसे इसीलिए कहते हैं कि उसकी असलियत, उसका हीर, उसकी भीतर-बाहर की बनावट दरअसल पूँजीवादी है, पूँजीवादी विकास के ही लिए है। मगर इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से कुछ न कहके इसके आचार्य लेनिन



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की ही राय देना उचित समझते हैं। सन् 1905 ई. की 22वीं जनवरी, रविवार को जारशाही ने जो अपने महल के सामने हजारों निरस्त्र स्त्री-पुरुष-मजदूरों का गोली से वध करवाया था। उसके करते तभी से उस रविवार को खूनी (Bloody Sunday) कहने लगे हैं। इसी खूनी रविवार की 12वीं वर्षगाँठ मनाने के समय सन् 1917 ई. की 22वीं जनवरी को स्विट्जरलैंड के जूरिच नगर में व्याख्यान देते हुए लेनिन ने कहा था कि—

"चन्द ही महीनों में हालत सोलहों आना बदल गयी। सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के मेम्बर जहाँ पहले थे सैकड़ों, तहाँ वे हो गये एकाएक अब हजारों। हजारों तो बीस से तीस लाख तक श्रमिकों (सर्वहारा) के नेता बन गये। शहरों में सर्वहारा की लड़ाई का नतीजा यह हुआ कि पाँच से लेकर दस करोड़ तक किसानों के भीतर उथल-पुथल और अकसर क्रान्तिकारी आन्दोलन शुरू हो गया। और किसानों के इस आन्दोलन का प्रभाव फौज पर पड़ा। जिससे फौजी सिपाहियों में बगावत फैल गयी और उनमें एक दल की सशस्त्र मुठभेड़ दूसरे दल से होने लगी। इस प्रकार तेरह करोड़ निवासियों वाला यह बड़ा-सा देश, रूस, क्रान्ति की लड़ाई में पड़ गया। इसी तरह सदियों का सोया रूस क्रान्तिकारी सर्वहारा और विप्लवी जनता के रूस के रूप में परिणत हो गया।

"इस परिणति को लाने में जिस प्रधान साधन ने काम किया था वह थी मजदूरों की हड़ताल। इस रूसी क्रान्ति की विलक्षणता यह है कि यद्यपि इसकी सूरत-शक्ल तथा भीतरी बनावट है पूँजीवादी जनतन्त्र क्रान्ति की। तथापि लड़ाई के तरीके के लिहाज से इसे सर्वहारा क्रान्ति भी कह सकते हैं। यह पूँजीवांदी जनतन्त्र क्रान्ति तो इसलिए कही जाती है कि जिस लक्ष्य के लिए इसने प्रत्यक्ष रूप से यत्न किया और जिसे अपनी शक्ति के बल से स्पष्ट तथा सीधे हासिल भी किया वह थी जनतन्त्र शासन-प्रणाली, मजदूरों के लिए दिन में आठ घण्टे से ज्यादा काम करना नहीं पड़ता, और बड़े-बड़े जमींदारों की जमींदारियों की जब्ती ! ये चीजें ऐसी हैं जिन्हें फ्रांस की पूँजीवादी क्रान्ति ने ही 1792 और 1793 में प्रायः पूर्णरूप से प्राप्त किया था।

"साथ ही साथ यह रूसी क्रान्ति सर्वहारा क्रान्ति भी थी। यह केवल इसी मानी में नहीं कि इसकी मुख्य नेतृत्व शक्ति सर्वहारा की थी, वही इस आन्दोलन के अग्रदूत थे। लेकिन इस मानी में भी यह सर्वहारा क्रान्ति थी कि इसमें लड़ाई का प्रधान साधन थी सर्वहारा की अपनी चीज, यानी हड़ताल। इसी के जरिये प्रधान रूप से जनसमूह को तैयार किया गया—उठाया गया। उस समय लहरों के ताँतों की तरह जो निर्णायक घटनाएँ घटीं उनके लिए खासतौर से इसी हड़ताल को जवाबदेह माना जाता है।"

लेनिन के इस लम्बे वाक्य ने कई बातें साफ कर दी हैं। एक तो उसने बार-बार



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कहा है कि पूँजीवादी क्रान्ति को उसकी लड़ाई के मुख्य साधन और अस्त्र—हड़ताल—की दृष्टि से उसे सर्वहारा क्रान्ति कहने में कोई हर्ज नहीं है। मगर सिर्फ इसी खयाल से। न कि उसकी रूपरेखा और भीतरी बनावट के खयाल से। उस विचार से और जिन बातों के लिए वह की गयी उनके लिहाज से भी उसे पूँजीवादी क्रान्ति ही कहना वाजिब है। जिन सामाजिक सुधारों या किसान-मजदूरों की माँगों को उसने पूरा किया, या यों कहिये कि जिन्हें पूरा करने के लिए वह की गयी उनकी दृष्टि से तो वह पूँजीवादी जनतन्त्र क्रान्ति ही थी। मजदूरों के लिए आठ घण्टे काम करना, बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ मिटा के किसानों को जमीन मिलना और गणतन्त्र शासन ये तीनों बातें तो पूँजीवादी क्रान्ति के ही फल हैं।

दूसरी बात की जो सफाई इसमें है वह है सर्वहारा के नेतृत्व की। इस सम्बन्ध में दो बातें कही गयी हैं। सर्वहारा का नेतृत्व मानने के लिए पहली जरूरी शर्त यह है कि क्रान्ति की लड़ाई का अग्रदूत, उसमें आगे-आगे चलनेवाला, उसकी लड़ाई का श्रीगणेश करनेवाला और लड़नेवाली सभी जमातों को—सभी लोगों को—खींच कर अपने साथ ले चलनेवाला सर्वहारा-वर्ग ही होना चाहिए। उसने सबसे पहले लड़ाई का बिगुल बजा के उसका रास्ता जब दिखा दिया कि यह कैसे लड़ी जाय, तो उसके बाद चाहे भले ही दूसरे-दूसरे लोग भी मौका देखके बीच-बीच में जहाँ-तहाँ लड़ाई चलाते रहें और उसे सँभालते रहें। मगर आखिरी जवाबदेही और समय-समय पर पथ-दर्शन सर्वहारा ही के जिम्मे रहना चाहिए। वही जब चाहे जैसे वह लड़ाई चलाये या बन्द करे।

नेतृत्व की दूसरी और महत्त्वपूर्ण शर्त, जिससे साफ-साफ नेतृत्व का पता लग जाय और लड़ाई पर सर्वहारा की मुहर लग जाय, यह है कि हड़तालें हों। सार्वजनिक हड़तालें (general strikes) या स्थानीय हड़तालें (local strikes) परिस्थिति के अनुसार जरूरत देखकर की जायँ। हड़तालें भी दो तरह की होती हैं—आर्थिक और राजनीतिक। काम का घण्टा कम करने, वेतन बढ़ाने या इसी तरह की मजदूरों की अपनी खास माँगों को मनवाने के लिए जो हड़ताल की जाती है और इस तरह जिसके द्वारा कारखानेदार मजबूर किये जाते हैं उसे ही आर्थिक हड़ताल (Economic Strike) कहते हैं। इसका लक्ष्य होता है मजदूरों को आराम पहुँचाना, उनकी आर्थिक जिन्दगी सुधारना और उनमें आत्म-सम्मान लाना। मगर इस हड़ताल का असली लक्ष्य होता है मजदूरों को लड़ाई की तालीम देना। इस मामले में ये हड़तालें अखाड़े और शिक्षण शिविर (Training Camp) का काम देती हैं। इन्हें चलाते-चलाते मजदूर लड़ने में कुशल हो जाते हैं, उनमें संगठन, एकता और जत्थेबन्दी पैदा हो जाती है। उनमें अपनी ताकत का ज्ञान, संगठन की महत्ता का अनुभव और वर्ग चेतना इन्हीं हड़तालों के फलस्वरूप आ जाती है। फिर मौका पड़ने पर राजनीतिक हकों के लिए वे जब चाहें बखूबी लड़ सकते हैं।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

राजनीतिक हड़ताल (Political strike) उसे कहते हैं जो किसी राजनीतिक माँग को पूरा कने के लिए की जाती है। रूस के गृहयुद्ध (civil war) के समय—सन् 1917 ई. की अक्टूबर वाली क्रान्ति के बाद—जब इंगलैंड से अस्त्र-शस्त्रादि जहाजों पर लाद के क्रान्ति-विरोधियों की सहायता के लिए भेजे जा रहे थे, तो वहाँ के मजदूरों ने हड़ताल कर दी। फलतः वे जहाज रवाना होई न सके और ब्रिटिश सरकार को यह काम बन्द कर देना पड़ा। वही राजनीतिक हड़ताल थी। इसी प्रकार जब जर्मनी की राजधानी बर्लिन के प्रधान सेनापति जनरल बैरन वान लटविज ने बीमार वाले विधान (Weimar Constitution of republic) को मटियामेट करने के लिए ता. 12-3-1920 को अपने आठ हजार फौजी सिपाहियों की मदद से बर्लिन पर कब्जा करके एक जनरल वान कैप (Vonkapp) को नये प्रजातन्त्र का प्रेसिडेण्ट घोषित कर दिया तो, बीमार प्रजातन्त्र के प्रेसिडेण्ट मिस्टर इबर्ट के पास एक भी फौजी सिपाही न था कि उसका मुकाबिला करें। उस समय उस प्रजातन्त्र को बचाया और कैप के यत्न को विफल किया बर्लिन के मजदूरों ने ही। उनने अपनी यूनियन के नेताओं के हुक्म का भी इन्तजार न किया और ऐसी हड़ताल कर दी कि बर्लिन का सारा कारबार ही बन्द हो गया—न पानी मिलता था, न रोशनी मिलती थी, न ट्राम चलती थी और न रेल। नतीजा यह हुआ कि कैप और उसके सिपाही किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर भाग गये। कैप स्वीडन भाग गया और मजदूरों की विजय हो गयी। वह हड़ताल भी राजनीतिक हड़ताल थी।

जहाँ क्रान्ति में सर्वहारा का नेतृत्व होता है वहाँ ऐसी ही हड़तालें होती हैं। राजनीतिक हड़तालों का ताँता बँध जाता है। एके बाद दीगरे हड़तालें होती रहती हैं। रूस की सन् 1905 ई. वाली तथा सन् 1917 ई. की फरवरी और अक्टूबर वाली क्रान्तियों का श्रीगणेश इन हड़तालों से ही हुआ था। लगातार कई दिनों तक वे जारी रहीं। आम हड़तालों ने ही सबसे बड़ा काम किया। यह ठीक है कि स्थानीय हड़तालों के द्वारा ही मजदूरों में और आम जनता में गर्मी लायी जाती है। हड़तालों के साथ प्रदर्शन और जुलूस (Processions and demonstrations) होते हैं और लोगों में काफी उत्तेजना आ जाती है। उसके बाद आम हड़ताल के साथ ही विराट प्रदर्शन होते हैं। फिर तो युगान्तर होके ही रहता है। यह भी सही है कि कहीं-कहीं आर्थिक हड़तालों से ही शुरू करके उन्हें राजनीतिक हड़तालों में परिणत कर देते हैं। ये स्थानीय हड़तालें ही फिर व्यापक बन जाती हैं। मगर क्रान्ति की लड़ाई की सफलताओं और जीत राजनीतिक हड़तालों से ही होती है। राजनीतिक हड़तालों को सफल बनाने में ही परिस्थिति के अनुसार आर्थिक हड़तालें सहायक होती हैं। उनका स्वतन्त्र मूल्य क्रान्ति में नहीं होता। इन्हीं राजनीतिक हड़तालों का महत्त्व लेनिन के उद्धृत वाक्यों में बताया गया है।

रूस के ही अनुभव से उसने बताया है कि मजदूरों की इन हड़तालों की बिजली



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किसानों में दौड़ गयी और करोड़ों-करोड़ किसान उस लहर में बह गये ! जगह-जगह जमींदारियों पर उनने हमले कर दिये। और जब किसानों में यह गर्मी तेज हुई तो फौजी सिपाहियों में भी उत्तेजना आयी। फौज में भी बगावत का झण्डा खड़ा हो गया। वहाँ जो दल जारशाही के नमकहलाल और भक्त थे उनसे और उत्तेजित सिपाहियों के दलों से जगह-जगह भिड़न्त हो गयी ! क्रान्तिकारियों की संख्या जो सैकड़े की तादाद में मुश्किल से थी वह हजारों की हो गयी। यहाँ तक कि बीस से तीस लाख तक मजदूर इस ओर सिर्फ आये ही नहीं, किन्तु केवल उनके नेतृत्व का काम हजारों क्रान्तिकारी ही करने लगे। इस प्रकार एक कोने से दूसरे कोने तक आग लग गयी–किसान, मजदूर और फौजी सिपाही सभी क्रान्ति की लहर में बह चले !

रूस के सम्बन्ध में एक और बात जान लेना निहायत जरूरी है। वहाँ के किसान और शहर के मजदूर ऐसे मिले-जुले थे कि कुछ कहिये मत। शहरों के बाशिन्दे ज्यादातर किसान ही थे–यहाँ तक कि दूरदराज के गाँवों तक में ऐसे किसान थे जो आधे-साझे शहरों में रह चुके थे–रहते थे। कभी खेती-गिरस्ती करते थे, तो कभी शहरों में जाकर कोई रोजगार-व्यापार। एक आदमी शहर में रहता था, तो उसी परिवार का दूसरा देहात में। इसीलिए मजदूरों की हड़ताल और उनकी उथल-पुथल की छूत देहातों में फौरन पहुँच जाती थी। फिर तो आगे-आगे काम बढ़ता जाता था। फौजी जवान तो किसानों के ही बच्चे होते हैं। वहाँ भी ऐसी ही बात थी। इसीलिए फौज में भी क्रान्ति की बीमारी किसानों से ही जा पहुँचती थी। रूस की इस दशा के बारे में 'रूस' नाम की हाल की छपी पुस्तक में लेखक ने अपने ही अनुभव के बल पर यों लिखा है–

"खास-खास गाँवों के किसान खास-खास ढंग की तिजारतें करते हुए ऐसी जगहों में चले जाते थे जहाँ वे तिजारतें बहुतायत से नहीं होती थीं। दृष्टान्त के लिए माली, बढ़ई, मोची, सवारी-गाड़ीवाले वगैरह-वगैरह। गाँव की पंचायत उन्हें गाँव से बाहर इसी शर्त पर जाने देती थी कि गाँव का टैक्स चुकाने के लिए वे अपनी कमाई में से कुछ भेजा करें। यह भी होता था कि बुढ़ापे में शहरों की अपनी तिजारत या अपना पेशा अपने लड़कों या भतीजों को सौंप कर किसान लोग अपने गाँवों में इसलिए चले जाते थे कि वहाँ खेती-गिरस्ती का अपने हिस्से का काम करें। मैं ऐसे गाँव के गाँव को जानता हूँ जिनका काम मुख्यतया शहरों की कमाई से चलता है। जब गर्मी में कारखाने मरम्मत के लिए बन्द हो जाते थे, तो पेट्रोग्राड रेलवे स्टेशन पर गाँववालों के झुण्ड-का-झुण्ड मिलता था, जो फसल काटने के लिए घर जाता था। मास्को शहर के एक इलाके के पादरी ने मुझसे कहा कि उसके इलाके में एक पेन्शनयाफ्ता कर्नल के अलावे सभी-के-सभी निवासी किसान् ही हैं। क्रान्ति के पहले एक गाँव में, जो किसी भी रेलवे स्टेशन से काफी दूर था और जहाँ बाहरी मैं ही था, बाकी वहीं के निवासी थे, एक सभा के समय मुझे पता चला कि करीब चालीस



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

फीसदी निवासी ऐसे थे जिनने पेट्रोग्राड या मास्को में कभी न कभी काम किया था।"

विपरीत इसके अगर कल-कारखानों में काम करनेवाले सचमुच सर्वहारा हो जायँ जिनका गाँवों से ताल्लुक ही न हो, तो यह आसानी नहीं होती—कम-से-कम मजदूरों के द्वारा यह लहर गाँवों में नहीं पहुँचती। इसीलिए कुछ दिक्कतें होती हैं। यह ठीक है कि इस जमाने में शहरों के इर्द-गिर्द ही गाँवों की जिन्दगी कायम रहती है। बिना शहरों के घनिष्ठ सम्बन्ध के गाँवों का काम चली नहीं सकता। कपड़ा-लत्ता, लोहा-लक्कड़ आदि हजार चीजों की जरूरत गाँववालों को रोज ही रहती है और यह चीजें शहरों में ही पायी जाती हैं। कचहरियाँ, अस्पताल, कॉलिज वगैरह तो शहरों में ही होते हैं और इनमें किसान बराबर ही जाते हैं। कॉलिजों में उनके लड़के, भाई वगैरह पढ़ने जाते ही हैं। इस तरह गाँवों का ताल्लुक शहरों से जुटा ही रहता है। यह दिन-ब-दिन और भी घनिष्ठ होता जा रहा है। फिर भी खुद भुक्तभोगी होके जो मजदूर अपने घर देहात में जायगा उसमें और दूर से देख-सुनके सन्देशा लानेवालों में बहुत ही अन्तर होता है। भुक्तभोगी वाली आग उसमें नहीं होती। विद्यार्थी लोग खुद हड़तालों में पकड़े या मजदूरों की बातें जान के देहातों में उसकी छूत ज्यादा अच्छी तरह ले जा सकते हैं, यदि वे सतर्क और सजग हों। रूस में भी पहले वही लोग यह काम करते थे। मगर उसका उतना असर नहीं होता था जितना खुद भुक्तभोगी किसानों का हुआ।

भारतवर्ष में भी कल-कारखानों के मजदूर अधिकांश वैसे ही हैं जैसे क्रान्ति से पहले रूसवाले थे। यहाँ भी पूँजीवाद विकसित हो पाया है नहीं। यह देश उसी तरह पिछड़ा हुआ है। शहरों की गर्मी देहातों में आसानी से यहाँ भी फैल जाती है। फैल सकती है। यहाँ भी साइमन कमीशन और बादशाह के चचा के सन् 1921 ई. में आने के समय—और दूसरे भी अनेक अवसरों पर—राजनीतिक हड़तालें देशव्यापी हुई हैं। उनने देश में काफी गर्मी और उथल-पुथल भी पैदा की है। जितनी प्रगति उनकी सफलता से हो सकी है उतनी और तरह नहीं, यह भी मानने की बात है। नया यूरोपीय युद्ध छिड़ने पर भी बम्बई आदि शहरों के मजदूरों ने राजनीतिक आम हड़ताल एक दिन की की थी। इसीलिए हमारे लिए यह कोई नयी बात नहीं है।

सर्वहारा के नेतृत्व का मूल तत्त्व यह हड़तालें क्यों मानी जाती हैं और दूसरे ढंग से आम जनता क्यों नहीं लड़े या तैयार की जाय इस बारे में भी लेनिन की उक्ति बहुत ही अहमियत रखती है। दूसरे ढंग से भी जनता को तैयार करनें को वह मना नहीं करता। मगर वह मानता है कि हड़ताल वाली लड़ाई के मुकाबिले में और तरीके फीके पड़ जाते हैं, उनकी कोई कीमत रही नहीं जाती, वे नकली ठहरते हैं। एक तरफ ये हड़तालें—आर्थिक और राजनीतिक दोनों ही—जनता को राजनीति की व्यावहारिक शिक्षा देती हैं, जो व्याख्यानों, अखबारों और किताबों में कभी मिल



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं सकती। दूसरी ओर जब आर्थिक हड़तालें राजनीतिक हड़तालों से मिला दी जाती हैं और इस प्रकार उनकी काया-पलट हो जाती है तो क्रान्ति को विजय भी फौरन मिल जाती है। जन्म-भर में भी लोग जितना और तरह से नहीं सीख पाते उतना एक ही हड़ताल में सीख जाते हैं। इस सम्बन्ध में लेनिन खुद कहता है कि–

"जब मालदार रईस और आँख मूँद के उनके पिछलग्गू लोग, जिन्हें समाज सुधारवादी कहते हैं, आम जनता की शिक्षा की बातें बहुत ही शान के साथ बोलते हैं तो आमतौर से स्कूल मास्टरों की ही बातों से उनका मतलब होता है। वह बातें किताबी ज्ञान की ही होती हैं जो जनता को कमजोर बनाती और उसमें पूँजीवादियों के संस्कार भर देती हैं।

"जनता की वास्तविक शिक्षा को कभी उसकी स्वतन्त्र, राजनीतिक और खासकर क्रान्तिकारी लड़ाई से अलग कर सकते ही नहीं। शोषित जनता को तो केवल अपनी लड़ाई ही शिक्षित करती है। सिर्फ वह लड़ाई ही उसकी अपनी शक्ति के विस्तार को उस पर जाहिर करती है, उसकी दृष्टि को विस्तृत करती है, उसकी योग्यता बढ़ाती है, उसके दिमाग को साफ करती है, उसकी इच्छा-शक्ति (दृढ़ संकल्प) को दृढ़ करती है। इसीलिए प्रतिक्रियावादियों को भी यह मानना पड़ता है कि सन् 1905 ई. के साल ने ही, जिसे लड़ाई का साल और इसीलिए 'पागल साल' भी कहते हैं, निश्चित रूप से पुराने दकियानूस रूस को दफना दिया था।"

"सन् 1905 के शुरू में अधिकांश आर्थिक और अन्त में अधिकांश राजनीतिक हड़तालें जो लोहे आदि धातुओं के कारखानों के श्रमिकों ने कीं, उससे यह बात साफ ही सिद्ध हो जाती है कि मजदूरों की दशा को फौरन और सीधे-सीधे सुधारने के लिए जो आर्थिक लड़ाइयाँ लड़ी जाती हैं सिर्फ वही शोषित जनता के अत्यन्त पिछड़े भाग को जाग्रत और प्रबुद्ध कर सकती हैं, उन्हें वास्तविक शिक्षा देती हैं और क्रान्ति के युग में कुछी महीनों के अन्दर उन्हें बदल के राजनीतिक लड़ाई की सेना में परिणत कर देती हैं।"

इन हड़तालों और सीधी लड़ाइयों का शोषित जनता की दृष्टि से जो महत्त्व है उसका इतना सुन्दर वर्णन कहीं नहीं मिलेगा। लेनिन ने जो शोषितों (किसानों और मजदूरों आदि) की 'स्वतन्त्र राजनीतिक' लड़ाइयों का उल्लेख किया है वह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। जो लोग राष्ट्रीय संग्राम को किसी खास संस्था की बपौती मानते हुए यह कहने में शर्माते नहीं कि किसानों और मजदूरों को, मुल्क की गुलामी की दशा में, स्वतन्त्र राजनीतिक लड़ाई लड़ने का हक नहीं है, उनकी अक्ल पर हमें तरस आता है, खासकर जबकि वे अपने को मार्क्सवादी घोषित करते हैं। उन्हें पता ही नहीं कि मार्क्स ने अपने ऐतिहासिक 'कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' में यह ऐलान कर दिया है कि हरेक 'वर्ग-संघर्ष राजनीतिक लड़ाई है'–इसीलिए लेनिन ने उसी सिलसिले में, जिसका उल्लेख अभी हुआ है, साफ ही लिखा है कि–



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"बेशक, शोषितों की विजय के लिए यह जरूरी है कि श्रमजीवियों में जो अग्रदूत हैं वह समझ लें कि वर्ग-संघर्ष इसलिए नहीं किया जाता है कि उससे मुट्ठी भर मालदारों का उल्लू सीधा हो—उनका काम बने, जैसा कि सुधारवादी लोग मजदूरों को समझाने की कोशिश करते हैं। दरअसल अधिकांश शोषित जनता की लड़ाई के अग्रदूत और पथदर्शक बनकर ही सर्वहारा आगे आये हैं और इसी तरह वे उन अधिकांश लोगों को अपने साथ घसीट लेते हैं, जैसा कि सन् 1905 ई. में रूस में हुआ था। यूरोप के भावी विप्लव में भी ऐसा ही होगा।"

इन हड़तालों में क्या जादू है, इनकी क्या करामात है, ये कितनी तेजी के साथ मुर्दा लोगों में जान और जागृति ला देती हैं, उनमें क्रान्ति का भाव भर देती हैं, उन्हें उसके लिए लड़ने और मर मिटने को तैयार कर देती हैं, यदि यह बात बखूबी समझना हो तो सन् 1905 ई. के शुरू में रूस के मजदूरों की हालत को जान लेना जरूरी है। वे कितने नीचे गिरे थे, राजनीतिक दृष्टि से उनका पतन कितना गहरा था इसे जाने बिना हम हड़ताल की महिमा समझ ही नहीं सकते।

जब 22-1-1905 रविवार को मजदूरों का जुलूस पेट्रोग्राड में जार के महल विण्टर पैलेस के सामने गया तो उसकी अजीब हालत थी। मजदूरों की असीम श्रद्धा-भक्ति जार में थी। उन्हें विश्वास था कि वह उनका दुःख दूर करेगा। वह तो जार को अपना दुखड़ा सुनाने गये ही थे जुलूस बाँध कर। जुलूस में मर्द, स्त्री, बच्चे सभी थे। उनके पतन का दूसरा प्रमाण यह था कि उनका नेता एक पादरी, जार्ज गेपन था, जिसके बारे में माना जाता है कि खुफिया पुलिस का दूत था। एक तो पादरी ही दकियानूस। तिस पर भी जारशाही के पादरी, और अगर वह खुफिया का आदमी हो तो गजब हो गया। फिर भी वही मजदूरों के लम्बे जुलूस का नेता था और आगे-आगे जारशाही का झण्डा लिये जार की जय मनाता चलता था। पीछे-पीछे मजदूर भी वही करते थे। ता. 2-1-05 को रूस जापान युद्ध में पोर्ट आर्थर की हार के तीन हफ्ते बाद ही यह जुलूस निकला था।

अब जरा उनकी प्रार्थना की बात सुनिये। लेनिन के शब्दों में उनकी माँग थी कि कैदी छोड़े जायँ, नागरिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो, उचित वेतन मिले, जमीन धीरे-धीरे किसानों को मिले, विधान परिषद् बुलायी जाय और उसका चुनाव बालिग मताधिकार के आधार पर हो। उनने यह भी कहा था कि "सेंट पीटर्सबर्ग के हम मजदूर भगवान की शरण आये हैं। हम लोग बदकिस्मत, बदनाम गुलाम हैं। अत्याचार और जुल्म के नीचे हम पिस रहे हैं। आखिर जब हमारी सहनशक्ति के बाहर बात हो गयी, तो हमने काम बन्द कर दिया और अपने मालिकों से यही अर्ज किया कि हमें उतना ही दीजिए जिसके बिना जीवन दुःखमय हो जाता है। मगर हमारी प्रार्थना अनसुनी कर दी गयी। कारखानेदारों को हमारा हरेक काम गैरकानूनी जँचता है। रूस की समस्त जनता की ही तरह हम अनेक सहस्र श्रमिकों को कोई भी मानवीय हक हासिल



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं है। भगवन्, आपके अफसरों के करते ही हम गुलाम बने हैं।''

जार के प्रति उनके अपार विश्वास का पता लगता है उनके प्रार्थना-पत्र के अन्तिम वाक्यों से। वे कहते हैं कि 'हे पिता, अपने जनों की सहायता से मुँह मत मोड़िये ! हुजूर और हुजूर की जनता के बीच में जो दीवार खड़ी है उसे गिरा दीजिये। आज्ञा दीजिये और शपथ कीजिये कि हमारी प्रार्थना पूरी होगी और भगवान् (हुजूर) रूस को सुखी बनायेंगे। अगर ऐसा न होगा तो हम यहीं मरने को तैयार हैं। हमारे लिए दो ही रास्ते हैं—आजादी और आराम या मौत।'

नतीजा क्या हुआ? यही न कि उन पर जार के ही हुक्म से गोलियाँ चलीं और हजारों लोट गये? एक हजार मरे, दो हजार जख्मी हुए—मर्द, औरत, बच्चे सभी! ऐसी पुलिस की रिपोर्ट थी ! खून की धारा बह निकली और खूनी रविवार के नाम से वह रविवार तभी से पुकारा जाने लगा है।

सिर्फ जार के पास प्रार्थना पत्र ले जाने से ही मजदूरों का पूरा पतन सिद्ध नहीं होता। उस समय जार ने गोली हर्गिज न चलवायी होती, यदि उसे विश्वास नहीं होता कि लोग कुछ न करेंगे। क्योंकि ये भेड़-बकरों जैसे हैं। उस समय जो लोग सुधारवादी थे वह थे तो पूँजीवादी ही। ऐसे लोग जनता की मनोवृत्ति की अच्छी परख रखते हैं यह मानी हुई बात है। उस समय रूस में उनका नेता था पीटर स्ट्रूव। वह कहता था कि हमारा देश तो अपढ़ किसानों का ही है। यहाँ क्रान्ति की बात करना पागलपन के सिवाय और कुछ नहीं है। दकियानूस सुधारक माने बैठे थे कि वास्तविक क्रान्ति यहाँ असम्भव है। यहाँ तक कि खूनी रविवार के दो दिन पहले उसी पीटर स्ट्रूव ने कह डाला था कि रूस की जनता अभी तक क्रान्तिकारी नहीं है। उन दिनों मजाक से लेनिन की पार्टी को एक सम्प्रदाय कहा जाता था।

मगर खूनी रविवार के गोलीकाण्ड ने काया पलट कर दी। उसी समय से हड़तालें शुरू हुईं। 26वीं जनवरी को तो मास्को में आम हड़ताल की ही घोषणा हो गयी। रूस के जितने प्रमुख नगर थे, सर्वत्र हड़ताल हो गयी ! यह सिलसिला साल भर जारी रहा। जहाँ सन् 1905 ई. से पूर्व के दस वर्षों में कुल मिला के 430000 मजदूरों ने हड़ताल में भाग लिया था, तहाँ इस साल केवल जनवरी में ही 440000 उसमें सम्मिलित हुए और नवम्बर आते-आते ऐसी गर्मी आयी कि सिर्फ नवम्बर में ही जनवरी से भी बढ़ गये और पाँच लाख से भी ज्यादा शामिल हो गये ! और साल भर में? पूरे अट्ठाईस लाख ! जून मास में इवानो वो-बोजूने सेन्स्क के कपड़े की कलों के मजदूरों ने अपनी पंचायत—सोवियेट कायम कर ली। सितम्बर में सेंट पीटर्सबर्ग में भी सोवियेट बनी। तारीख 20-10-05 को मास्को में आम हड़ताल हुई। सारा कारबार चौपट हो गया। लोग मरने लगे। उसी बीच में 26-10-05 को वहाँ भी सोवियेट बनी जो 16 दिसम्बर तक—50 दिनों तक—जीवित रही। और जहाजी बेड़ों में तो हड़ताल हुई ही। वहाँ बगावत भी हुई। एक बार जून में काले सागर के ओडेसा



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के नजदीक प्रिंस पोटमकिन नामक लड़ाई के जहाज के सिपाहियों ने बगावत कर दी। फिर 24-11-05 को सेबास्टपोल में यही बात हुई।

मास्को की सोवियेट ने बाकायदा शासन सूत्र हाथ में लेने जैसा कर लिया था। घोषणाएँ निकालती थी। टैक्स देना बन्द करवा दिया था। आठ घण्टे से ज्यादा काम मजदूर न करें ऐसी भी घोषणा उसने 13-11-05 को निकाल दी थी। 14-12-05 को टैक्स बन्दी का मैनिफेस्टो भी उसने निकाला था, जिसे फाइनेन्स मैनिफेस्टो कहते हैं। उसने पूँजीवादियों को चेतावनी भी दी थी कि क्रान्ति की सफलता के बाद जारशाही के सभी कर्ज रद्द कर दिये जायँगे। जारशाही ने पीटर्सवर्ग की सोवियेट पर पहला हमला 9-12-05 को किया, जब उसका द्वितीय सभापति नोसार पकड़ा गया। पहला था ज्बोरोस्की। नोसार के बाद एक हफ्ते तक त्रात्स्की अध्यक्ष रहा। मगर नोसार के पकड़े जाने और सोवियेट के गैर-कानूनी होने की खबर पहुँचते ही 19-12-05 को मास्को की सोवियेट ने फिर आम हड़ताल का हुक्म दिया और दो ही दिनों के भीतर डेढ़ लाख मजदूरों ने काम छोड़ दिया। फिर तो 22-12-05 से लेकर 1-1-06 तक सरकारी पक्ष की फौज और क्रान्तिकारी फौजों में वहाँ घमासान होती रही। जोश इतना था कि केवल आठ ही हजार क्रान्तिकारी जवानों ने नौ दिनों तक सरकार का डटकर मुकाबिला किया। तब कहीं हारे। फिर भी गर्मी खत्म नहीं हुई और सन् 1906 ई. के मध्य में फिनलैंड की खाड़ी में लेनिनग्राड के निकट क्रान्स्ताद और स्वीवोर्ग के फौजी जहाजी अड्डों में भी बगावत हो गयी। इसी दौरान में सन् 1905 ई. में अक्टूबर में जार ने फिनलैंड को आजादी भी दी और वहाँ पार्लिमेण्ट भी बनी। बालिग मताधिकार माना गया।

यद्यपि इस तूफान से घबरा के जार ने समस्त रूस के लिए भी पार्लिमेंट (डूमा) की घोषणा ता. 19-8-05 को की थी, जिसे उसके प्रधानमन्त्री बुलिगिन के नाम से बुलिगिन डूमा भी कहते हैं। परन्तु उसे कोई अधिकार नहीं दिया गया था। वह सिर्फ जार से सिफारिश कर सकती थी। इसीलिए जनता ने इसका बायकाट किया। हार कर जार ने तारीख 30-10-05 को दूसरी डूमा की घोषणा की। इसे कानूनी अधिकार कम वेश दिये गये। औरों ने तो इसका भी विरोध किया। मगर साम्राज्यवादी लोगों ने इसे मान लिया। इसलिए तभी से उस दल को अक्टूबर वाला या अक्टोबरिस्ट कहने लगे। यह बड़े-बड़े पूँजीवादियों और जमींदारों का ही दल था। इसका लीडर मास्को का बड़ा पूँजीपति गचकोफ था। चुनाव होके पहली डूमा (एक हिसाब से दूसरी) की पहली बैठक 27-4-06 को हुई। मगर नर्मदली पूँजीवादी पार्टी, केडेट पार्टी के लीडर नबोकोफ ने जो व्याख्यान उसमें दिया उसमें गिर्जों एवं मन्त्रियों या जार के खानदान की जमीनों के सिवाय जमींदारों की भी जमीनें छीन के किसानों को देने पर जोर दिया और बहुमत से सरकार को हरा दिया। यह याद रखना चाहिए कि यह वही केडेट पार्टी है जिसका मुख्य नेता मिल्यूकोफ फरवरी रेवोल्यूशन के बाद



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2
में तात्कालिक सरकार का विदेशी मन्त्री था। उधर जार के प्रधानमन्त्री स्टालिपिन ने 20-6-06 को एक घोषणा जारी की, जिसके जरिये किसान गाँवों की पंचायती जमीनों का भी बँटवारा करके पंचायत से अलग हो सकते थे। फलतः सरकार के साथ डूमा की लड़ाई हो गयी। पूँजीवादियों के नर्म दल ने तारीख 6-7-06 को किसानों के नाम घोषणा निकाली कि जमीनें छीनकर तुम्हें दी जायँगी। सरकार डर गयी और 8-7-06 को इस डूमा को उसने भंग कर दिया।

मगर जब फिर चुनाव हुआ तो पुनरपि नरमदली बहुमत में आये। उसकी मीटिंग 20-2-07 में हुई। फिर वही बात रही। जार घबराया तारीख 2-6-07 की रात में वह भी भंग कर दी गयी। और सन् 1907 के अन्त में चुनाव का नया कानून प्रकाशित हुआ, जिसमें ऐसा किया गया कि गरीब लोग मत दे न सकें। इस प्रकार सन् 1907 ई. के बीतते-न बीतते जो तीसरी डूमा बनी वह जारशाही के मन लायक थी और उसी ने स्टालिपिन की घोषणा को कानूनी रूप दिया। जारशाही की ताकत भी लगातार तीन वर्षों के तूफान के बाद सन् 1907 ई. के अन्त में मजबूत हो सकी। गत यूरोपीय युद्ध के समय तो चौथी डूमा थी।

मास्को में जो आम हड़ताल 20 अक्टूबर से शुरू हुई थी उसके फलस्वरूप सरकार की साँस-डकार बन्द थी। सभाओं और मीटिंगों की आजादी थी। अखबार निकालने की स्वतन्त्रता थी। कोई किसी को पूछता न था। सरकार को लोग भूल से गये थे। चाहे जो छापो और प्रचार करो। सरकारी अफसरों को हिम्मत न थी कि चूँ भी करें। तीन क्रान्तिकारी पत्र खुलेआम छपते थे !

इस प्रकार सर्वहारा की लड़ाई के साधन, हड़ताल ने कमाल किया और जारशाही के नाकों चने चबवा दिये। फौज और जंगी जहाजों पर क्या असर हुआ यह तो कहा ही गया है। किसानों में भी बिजली दौड़ गयी। बेशक सन् 1905 ई. के पहले भी किसानों में उत्तेजना थी। और सन् 1900 तथा 1904 के भीतर 670 बार उनने बगावत की थी, जिनमें 441 बार तो जमींदारों के विरुद्ध और बाकी में 196 सरकारी अधिकारियों के विरुद्ध। शेष इधर-उधर। मगर सन् 1905 ई. की गर्मियों (वसन्त) में यह आग ऐसी फैली कि रूस के जितने जिले थे उनके सातवें हिस्से में विप्लव भड़क उठा था। बहुत-सी जमींदारियाँ खत्म हो गयीं। बरसात आते-आते तो यह आग एक तिहाई से भी अधिक जिलों में भड़क गयी और कम-से-कम दो हजार बड़े-बड़े जमींदार चौपट हो गये ! मजदूरों की राजनीतिक हड़तालों के साथ-साथ किसानों की भी हड़तालें हुईं। तभी इतनी गर्मी आयी। इस बात का बहुत ही मार्मिक वर्णन लेनिन ने सन् 1905 वाली क्रान्ति के बारे में बताते हुए किया है।

सर्वहारा के नेतृत्व के सम्बन्ध में एक बात और कह देना है। मध्यवर्गीय नेतृत्व या सम्मिलित नेतृत्व में और इसमें मौलिक अन्तर यह है कि जहाँ दूसरे नेता जनता के हक में भला-बुरा निश्चय करके तदनुसार ही काम करने की आज्ञा देते हैं, तहाँ



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सर्वहारा के नेतृत्व में उलटी बात पायी जाती है। जैसा कि लेनिन के कई वाक्यों को उद्धृत करके बहुमत क्रान्ति के ही सिलसिले में यह बताया जा चुका है, सर्वहारा-वर्ग जनता या श्रम करनेवाले लोगों को यह मौका देता है कि वह अपने अनुभव के जरिये उस बात की जरूरत महसूस कर लें, जिसे सर्वहारा दल के नेता उनके लिए कर्त्तव्य बताते हैं। मूलभूत सिद्धान्त इसमें यही है कि जब तक जनता को सर्वहारा की नीति, कार्यक्रम और नारे आदि में अपने अनुभव के जरिये विश्वास न हो जाय और वह उसे अवश्य कर्त्तव्य न मानने लगे तब तक सर्वहारा के नेताओं को उस नीति पर हर्गिज अमल नहीं करना चाहिए और अगर अमल शुरू करने के बाद पता चले कि जनता को इसमें विश्वास हो नहीं पाया है, वह तहेदिल से इसकी उपयोगिता और जरूरत महसूस नहीं करती है तो उस काम को फौरन रोक देना चाहिए। हर्गिज प्रतिष्ठा और इज्जत का खयाल दिल में न लाना चाहिए।

नयी आर्थिक व्यवस्था का श्रीगणेश करने के समय लेनिन ने कहा था कि—

"हमें किसी बात का तोप-ताप हर्गिज नहीं करना चाहिए। हमें साफ-साफ कहना चाहिए कि जो प्रणाली हमने जारी की है उससे किसान असन्तुष्ट हैं। और वे अब इसे बर्दाश्त नहीं कर सकते। इसमें विवाद की गुंजाइश है ही नहीं। बेशक, उनने अपनी मर्जी बहुत ही साफ तौर से जाहिर की है। कमानेवाली जनता की बहुत बड़ी जमात की मर्जी हमारे सामने डँटी है। उनकी मर्जी का खयाल हमें करना ही होगा और राजनीतिज्ञ की हैसियत से हमें असलियत को कबूल करके कहना होगा कि आइये, उस प्रश्न पर फिर नये सिरे से विचार करें।"

मध्यमवर्गीय या अन्य नेतृत्व में यह बात नहीं होती। उनके सामने तो कदम-कदम पर प्रतिष्ठा का सवाल चट्टान की तरह आ खड़ा होता है और उसी के सामने दब जाते हैं। सर्वहारा दल के नेताओं में यह बात होती ही नहीं। वह तो जनता को समझा-बुझाकर साथ ले चलना चाहते हैं। वे हजार बार ऐसी हालत में पीछे हट आयेंगे, अगर जनता का दिल अपने साथ नहीं पाते। 'क्रान्ति और सरकार' नामक पुस्तक में लेनिन ने लिखा है कि—

"मजदूरों की पार्टी को सिखाने-पढ़ाने के रूप में मार्क्सवाद सर्वहारा के अग्रदूत को ही शिक्षित करता है और इस प्रकार इसे तैयार करता है कि शासन-सूत्र को छीन ले, नयी सामाजिक व्यवस्था को संगठित करे और चलाये और जो लोग मिहनत करनेवाले हैं उन सबों का शिक्षक, पथदर्शक और नेता बने। यह इसलिए कि उनकी नयी सामाजिक जिन्दगी को पूँजीवादियों के बिना ही, संगठित करे और उनके विरुद्ध भी जनता का शिक्षक, पथदर्शक और नेता बने।"

वह और भी लिखता है कि अगर ढाई साल तक शासन सूत्र सफलतापूर्वक अपने हाथ में रखने के बाद भी हमें रूस में यह शर्त लगानी पड़े कि जो सर्वहारा के एकतन्त्र शासन के सिद्धान्त को स्वीकार न करे वह ट्रेड यूनियनों का मेम्बर नहीं



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2
बन सकता, तो हमारे लिए शर्म की बात होगी और मेनशेविक आदि अवसरवादियों से हममें विशेषता क्या होगी? वह कहता है कि—

"अगर लगातार ढाई साल तक रूसी पूँजीपतियों तथा मित्र राष्ट्रों के सरमायादारों के विरुद्ध सफल युद्ध करने के बाद भी आज हमें ट्रेड यूनियनों की मेम्बरी के लिए यह शर्त लगानी पड़े कि सर्वहारा के एकतन्त्र शासन का सिद्धान्त मेम्बरों को मानना होगा, तो यह बड़ी भारी भूल होगी, इससे जनता के ऊपर अपना असर हम खो बैठेंगे, और हम मेनशेविकों के मददगार बन जायँगे। क्योंकि कम्युनिस्टों का तो असली काम यही है कि अपने वर्ग (श्रमिकों) के पिछड़े हुए लोगों में अपने प्रति विश्वास पैदा करें और उनके बीच काम करें। न कि बनावटी और बच्चों जैसे अति वामपक्षी नारों को लगाके उनसे अपने आपको जुदा कर दें।"

जो लोग नेतृत्व के सिलसिले में अनुशासन की कार्यवाही, दण्ड और बल प्रयोग की बातें करते हैं और मानते हैं कि कोई संस्था या पार्टी दण्ड और अनुशासन के बिना दृढ़ नहीं हो सकती; इसीलिए रह-रह के अपने लोगों के खिलाफ अनुशासन की कार्यवाही करना जो जरूरी समझते हैं, उन्हें मीठे-मीठे सुनाते हुए लेनिन ने कम्युनिस्ट पार्टी की दसवीं कांग्रेस के व्याख्यान और ट्रेड यूनियन सम्बन्धी अपनी पुस्तिका में यों बताया है—

"जब लोग एक भूल कर चुकने पर उसके समर्थन की कोशिश करते हैं, तो राजनीतिक परिस्थिति खतरनाक हो जाती है। यदि कुतुजोफ के विचारों पर अमल करने के सम्बन्ध में जनतन्त्रीय तरीके से जो भी सम्भव था किया न गया होता तो राजनीतिक विस्फोट हुआ रहता। हमें पहले लोगों को समझा-बुझा के मनाना चाहिए और बल प्रयोग या दण्ड को पीछे रखना चाहिए। हर हालत में हमें लोगों को पहले समझाना-बुझाना होगा और बल प्रयोग उसके बाद ही करना होगा। इस मौके पर हमने लोगों को रुजू करने में सफलता प्राप्त नहीं की। नतीजा यह हुआ कि अग्रदूत और आम लोगों के बीच का सम्बन्ध खराब हो गया।"

"जहाँ-जहाँ हमने लोगों को समझा-बुझा के अपने अनुकूल कर लिया वहीं हमारा बल प्रयोग ठीक और सफलीभूत हुआ है।"

इस सम्बन्ध में ज्यादा न कहके स्तालिन के वक्तव्य का वह आखिरी अंश यहाँ देना हम जरूरी समझते हैं जो उसने सन् 1927 ई. के अगस्त में चीन के सम्बन्ध में दिया था। उस समय भी यही नेतृत्ववाला झमेला सोवियट की कम्युनिस्ट पार्टी में पेश था। इसलिए वह वक्तव्य महत्त्व रखता है। खासकर चीन के बारे में कुछ लोगों का यह इलजाम था कि स्तालिन के दल ने चीन के कम्युनिस्टों का ठीक पथ प्रदर्शन नहीं किया। उसके जवाब में स्तालिन कहता है कि—

"हमारे विरोधियों ने उस समय (जबकि नानकिंग की क्यूमिनटांग के सिवाय जो क्यूमिनटांग हैंकाऊ में थी वह कम्युनिस्टों के प्रभाव में थी) यह पुकार मचाई



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कि किसानों और मजदूरों के प्रतिनिधियों की सोवियट चीन में कायम की जाय। मगर यह तो दुस्साहसिकता थी—यह दुस्साहसपूर्ण अगला छलाँग मारना था। क्योंकि उसी समय फौरन सोवियट शासन के प्रचार का सीधा अर्थ होता क्यूमिनटांग के वामपक्षीय प्रगति की दशा को पार कर जाना। क्यों? क्योंकि जो क्यूमिनटांग वूहान (हैंकाऊ) में थी और जिसका सहयोग कम्युनिस्टों के साथ था उसने किसानों और मजदूरों के जनसमूह के सामने अपना भंडाफोड़ और अप्रतिष्ठा जाहिर कर नहीं दी थी—पूँजीवादी क्रान्ति की संस्था के रूप में उसने तब तक अपना दिवाला निकाला न था। जब तक अपनी आँखों जनता ने वूहान की सरकार के सड़ेपन को देख नहीं लिया और इसीलिए उसे उठा फेंकने की जरूरत समझ न ली उसके पहले ही उसे खत्म करने और सोवियट शासन कायम करने का नारा बड़ी छलाँग मारने जैसा है। इसका फल यही होगा कि आम लोगों से वहाँ के कम्युनिस्ट अलग पड़ जायंगे, उन्हें लोगों का समर्थन प्राप्त न हो सकेगा और इस तरह इस छलाँग का नतीजा होगी हार।

"विरोधी लोग समझे बैठे हैं कि अगर खुद उनने वूहान की क्यूमिनटांग की निरर्थकता, कमजोरी तथा उसमें क्रान्तिकारी सिद्धान्तों का अभाव समझ लिया—और यह बात कोई भी चतुर श्रमजीवी आसानी से समझ सकता है—तो उसके मानी यह हो जाते हैं कि आम लोग भी यह बात ठीक उसी तरह समझने लगे हैं। यहाँ तक कि वह लोग मानने लगे हैं कि लोगों को तैयार किया जा सकता है कि क्यूमिनटांग की जगह सोवियट शासन कायम करें। मगर यही तो हमारे विरोधियों की सनातनी भूल है जिसे अति वाम पक्षवाद कहा जाता है। इसमें जो असली ऐब है वह यह है कि हमारे विरोधी लीडर लोग अपनी जानकारी और समझ को ही करोड़ों किसान-मजदूरों की जानकारी और समझ माने लेते हैं।

"हमारी पार्टी को सिर्फ खुद आगे न बढ़के जनसमूह को भी अपने साथ ले चलना चाहिए। क्योंकि लोगों को बिना साथ लिये आगे बढ़ने का असली मतलब है पीछे पड़ जाना—आन्दोलन का पुछल्ला बन जाना।

"लेनिनवादी नेतृत्व का निचोड़ यही है कि अग्रदूत को ऐसा करना चाहिए कि बाकी लोग उसके पीछे-पीछे चलें, और अग्रदूत आगे इस तरह बढ़े कि जनसमूह से अलग न पड़ जाय। लेकिन ऐसा होने के लिए—अग्रदूत के पीछे लक्ष-लक्ष जनता जरूर चले; इसके लिए—एक अनिवार्य शर्त है जिसका प्रभाव नतीजे पर ख़ामखाह पड़ता है, और वह यह है कि जनसमूह को अपने ही अनुभव के आधार पर यह पक्का यकीन हो जाना चाहिए कि अग्रदूत की नीति, उसकी हिदायतें और उसके नारे बिलकुल सही हैं। असल में हमारे विरोधियों के साथ दिक्कत यही है कि वे लेनिनवादी नेतृत्व के इस सीधे-सादे कायदे को समझ पाते ही नहीं कि असंख्य पीड़ित जनता की दिली मदद के बिना अकेली पार्टी या अकेला प्रगतिशील दल क्रान्ति कर


RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं सकता। क्योंकि अन्ततोगत्वा क्रान्ति को बनाती है, जन्म देती है असंख्य श्रमिकों की जमात ही।"

इससे ज्यादा सफाई के साथ और विस्तृत रूप में सर्वहारा के नेतृत्व का रूप प्रकट किया जा सकता नहीं। स्तालिन ने लेनिन के बाद सन् 1927 ई. के उत्तरार्द्ध तक के अनुभव के आधार पर इस बात को पक्का ठहराया है और उसी ने इस पर मुहर भी दी है। आज्ञाधारिता, डिसिप्लीन और नेतृत्व के नाम पर जनता को जबर्दस्ती अपने मन के मुताबिक घसीटने की कोशिश खतरनाक और गलत नेतृत्व की निशानी है। सर्वहारा का नेतृत्व जनता को समझा-बुझा कर, उसे यह मौका देकर कि वह अपनी आँखों और दिल-दिमाग से क्रान्ति की जरूरत महसूस करे और उसके लिए तैयार हो जाय, जनता को दिल से साथ ले चलने में ही है।

लेकिन इस सम्बन्ध में एक बात सदा याद रखने की है कि समझाने-बुझाने और धैर्य के साथ जनता के भीतर काम करते रहने का मतलब यह नहीं है कि सर्वहारा-वर्ग के नेताओं या उनकी संस्थाओं में आज्ञा-पालन और अनुशासन (discipline) की ओर से लापरवाही है—वहाँ इसकी वैसी कदर नहीं है जैसी चाहिए। जनता के और मजदूर-किसानों के जबर्दस्त बहुमत को अपने साथ लाने तक तथा अपने संगठन के भीतर भी ऐसा ही बहुमत होने तक तो धैर्य के साथ काम करना ही होगा। चाहे समय कितना ही लगे। इसमें घबराहट के लिए गुंजाइश है नहीं। लेकिन जब एक बार पूरे विचार-विमर्श और निजी अनुभव के आधार पर बहुमत से कोई बात तय पा गयी, तो फिर किसी को हक नहीं कि आगा-पीछा करे। सभी को आँख मूँद के उस पर अमल करना ही होगा। नहीं करने पर बेमुरव्वती के साथ अनुशासन की कार्यवाही जरूर की जायगी। जरा भी रिआयत न होगी। इसी का नाम फौलादी अनुशासन (Iron discipline) है।

किसी भी नयी बात के बारे में नेता लोग या कार्यकारिणी समिति कुछ भी निर्णय करने के पहले ख़ामखाह संस्था के सभी लोगों को, या यों कहिये कि जिन्हें उस निर्णय के अनुसार खटना और मरना-मिटना होगा उन्हें, जरूर मौका देगी, पूरा अवसर देगी कि वे उसपर अच्छी तरह सोच-विचार के राय दें। इस बात में जरा भी कसर नहीं की जायगी। मगर एक बार नीचे से ऊपर तक सभी की राय लेने के बाद जब बहुमत से कोई निर्णय हो गया, तो किसी को भी हक नहीं रह जाता कि उसके खिलाफ जाय। सभी को उसपर अमल करना ही होगा। जो ऐसा न करे उसे उस संस्था और संगठन से बाहर चला जाना होगा। इस तरह इस तरीके में जनमत और बहुमत के लिए पूरा अवसर मिलने के साथ ही काम करने में निरंकुश शासन जैसा प्रतीत होता है। क्योंकि निर्णय के अनुसार काम कराने में जरा भी चींचपड़ और ढीलेपन को गुंजाइश नहीं दी जाती। इसे ही अँगरेजी में डेमोक्रेटिक सेंट्रलाइजेशन कहते हैं। लेनिन ने जो पहले रुजू करने और समझाने तथा पीछे बल प्रयोग की



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बात कही है उसका भी यही मतलब है। वह और भी कहता है कि—

"इस समय जबकि भयंकर घरेलू युद्ध चालू है, कम्युनिस्ट पार्टी अपना फर्ज केवल इसी शर्त पर अदा कर सकती है कि वह अत्यन्त केन्द्रित शक्ति रखती हो, उसमें फौलादी आज्ञा-पालन का ही प्रभुत्व हो, यह फौलादी आज्ञा-पालन अपनी सख्ती के करते नीम-फौजी हो, इसके जो पथ-प्रदर्शक केन्द्र में हों उनमें सर्वसाधारण सदस्यों का पूर्ण विश्वास हो, उन्हें पूरा अधिकार प्राप्त हो और आज्ञा निकालने तथा काम करवाने के विस्तृत अधिकार उन्हें दिये गये हों।"



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# वर्ग संघर्ष और सरकार

...इस तरह वे सामूहिक रूप से क्रान्तिकारी युद्ध के लिए सुसज्जित किये जाते हैं। ऐसा हो जाने पर सामूहिक रूप से वे इस काम में कूद पड़ें यह बात हड़ताल के जरिये होती है और उसी से शत्रु का अन्त होता है। इन दोनों को मिलाने के बाद ही सर्वहारा क्रान्ति सफल होती है और शासन शोषितों के हाथ में आ जाता है। वर्ग-संघर्ष ही दूध और पानी को अलग कर देता है—दूध-का-दूध और पानी-का-पानी कर देता है।

कमानेवाली जनता को सामूहिक रूप से वर्ग-चेतनायुक्त किये बिना उसका निस्तार नहीं हो सकता है इसका प्रतिपादन पहले ही खूब किया गया है। वर्ग-संघर्ष के द्वारा ही यह बात होती है इसे एंगेल्स ने मार्क्स की पुस्तक 'फ्रांस में वर्ग युद्ध' की भूमिका में यों लिखा है—

"यदि राष्ट्रों के पारस्परिक युद्ध की हालतें अब बदल गयी हैं तो वर्ग-संघर्ष के बारे में भी यही बात है। एकाएक हमला कर देने और भोली-भाली जनता के आगे-आगे चलके क्रान्ति में विजय पानेवाले सिर्फ मुट्ठी-भर कुशल लोगों के दिन लद गये। जहाँ समूची सामाजिक व्यवस्था के जड़-मूल से बदल देने की बात है वहाँ खुद आम लोगों को ही यह काम करना होगा, उन्हें इस काम के पहले ही अच्छी तरह जान लेना होगा कि क्या हारना-जीतना है, और किस बात के लिए दिलो-जान से उन्हें पड़ जाना है। गत पचास वर्षों के इतिहास ने हमें यही सिखाया है। लेकिन जनता यह बखूबी समझ सके कि क्या करना है, इसके लिए लगातार अधिक मुद्दत तक उसमें काम करने की जरूरत है और हम ठीक यही काम कर रहे हैं। हमें ऐसी सफलता मिल रही है कि हमारे शत्रु निराश हो रहे हैं।"

असल में जो दिक्कत हमारे सामने आती है वह यह है कि निम्न-मध्यम श्रेणी के बाबू लोग और उन्हीं के साथ पूँजीवादी वर्ग भी सदा इस बात की कोशिश करता रहता है कि कमानेवाली जनता के सामने वर्ग-संघर्ष का यह सवाल आने ही न पाये। वे बार-बार यही रट लगाते रहते हैं कि हम तो जनतन्त्र शासन (democracy) चाहते हैं, राम राज्य चाहते हैं, जिसमें सबों की राय से शासन का काम चले। हम तो जनसमूह



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की भलाई चाहते हैं, न कि किसी दल विशेष की। हम तो सब लोगों का स्वराज्य चाहते हैं। किसी खास वर्ग का स्वराज्य तो हमें अभीष्ट है नहीं। इसीलिए हमारी इच्छा है कि पूँजीपति और मजदूर या किसान और जमींदार आदि का भेदभाव भुला के सभी लोग एक साथ मिल के लड़ें। तभी लक्ष्य सिद्धि होगी। वह तो यहाँ तक कह डालते हैं कि पहले स्वराज्य प्राप्त कर लें। पीछे यह सोचने का मौका आयेगा कि वह किसका होगा। जो चीज मिली ही नहीं उसके बँटवारे का प्रश्न पहले ही उठाना नादानी नहीं तो और क्या है? मतलब यह है कि वे लोग हर वक्त वर्ग सामंजस्य (Class-colloboration) की ही बातें करते हैं। स्वराज्य मिलने पर जमींदार और पूँजीपति किसानों तथा मजदूरों के थातीदार (Trustee) बनेंगे यह भी खयाली पुलाव पकाया जाता है। ताकि वर्ग-संघर्ष का खयाल सामने आये ही नहीं और किसान, मजदूर उसमें पड़ने ही न पायें।

मगर मार्क्स और एंगेल्स तो यह बात बराबर मानते थे कि चाहे बातें हजार बनायी जायँ और ऊपर हजार मुलम्मा चढ़ाया जाय, फिर भी वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को छिपाया नहीं जा सकता है। इन चिकनी-चुपड़ी बातों की तह में वही बात छिपी है। इस प्रकार शोषितों को वर्ग सामंजस्य के घपले में डालकर शोषक लोग अपनी ओर से वर्ग-संघर्ष खूब मुस्तैदी से निराबाध चलाते रहते हैं। बाधा हटाने के ही लिए तो रामराज्य, सबके राज्य और वर्ग सामंजस्य की गोल-मोल बातें की जाती हैं। मार्क्स ने 'अठारहवें ब्रुमेयर' नामक पुस्तक में इन बातों के बारे में ऐसा लिखा है जिससे इस पर पूरा प्रकाश पड़ जाता है कि इसमें चाल क्या है। वह कहता है कि—

''सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी की विशेषता का संक्षिप्त रूप इस बात से मालूम हो जाता है कि वे लोग जनतन्त्र संस्थाओं की माँग इसलिए पेश नहीं करते कि उनके द्वारा पूँजी और मजदूरी जैसी अत्यन्त परस्पर विरोधी बातों को दूर कर दिया जाय—अर्थात् न शोषक पूँजी रहे और न मजदूरी करनेवाले शोषित रहें,—किन्तु वे तो इनके जरिये इन दोनों के परस्पर विरोध को कम करके दोनों को मिला देना चाहते हैं। इसकी सिद्धि के लिए चाहे कितने ही विलक्षण उपाय किये जायँ और उन्हें क्रान्तिकारी खयालों के पर्दे में चाहे कितना ही सजाया जाय, मगर उनकी असलियत ज्यों की त्यों रह जाती ही है। यह असलियत है समाज को जनतन्त्र के तरीके से बदलना। मगर यह रद्दोबदल निम्न-मध्यमवर्ग के स्वार्थों के दायरे के भीतर ही हो। सिर्फ खास बात यही है कि किसी को यह तंग खयाल इसके बारे में नहीं बना लेना चाहिए कि निम्न-मध्यम श्रेणीवाले सिद्धान्त की दृष्टि से अपने निजी वर्ग स्वार्थों को जबर्दस्ती समाज पर लादना चाहते हैं। प्रत्युत उनका तो यही विश्वास होता है कि जिस विशेष परिस्थिति के करते उन्हें आजादी मिली है वही वर्तमान समाज की साधारण परिस्थिति है और सिर्फ उसी में उसकी रक्षा की जा सकती तथा वर्ग-संघर्ष से बचा जा सकता है। यह ठीक उसी तरह है जिस तरह वह बात शायद ही कोई सोच सकता है कि



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जनतन्त्र के प्रतिनिधिगण या तो खुद दुकानदार हैं या उन्हीं के समर्थक। उनका जो समाज में स्थान और उनकी जो शिक्षा है उसके मुताबिक तो दुकानदारों और उनमें उतना ही अन्तर है जितना जमीन और आसमान में। असल में जिस बात के करते वे लोग निम्न-मध्यमवर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं वह यह है कि यह वर्ग अपने जीवन में अमली तौर पर जिस सीमा के बाहर नहीं जाता है उसके प्रतिनिधि ये बाबू लोग अपने खयाल में ही उस सीमा के बाहर नहीं जाते। यही कारण है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से ये प्रतिनिधिगण उसी बात और उपाय को मानते हैं जिसे निम्न-मध्यम श्रेणीवाले अपने भौतिक स्वार्थ तथा सामाजिक स्थिति के चलते विवश होके करते हैं। साधारणतया यही सम्बन्ध, राजनीति तथा पढ़ने-लिखने के मामलों में प्रतिनिधि वर्ग तथा जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं उनका, है।"

इस लम्बे अवतरण ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि जनतन्त्र के नाम पर जो लोग पूँजीवादी प्रणाली में प्रतिनिधि चुने जाते हैं उनकी वास्तविक स्थिति का कोई भी मेल उन लोगों की स्थिति से नहीं होता जिनके प्रतिनिधि वे बनते हैं। दोनों का पढ़ना-लिखना और दोनों की सामाजिक स्थिति अत्यन्त विभिन्न होती है। इन दोनों में इतना ही अन्तर होता है जितना जमीन और आसमान में। फिर भी यदि वे लोग प्रतिनिधि बन जाते हैं तो विचार-दृष्टि से यह गलत बात है—उलटी चीज है। क्योंकि "की दुख जानै दुखिया, की दुखिया की माय", या, "जाके पाँव न फटै बिवाई। सो क्या जाने पीर पराई।" जो खुद भुक्तभोगी न हो वह दूसरों के कष्ट क्या जानेगा? क्योंकि "कहाँ से लायेगा कासिद बयाँ मेरा जबाँ मेरी। मजा जब था कि खुद मुझसे वह सुनते दास्ताँ मेरी।"

फिर भी वही मुट्ठी भर पढ़े-लिखे बाबू समस्त निम्न-मध्यम श्रेणी और शोषित जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं ! यह बात क्योंकर होती है—उनका यह दावा कैसे सही माना जाता है—इस विषय में मार्क्स ने दो उत्तर उक्त उद्धरण में दिये हैं। पहली बात यह है कि प्रतिनिधि लोग यह मानते हैं कि उनके अधिकार जिस सामाजिक परिस्थिति के करते उन्हें प्राप्त हो सके हैं, जिस वायुमण्डल में उन्हें सफलता मिली है वह पहले की अपेक्षा विलक्षण जरूर है, खास ढंग का है। नहीं तो उनकी विजय नहीं हो पाती। मगर वे यह भी समझते हैं कि यही वायुमण्डल समस्त मध्यम श्रेणी और वर्तमान समाज की रक्षा के अनुकूल है, दूसरा नहीं। इसी में वर्ग-संघर्ष से बचा जा सकता है। दूसरी परिस्थिति आने पर फिर समाज में उथल-पुथल होगी और वर्ग-संघर्ष का प्रसार होगा। इससे स्वभावतः वह सबके प्रतिनिधित्व का दावा करते हैं और आगे बढ़ना नहीं चाहते।

दूसरी बात यह है कि निम्न-मध्यम वर्ग का जो वास्तविक जीवनयापन है और जिस खान-पान वगैरह से उन्हें अपना काम चलाना पड़ता है वह उन तथाकथित प्रतिनिधियों का न होने पर भी वे अपने दिमाग में उसकी कल्पना कर लेते हैं। मतलब


RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह कि खयाली बातों को सामने रखके उनकी दशा पर नकली आँसू बहाते और गर्म-गर्म लेक्चर देते हैं, झूठी प्रतिज्ञाएँ करते हैं। अर्थात् "तुम्हारा हाथी मरा, पड़ोसी की भैंस मरी और मेरी काली हँड़िया फूट गयी। क्या कहा जाय, काले धन पर ही ग्रह मालूम पड़ता है," यही बातें ये करते हैं। इसी प्रकार बनावटी बातों और काल्पनिक खयालों के जरिये आम लोगों की श्रेणी में अपने को लाते हैं ! मगर यह तो ठीक नहीं। बनावटी बातों के लिए, जो दिल में हैं नहीं, कोई कैसे लड़ सकता है? यही कारण है कि वे अन्त में धोखा देते हैं और "उघरहिं अन्त न होय निबाहू" को चरितार्थ करते हैं। बनावटी से हमारा मतलब दिमागी से है। जब ईमानदारी से अच्छी तरह सोचने का मौका आता है तब तो उन्हें मानना पड़ता है कि जिनका प्रतिनिधित्व हम करते हैं उनकी ही माँगें ठीक हैं, उनकी हालत अच्छी नहीं है। मगर अमल के समय उनकी कमजोरी उन्हें आ दबोचती है। क्योंकि अपनी स्थिति अच्छी होने के कारण सारी शक्ति से उन लोगों के लिए वे लड़ नहीं सकते। किन्तु पैंतरेबाजी करके ही रुक जाते हैं, बस कर लेते हैं। दिल में बात चुभती हो तब न लड़ेंगे?

जो लोग वर्गों को न मानकर जनसमूह या जनता को मानते हैं और कहते हैं कि वर्गों की कल्पना तो नाहक ही की जाती है; हमें तो सामूहिक रूप से सभी लोगों (Masses) को ही मानना है; हम यत्न भी उन्हीं के स्वराज्य के लिए करते हैं, उनकी मनोवृत्ति और स्थिति के बारे में उसी पुस्तक में मार्क्स ने अच्छा चित्रण किया है। वह कहता है—

"निम्न-मध्यमवर्ग जैसे बीच के चन्दरोजा वर्ग—जिसमें दो परस्पर विरोधी श्रेणियों (शोषितों तथा शोषकों) के स्वार्थ कुन्द और अस्फुट हो जाते हैं—का प्रतिनिधि होने के नाते जनतन्त्रवादी ऐसा मानता है कि वह खुद साधारणतया वर्ग-विरोध से अलग (ऊपर) है। वह इतना तो कबूल करता है कि उसके मुकाबिले में मालदार और शक्तिशाली वर्ग खड़ा है। लेकिन वह यह भी मानता है कि वह तथा उसके इर्द-गिर्द जो बाकी लोग हैं—इन दोनों को मिला के ही आम लोग कहे जाते हैं। इसलिए वह समझता है कि वह आम लोगों (जनता) के हकों का ही प्रतिनिधि है और उसका जो स्वार्थ है वही जनता का भी स्वार्थ है। इसीलिए लड़ाई के मौके पर ये जनतन्त्रवादी इस बात की जरूरत ही नहीं समझते कि विभिन्न श्रेणियों के स्वार्थों एवं स्थितियों की जाँच करें। वह इसकी भी जरूरत नहीं समझते कि अपने साधनों का विचार तो जरा गृद्ध दृष्टि से करें—उनकी खूब छानबीन करें। वे मानते हैं कि उन्हें तो केवल इशारा कर देने की जरूरत है। फिर तो जनता अपने अमित साधनों के बल पर शोषकों पर टूट पड़ेगी। और अगर इस काम में उस समय उनके स्वार्थ बेकार साबित हो जायँ, लोगों को न जँचें और उनकी ताकत भी रद्दी मालूम हो तो इसमें एकमात्र दोष है उन उलटी-सीधी बात गढ़नेवाले शैतानों का, जो अविभजनीय जनता को अनेक परस्पर विरोधी दलों में बाँट देते हैं; या यह कि लड़नेवाली फौज इस कदर अन्धी



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और नासमझ बना दी गयी है कि वह जनतन्त्र के शुद्ध लक्ष्य को ही अपने लिए सर्वोत्तम मानने को तैयार नहीं; या ऐसा हो गया कि काम पूरा करने के ऐन समय सारी बात की उधेड़बुन करके सारा गुड़ गोबर कर दिया गया है, और अगर कुछ और नहीं तो यही हुआ कि इस बार किसी आकस्मिक घटना ने ही सारा आटा ही गीला कर दिया। सारांश, हर हालत में जनतन्त्रवादी तो बुरी से बुरी हार के बाद भी अपने आपको ठीक वैसे ही दूध का धोया साबित करते हैं, जैसे निर्दोष वे लड़ाई में पड़ने के पहले थे। विशेषता यही होती है कि उन्हें अब यह नया विश्वास हो जाता है कि अगली बार अवश्य जीतेंगे और यह भी इसलिए नहीं कि उनने और उनकी पार्टी ने अपने पूर्ववाले विचार हार के बाद बदल दिये हैं। बल्कि इसलिए कि परिस्थिति उन्हीं के अनुकूल तैयार हो जायगी।''

जनतन्त्र का दमामा बजाने तथा रामराज्य, स्वराज्य आदि गोल-मोल बातों की ही शकल में स्वतन्त्रता का स्वप्न देखनेवाले बाबू लोग कितने गहरे पानी में होते हैं इसका पता उन्हें खुद नहीं होता। वे तो सारी बातों को अपने ही आईने में देखते हैं। दुनिया बदलती रहती है, परिस्थितियाँ बदल जाती हैं और समाज का नये सिरे से संगठन होके वह परस्पर विरोधी अनेक दलों में विभक्त हो जाता है। इन दलों की हालत यह होती है कि एक-दूसरे को हजम कर डालना, मिटा देना चाहते हैं। ये ऐसे होते हैं कि 'ऐसे एक तिनहि धरि खाहीं। एक न के डर एक पराहीं'। फिर भी जनतन्त्रवादी महाशय इस बात को स्वीकार ही नहीं करते ! और अगर इसके करते ही उन्हें विजय न मिली, आजादी नहीं हाथ लगी, तो उल्टे इसके लिए अपराधी उन्हीं लोगों को बना डाल्ते हैं, जो समाज की असलियत को—इसके श्रेणी विभाग को—स्वीकार करते और तदनुसार ही काम करने की राय देते हैं ! जनतन्त्रवादी भलेमानस तो अपने आपको ठीक रास्ते पर ही मानते हैं। इसीलिए हार पर हार होने के बाद भी उन्हें अक्ल नहीं आती है। वे तो यही सोचते रहते हैं कि उनका रास्ता ही सही है। दुनिया को उनके ही खयाल के अनुसार एक-न-एक दिन बदलना होगा और उनकी जीत इसी तरह होगी। ये भयंकर खूसट और दकियानूस होते हैं। मार्क्स ने इनका यही चित्रण उक्त वाक्यों में किया है।

उदयनाचार्य नाम के एक अत्यन्त प्रौढ़ नैयायिक हजारों वर्ष पहले हो गये हैं। उनने अनात्मवादियों का खण्डन तथा आत्म सिद्धि के लिए संस्कृत में एक विशिष्ट ग्रन्थ 'आत्मतत्त्व विवेक' नाम से लिखा है। उसमें शून्यवाद के सिलसिले में उनने एक सनकी की कहानी लिखी है। वह कहते हैं कि किसी राजा के दरवाजे पर बँधा हाथी दूर से देखकर एक पागल ने सोचा कि यह क्या है। उसने हाथी तो कभी देखा न था, या यह कि दिमाग ठीक न होने के कारण उसे वह दूर से पहचान न सका। फिर उसकी पिनक चली। उसके लम्बे-लम्बे कान, हिलनेवाली लम्बी पूँछ, रह-रह के गुदा मार्ग से गिरनेवाली लीद, और पेशाब, काला शरीर और आवाज आदि को


RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जानकर उसने तर्क किया कि यह काला पहाड़ लाठी तो नहीं घुमा रहा है? या कि मेघ है, जो गर्जता और बरसता है? आदमी के सैकड़ों सिर रह-रह के उगलनेवाला कोई राक्षस है क्या? या हमारा कोई बन्धु-बान्धव है; क्योंकि नीतिकार कहते हैं कि राजद्वार और श्मशान में जो पाया जाय वही बन्धु है "राजद्वारे श्मशाने च, यस्तिष्ठति स बान्धवः।" फिर उसने एक-एक करके इन सभी कल्पनाओं का खुद ही खण्डन कर डाला और अन्त में कहा कि इसलिए यह कुछ भी नहीं है—"तस्मान्न किमप्येतत्"।

इस पर उदयनाचार्य ने टिप्पणी करते हुए कहा है कि तो क्या उस पगले की दलील और तन्मूलक उसके नतीजे को मान के यह बात कभी हो सकती है कि हाथी ही न हो? "किमेतावता द्विरदरूपो निवर्त्तताम्"? ठीक यही दशा इन दकियानूस वर्ग सामंजस्यवादियों की है। ये हजार दलीलें देकर यही सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि वर्तमान समाज में वर्ग हई नहीं। सभी एक हैं। इसीलिए वर्ग-युद्ध की जरूरत हई नहीं। लेकिन उनकी इन वाहियात बातों के फलस्वरूप क्या ठोस सत्य खत्म हो जायगा? रोज ही देखा जाता है कि धनी-गरीब, किसान-जमींदार, पूँजीपति-मजदूर आदि दल एक-दूसरे पर खार खाये बैठे हैं और एक-दूसरे को मिटा देना चाहते हैं। फिर भी इन्हें सरासर इनकार करना तो जीती मक्खी निगलना क्या ऊँट निगलना है। लेकिन ये भलेमानस यही करते हैं !

मार्क्स ने कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो को आरम्भ किया ही है इसी वर्ग-संघर्ष को लेकर ही। उसका पहला वाक्य कहता है कि अब तक जिन-जिन समाजों का पता लगता है उनका इतिहास वर्ग-संघर्ष का ही इतिहास है। इसके बाद इसी बात का विस्तृत विवेचन किया गया है। मार्क्स कहता है कि यह वर्ग-संघर्ष और संघर्षों की तरह हमेशा खुलके ही हो यह जरूरी नहीं है। यह तो कभी भीतर-ही-भीतर राख में दबी आग की तरह सुलगता तथा धक्-धक् करता रहता है और कभी ऊपर आता है। "शोषक और शोषित अनवरत रूप से एक-दूसरे के मुकाबिले में खड़े होकर इस संघर्ष को, कभी प्रकट, कभी अप्रकट रूप से, अविरल चलाते आ रहे हैं।" वह यही मानता है कि इसी वर्गयुद्ध के फलस्वरूप पुराने समाज का नाश और नये की रचना होती है। कभी-कभी लड़नेवाले दोनों की ही तबाही होकर एक तीसरा वर्ग खड़ा होता और समाज को अपने रंग में ढालता है और कभी दो में एक का ही नाश होकर दूसरे के द्वारा ही नया समाज बनता है।

पुराने लोगों ने जो "जीवो जीवस्य जीवनम्" कहा है और नयी भाषा में आज जिसे 'जीवन संग्राम' (struggle for existence) कहते हैं, उसका भी मतलब इस वर्ग-संघर्ष से ही है। यह जीवन-संघर्ष कोई व्यक्तिगत रूप से नहीं चलता है। बकरी और बाघ की लड़ाई व्यक्तिगत नहीं है। चूहे और बिल्ली की भी यही बात है। जमींदार और किसान तथा पूँजीपति और मजदूर निजी तौर पर हर्गिज नहीं लड़ते। जमींदार की बात सुनते ही हजार कोस दूर का जमींदार व्यक्तिगत फायदा-नुकसान न होने



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पर भी उसी के पक्ष का समर्थन करता है। यही बात पूँजीपतियों की भी है। जाति, धर्म, सम्प्रदाय, देश आदि किसी बात की परवाह न करके शोषक शोषक मिल जाते और एक ही आवाज, हुआं में हुआं, जाहिर करते हैं। खूबी केवल इतनी ही है कि वे अपनी लड़ाई को राष्ट्रीयता, धर्म, देश और सार्वजनिक कल्याण का नकली जामा पहनाते और इसमें अधिकांश सफल होते भी हैं। इसीलिए तो यह लड़ाई अप्रकट हो जाती है। मगर इसके चलते ज्यादा खतरनाक बन जाती है। क्योंकि शोषित लोग अपने भोलेपन के चलते धोखा जो खा जाते हैं।

यह ठीक है कि शोषितों—किसान-मजदूरों—में यह बात नहीं है। वह आसानी से अपनी लड़ाई को वर्गगत बना नहीं पाते। क्योंकि उनमें न तो इतनी जानकारी ही है और न योग्यता ही। वे तो जान-बूझकर नादान, अपढ़ और अन्धविश्वासी बनाके रखे ही गये हैं। ताकि असलियत समझ न सकें। नहीं तो अपनी अपार संस्था के बल पर बात की बात में शोषकों को उठा फेंकेंगे। उनके इर्द-गिर्द इतने प्रकार के जाल बिछाये गये हैं कि वे एक-न-एक में फँस ही जाते हैं। यही कारण है कि सर्वहारा के नेतृत्व के मूल में यह वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त रखा गया है। किसान-मजदूरों की आँखें दूसरे ढंग से खुल ही नहीं सकती हैं और न उन्हें असलियत का पता ही लग सकता है। यह वर्ग-संघर्ष तो उनकी भीतरी आँख के लिए अंजन का काम देता है।

बेशक पूँजीवाद का विकास जैसे-जैसे होता गया है मजदूरों और किसानों की आँखें खुलती गयी हैं। अब तो अत्यधिक विकास के चलते वे बहुत ज्यादा सतर्क और सचेष्ट हो गये हैं। पूँजीवादी हजार न चाहने पर भी ऐसा करने को मजबूर हैं। इससे उनकी जड़ खोखली होती है सही। मगर करें क्या? यही तो पूँजीवाद का भीतरी विरोध है जो एक-न-एक दिन उसे खत्म करके छोड़ेगा। मार्क्स ने जिस द्वन्द्ववाद (dialectical theory) को माना है और उस पर सबसे ज्यादा जोर दिया है, उसका मतलब ही यही है कि हरेक पदार्थ में ही उसके नाश का बीज निहित है, जो प्रौढ़ होने पर उसे ले बीतता है। वर्ग-संघर्ष का मूलाधार भी यही सिद्धान्त है। कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में उसने इस बात को विवरण के साथ बताया है कि किस प्रकार बूर्ज्वा वर्ग ने इस वर्ग-संघर्ष को अत्यन्त विकसित कर दिया है। जो चीज पुराने जमाने में अनेक अस्पष्ट जातियों और दलों के बीच में चलतीं थी और इसीलिए स्पष्ट न थी, उसे उसने साफ और आसान बना दिया। धर्म और जाति-पाँति का बुर्का उस चीज पर से उसने उतार फेंका और उसे सीधा आर्थिक जामा पहना दिया है। इसीलिए आज का जो वर्ग-संघर्ष है वह दो परस्पर विरोधी आर्थिक वर्गों के ही बीच है। मार्क्स ने केवल आर्थिक वर्गों को ही स्वीकार किया है। बाकियों को इन्हीं का रूपान्तर माना है। उसकी नजर में शोषित और शोषक यही दो असली वर्ग हैं और इन्ही की लड़ाई अविराम चालू है। बूर्ज्वा और प्रोल्तारियत शब्द भी आज की भाषा में इन्हीं दो वर्गों को बताते हैं। मार्क्स मैनिफेस्टो में इस बात को जिस सफाई के साथ



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिखता है वह तो पहले ही बताया जा चुका है। वह और भी कहता है—

"हमारे युग में जो बूर्ज्वा (पूँजीवादी) का युग है यह एक विशेषता है कि इसने वर्ग-विद्वेष को सीधा और सरल रूप दे दिया है। समूचा समाज तेजी के साथ दो बड़े परस्पर विरोधी वर्गों में बँटता जा रहा है। ये दोनों बड़े वर्ग ऐसे हैं कि एक-दूसरे के सामने डटे हैं। इन्हें पूँजीवादी और सर्वहारा कहते हैं।"

हमने इस बात का कुछ विस्तार के साथ 'किसान क्या करें' पुस्तक में वर्णन किया है। इसीलिए यहाँ ज्यादा लिखना ठीक नहीं समझते। यहाँ तो संकेत रूप में इतना ही कहना काफी होगा कि ज्यों-ज्यों पूँजीवाद का विकास होता जाता है पुराने पेशे, रोजी के पुराने तरीके, पुराने रीति-रिवाज और समाज के पुराने विभाग त्यों-त्यों तेजी के साथ मिटते जाते हैं। तेल पेरनेवाली एक कल हजारों तेली के कोल्हुओं को खत्म करके उनके परिवार को भिखमंगा और मजदूर बना देती है। आटे की कल भी पुरानी चक्कियों का सफाया यों ही करती है। एक चीनी की मिल हजारों पुराने चीनी के कारखानों को मिटा के लाखों आदमियों को बेकार और मजदूर बना डालती है। रेल, ट्राम, बस आदि के चलते लाखों इक्के, टमटम, बैलगाड़ियाँ टूट जाती हैं और उनके चलानेवाले सचमुच सर्वहारा बनते जाते हैं। हमें पता नहीं चलता। मगर धीरे-धीरे यह काम होता रहता है। यही है अप्रकट वर्ग-संघर्ष। नये कारखानों, नयी मिलों और नयी सवारियों के सामने पुरानी चीजें टिक नहीं सकती हैं और खत्म हो जाती हैं। इतना ही नहीं। एक ही साथ कई मिलें जुट जाती हैं और एक-एक मिल जुदा-जुदा चलानेवाले उनके सामने डट नहीं सकने के कारण खत्म हो जाते हैं। छोटे कारखानों को बड़े हजम कर जाते और उन्हें भी उनसे बड़े चट कर लेते हैं ! इस तरह निरन्तर संहार जारी है, जो प्रतिदिन भीषण होता जाता है। जो बूर्ज्वा अपने ही कमजोर और छोटे भाइयों को हजम करने में जरा भी नहीं हिचकता वह दूसरों को कैसे छोड़ेगा? वह उनके साथ रिआयत क्यों करने लगा?

पुराने सामन्तशाही, खूसट, दकियानूस या सनातनी समाज में जो इतना तेज वर्ग-विद्वेष न था वही अब तेज हो गया। वहाँ भी एक-दूसरे के साथ संघर्ष तो रहता ही है। गुलामों और अर्द्ध गुलामों का अपने मालिकों के साथ, महाजनों का कर्जदारों के साथ, छोटे-छोटे किसानों का बड़ों के साथ और उनका महान् भूस्वामियों के साथ। वह तो पूँजीवादी समाज में नहीं दीखता। मगर उसकी जगह दूसरे संघर्ष ले लेते हैं—पुरानों को नया रूप मिल जाता है। कल-कारखानों के साथ-साथ पूँजीवादी ढंग से खेती का विकास होने के कारण वहाँ भी दोई वर्ग रह जाते हैं—एक बड़े-बड़े खेतवाले और दूसरे उनमें मजदूरी करनेवाले। बड़े-बड़े फार्मों की खेती के सामने नन्हे-नन्हे खेतोंवाले किसान खत्म हो जाते और अपनी जमीनें बेचकर भाग जाते हैं। छोटे-छोटे महाजनों की जगह पूँजीपतियों के बड़े बैंक ले लेते हैं और उनका लेन-देन दूसरी तरह से चल पड़ता है। उनके कर्जदार बड़े-बड़े कारखाने और मुल्क हो जाते हैं।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2
इस प्रकार शोषक और शोषित ये दो ही वर्ग अन्त में रह जाते हैं। बीचवाले स्वतन्त्र खाते-पीते दल का, जो पहले था, पता भी नहीं रह जाता है। खूबी तो यही है कि पुराने सामन्तशाही समाज की समाधि पर ही बने होने पर भी यह पूँजीवादी समाज उसके वर्ग-संघर्ष को मिटाने के बदले अपने भीतर रख के उसे और भी तेज और स्पष्ट बना देता है। उस समाज को मिटाके भी उसके इस गुण को नहीं मिटा सकता। मैनिफेस्टो में लिखा है—

"सामन्तशाही समाज की कब्र पर ही बनने पर भी आधुनिक पूँजीवादी समाज ने उसके वर्ग-विद्वेषों को मिटाया नहीं है। प्रत्युत इसने नये-नये वर्गों, उत्पीड़न के नये-नये तरीकों और युद्ध के नये-नये रूपों को पुरानों के स्थान पर पैदा कर दिया है।"

जो लोग ऐसा सोचते हैं कि सरकार तो किसी वर्ग की तरफदारी नहीं करती है, वह तो सभी वर्गों से परे होकर न्याय का पलड़ा सबों के बीच में बराबर रखती है और इसीलिए अन्याय करनेवालों को दबाती है, वह निरे भोंदू हैं। जोई वर्ग शक्तिशाली और चलतापुर्जा होता है उसी के हाथ की कठपुतली सरकार हुआ करती है। प्रभुत्व प्राप्त शक्तिशाली वर्ग के विरुद्ध बगावत करनेवालों का दबाना ही सरकार का एकमात्र काम होता है। इसीलिए पूँजीवादी समाज में सरकार पूँजीवादियों की ही चेरी होती है, उन्हीं के इशारे पर नाचती है। चाहे हजार जुल्म ज़मींदार और मालदार करें। मगर ज्यों ही पीड़ित और शोषित लोग संगठित या असंगठित रूप से उनके विपरीत सिर उठाते या चूँ तक करने को तैयार हुए कि सरकार की लाडली पुलिस और फौज उन्हें लाठी और गोली के घाट उतारती है, जेलों में बन्द करती है, नजरबन्द करती है तथा फाँसी पर लटकाती है। फिर भी उसे निरपेक्ष और मध्यस्थ मानना कोरी मूर्खता है। न्याय तो शोषितों की ही ओर है। फिर भी उन्हीं का दमन? इसीलिए मैनिफेस्टो में मार्क्स लिखता है—

"अन्ततोगत्वा पूँजीवादियों ने नये ढंग के कल-कारखानों की स्थापना और संसार-व्यापी बाजार के खुल जाने के वक्त से ही मौजूदा प्रतिनिधिमूलक शासन में अपने लिए सोलहों आना राजनीतिक प्रभुत्व को जीत लिया है। इसलिए आजकल की सरकारों की जो शासन समिति होती है वह समस्त पूँजीवादी समाज के सर्वसाधारण मामलों की प्रबन्धक समिति के अलावे और कुछ नहीं है।"

मगर इसका यह मतलब हर्गिज नहीं है कि पूँजीवादी जैसे चलतेपुर्जे और प्रभावशाली वर्ग का अधिकार शासनसूत्र के ऊपर इसी समय मिला है। यह तो इतना ही कहता है कि आज उसका शासन पर एकछत्र अधिकार है। जो मालदार लोग हैं उन्हीं की मर्जी से ही सरकार का हरेक काम होता है। इस मामले में पूँजीवादियों ने आखिरी तरक्की की है सही। मगर पहले भी प्रभावशाली वर्ग का ही बोलबाला शासन में रहा करता था जरूर। हाँ, उस समय प्रतिनिधिमूलक शासन न होने के



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कारण ऐसी बात न थी जैसी आज है। तब तो निरंकुश शासक कभी-कभी उलट-पलट भी कर देते थे। मगर अब यह बात नहीं है। इसीलिए तो पूँजीवादियों ने वर्तमान प्रतिनिधिमूलक शासन व्यवस्था की स्थापना लड़ कर की है। क्योंकि चुनावों में विजय पाने के लिए उनके पास हजार हथकण्डे हैं, जिनसे वे ख़ामखाह जीतते ही हैं। इसीलिए तो सोलहों आना अधिकार (exclusive control) की बात कही गयी है। मगर पहले भी कमबेश यही दशा परिस्थिति के अनुसार थी। जैसे-जैसे परिस्थिति बदली है तैसे वह भी बदलती और पूर्ण होती गयी है। इसीलिए ऊपर लिखे वाक्यों के ठीक पहले मार्क्स कहता है—

"पूँजीवादी वर्ग की प्रगति के प्रत्येक कदम के साथ ही उसकी राजनीतिक प्रगति भी उसी के अनुकूल होती गयी है। सामन्तशाही के समय में तो शोषित और पीड़ित वर्ग के ही रूप में यह चीज थी। फिर मध्ययुग की कम्यून (स्वायत्त संस्था) में यही वर्ग शस्त्रधारी और स्वशासनाधिकार प्राप्त संस्था के रूप में आगे बढ़ा। उसके बाद कहीं-कहीं स्वतन्त्र नागरिक गणतन्त्रों के रूप में पाया जाता था, जैसे कि इटली और जर्मनी में, और कहीं-कहीं तृतीय विभाग (थर्ड इस्टेट) के नाम से बादशाह के कर का दारोमदार उसी पर था। उसके अनन्तर जब दस्तकारी और छोटे-मोटे कारखानों की तरक्की हो चली तो अर्द्ध सामन्त या एकच्छत्र शाहंशाही के युग में सामन्तों और रईसी के रक्षक रूप में और वस्तुतः सामान्य रूप से शाहंशाहियतों के मूलाधार के रूप में यही वर्ग पाया जाता था।"

एंगेल्स ने 'फ्रांस में गृहयुद्ध' नामक पुस्तक में सरकार की हकीकत इस तरह लिखी है—

"हकीकत में एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग को सताने की मशीन के सिवाय सरकार और कोई चीज नहीं है, बेशक चाहे वह जनमतमूलक हो या बादशाही हो। कम-से-कम वह एक तरह की बुराई तो जरूर है, जिसे सर्वहारा ने अपने वर्ग के प्रभुत्व के युद्ध में उत्तराधिकार के रूप में पाया है और उसका काम है कि उस सरकार के सबसे बुरे अंशों को तो जल्द-से-जल्द मौका मिलते ही काट-छाँट कर दे, जैसा कि पेरिस की कम्यून ने किया था। उसके शेषांश भी तभी तक रहेंगे जब तक नये और स्वतन्त्र सामाजिक वायुमण्डल में पली नयी पीढ़ी इस सरकार रूपी कूड़े-कचरे को कूड़ेखाने में फेंक देने लायक बन न जाय।"

यहाँ पर एंगेल्स ने कई मार्के की बातें कही हैं। पहली तो यह कि एक वर्ग के हाथ में यन्त्र की तरह बनकर सरकार दूसरे वर्ग के सताने का काममात्र देती है। इसका दूसरा प्रयोजन हई नहीं। चाहे यह सरकार किसी बादशाह की हो या गणतन्त्र की, दोनों का यही एक काम है। दूसरी बात यह है कि श्रमिक वर्ग ने अपने हाथ में इसकी बागडोर जो ली है वह मजबूरन। इस बुराई को केवल इसीलिए उसने हथियाया है कि इसके द्वारा शोषकों को दबाकर और मिटाकर नयी सामाजिक व्यवस्था कायम



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करे। 'विषस्य विषमौषधम्' के अनुसार पूँजीवादियों के शोषण आदि रूप जहर को मारने के ही लिए श्रमिकों ने इस सरकार रूपी जहर को स्वीकार किया है। फलतः उस जहर को मिटा देने के बाद यह जहर भी खुद ही मिटेगा, मिटा दिया जायगा। तीसरी यह कि जब तक मिट नहीं जाता तब तक भी इसका रूप पूँजीवादी सरकारों जैसा हर्गिज नहीं रहना चाहिए। श्रमजीवी लोग इसके भद्दे और बेहूदे हिस्से को तो फौरन काट-छाँट के निकाल देंगे, जैसा कि पेरिस कम्यून ने किया था। कम्यून में एक तो हाकिम लोगों का चुनाव होता था। दूसरे जनता की राय से वे जब चाहे हटा दिये जाते थे। तीसरे उनका वेतन ज्यादे से ज्यादा उतना ही होता था जितना किसी कुशल श्रमिक का। वहाँ पुलिस और फौज अलग न होकर समस्त जनता को ही शस्त्रास्त्र की शिक्षा दी गयी थी और वही पुलिस एवं फौज का काम करती थी। पूँजीवादी सरकार में ये चारों बातें नहीं होती हैं।

वहाँ तो वेतनभोगी फौज और पुलिस जनता से अलग रहती है जो मौके पर शोषकों की आज्ञा से जनता की छाती पर जा बैठती है। हाकिम-हुक्काम की नियुक्ति तो सरकार के बड़े अफसर ही करते हैं, यहाँ तक कि रिपब्लिक और गण शासन में भी ऐसा ही होता है। उनका वेतन भी बहुत ज्यादा होता है। जनता जब चाहे उन्हें हटा तो सकती ही नहीं। ये सब बातें जनता के दबाने के लिए जरूरी हैं। अगर उसकी ही राय से सब कुछ हो तो फिर हाकिम, पुलिस या फौज उससे ख़ामखाह डरेगी। इसीलिए उसकी छाती पर बैठने की हिम्मत उसे होगी ही नहीं। जब अपने ही आदमी सर्वत्र रहेंगे तो फिर सतायेंगे कैसे? इसीलिए स्वतन्त्र रूप में हाकिम-हुक्काम रखे जाते हैं। जनता इधर भूखों मरती है उधर उन्हें इतनी तनख्वाह मिलती है कि उनके घर घी के चिराग जलते और तवायफें नाचती हैं। इसीलिए एंगेल्स ने कहा है कि ये सब चीजें तो श्रमजीवियों की सरकार में रहने न दी जायँगी। किन्तु मौका पाते ही फौरन हटा दी जायँगी।

चौथी बात यह है कि अन्ततोगत्वा सारी की सारी सरकार ही एक दिन खुद खत्म हो जायगी, मिट जायगी, गल जायगी—"will wither away". उसकी जरूरत रही न जायगी। सभी लोग इतने विज्ञ, मुस्तैद और कर्त्तव्यनिष्ठ बन जायँगे कि वह सारा काम खुद कर लेंगे, जो सरकार करती है। पुलिस और फौज का काम तो शुरू से ही खुद करने लगते हैं। बाकी भी समय पाके स्वयं करने लग जायँगे। मगर यह बात तभी होगी जब श्रमिकों की नयी सरकार स्वतन्त्र और नये समाज की रचना कर देगी, जब श्रेणी हीन समाज बना देगी। उनकी जो पीढ़ी इस नवीन समाज में पलेगी वही सरकार को खत्म कर देंगी, उसके चलते ही सरकार खुद-ब-खुद अपने को मिटा देगी। यानी सरकार के द्वारा बनाया गया श्रेणीविहीन नया समाज उसे मिटा देगा। "केला, बिच्छू, बाँस। अपने जन्मे नाश" वाली बात हो जायगी।

फिर 'वंश का मूल' (Origin of Family) ग्रन्थ में इसी बात को एंगेल्स ने



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और भी सफाई से लिखा है, जिससे सरकार की असलियत पर पूरा प्रकाश पड़ता है। वहाँ लिखा है—

"सरकारी अफसरों के हाथ में फौज और पुलिस हो जाने तथा कर वसूलने का अधिकार आ जाने पर वे लोग समाज के ही एक हिस्से के रूप में समाज के ऊपर जा बैठते हैं।"

"साथ ही, इतिहास जिन सरकारों का पता बताता है उनमें अधिकांश में नागरिकों को जो हक मिले थे वह सम्पत्ति के अनुसार ही थे। इस तरह यह बात साफ सिद्ध हो जाती है कि सरकार तो मालदारों की संस्था है जो भुक्खड़ों से उनकी हिफाजत करती है।"

"सभ्य समाज को एक सूत्र में जोड़ने का काम सरकार का है। यह सरकार हर खास-खास समयों में शासक दल की ही चीज रही है और बराबर इसका सचमुच यही काम रहा है कि शोषितों एवं मजलूमों को दबाये रहे।"

'मकान का सवाल' नामक लेख में वह जरा और भी साफ कह देता है कि—

"सरकार और कुछ नहीं है सिवाय सम्पत्तिवाले जमींदारों और पूँजीपतियों के वर्गों की एक सम्मिलित और सुसंगठित ताकत के। इसका काम है शोषितों—किसान, मजदूर दलों—को दबाना।"

इस अन्तिम कथन से किसानों और मजदूरों को सरकार की असलियत का बखूबी पता लग जाता है। वे जान जाते हैं सरकार तो जमींदारों और पूँजीपतियों की ही है, चाहे उस पर ऊपर से लाख मुलम्मा चढ़ाया जाय और बहानेबाजी की जाय। इसीलिए जब-जब मौका आता है यह मुलम्मा और यह बुर्का फेंक के वह किसानों एवं मजदूरों को आ दबोचती है। वर्ग-संघर्ष की जरूरत भी इसीलिए है कि माँ-बाप सरकार का पर्दाफाश हो जाय, न्याय की दुहाई देनेवाली सरकार की कलई खुल जाय और किसान तथा मजदूर उसका नंगा रूप देख लें—गधे की खाल में छिपे बाघ का खूनी पंजा पहचान के सजग हो जायँ। ज्यों ही बकाश्त जमीन की लड़ाई या कोई ऐसा ही सवाल किसान खड़ा करते हैं कि पुलिस की लाठी, गोली और हथकड़ी आ धमकती हैं। मजदूर अगर वेतन बढ़ाने, काम का घण्टा कम करने या छुट्टी के लिए मिल-मालिकों के सामने डटने का खयाल करें, तो भी यही समाँ नजर आती है। इससे पता लग जाता है कि सरकार, कानून या कानूनी तरीकों से वे कोई आशा कर नहीं सकते। ये सभी—तीनों ही—बेगाने जो ठहरे।

इसी प्रसंग से हम एक और बात कहकर आगे बढ़ेंगे। जो लोग ऐसा समझते हैं कि सरकार सदा से रही है, और क्रान्तिकारी कहे जाने वालों तक को भी हमने ऐसा कहते और लिखते पाया है, उन्हें एंगेल्स ने अपनी पुस्तक 'सरकार की बुनियाद' में यों कनेठी दी है—

"इसलिए सरकार ऐसी शक्ति नहीं है जो किसी भी तरह समाज के माथे बाहर



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से लादी गयी हो। "यह नैतिक विचारों का वास्तविक रूप," और "ज्ञान की प्रतिमा और वास्तविकता" भी नहीं है, जैसा कि हेगल ने कहा था। बल्कि उत्पादन की प्रगति की दशा विशेष में इसे समाज ही खुद पैदा करता है। सरकार इस बात का सबूत है कि समाज के भीतर ऐसा विरोध पैदा हो गया है जो हटाया जा नहीं सकता—यह समाज ऐसे परस्पर विरोधी दलों में बँट गया है, जिन्हें खुद शान्त करने में असमर्थ है। लेकिन कहीं ऐसा न हो जाय कि ये भीतरी विरोध और विरोधी स्वार्थों वाले वर्ग अपने आपको और समाज को भी वाहियात संघर्षों के बीच स्वाहा कर बैठें, एक ऐसी शक्ति की जरूरत होती है जो जाहिरा तौर पर समाज से अलग हो और जिसका काम यही हो कि इस संघर्ष को धीमा कर सके और अमन कानून के भीतर ही सीमित रखे। यही शक्ति, जो समाज से ही पैदा होती है, लेकिन अपने को समाज के ऊपर रखती और अधिकाधिक रूप में समाज से अपने आपको जुदा करती रहती है, सरकार कही जाती है।"

"राष्ट्र के भीतर वर्ग विद्वेष जितने ही तेज होते जाते हैं और पास-पड़ोस की सरकारों का विस्तार और उनकी जनसंख्या जितनी ही बढ़ती है, सरकार की शक्ति भी उतनी ही ज्यादा होती है। यदि हम वर्तमान यूरोप्र पर नजर डालें तो पता चलेगा कि वहाँ वर्ग-संघर्ष और गैरों के जीतने में चढ़ा-बढ़ी ने सरकारी शक्ति को इतना ज्यादा बढ़ा दिया है जिससे अंदेशा है कि कहीं वह समस्त समाज को ही और खुद अपने को भी हजम न कर डाले।"

"इसलिए सरकार की सत्ता अनादिकाल से नहीं है। पूर्व समय में ऐसे भी समाज रहे हैं जिनका काम बिना सरकार के ही चलता रहा है, जिनके दिमाग में सरकार और सरकारी ताकत का खयाल तक नहीं आया। लेकिन आर्थिक विकास के दौरान में एक ऐसी स्थिति आ गयी जबकि समाज ख़ामखाह वर्गों में बँट गया। इसी के चलते सरकार की जरूरत आ पड़ी। अब हम पुनरपि इस विकास की प्रगति की उस दशा में बड़ी तेजी से पहुँच रहे हैं जब कि इन वर्गों की अनावश्यकता ही नहीं है। किन्तु इनके करते उत्पादन को सचमुच बड़ा धक्का पहुँच रहा है। जिस तरह पूर्वकाल में ये वर्ग पैदा हुए थे उसी तरह अब ये जरूर ही लुप्त हो जायँगे और उन्हीं के साथ सरकार भी गायब हो जायगी। जिस व्यवस्था में सभी कमानेवालों को स्वतन्त्र और बराबर अधिकार हर चीज में रहे उसी के अनुसार जो समाज उत्पादन की प्रणाली नये सिरे से चालू करेगा वही सरकार के समूचे ढाँचे को वहीं पहुँचा देगा जो इसके लिए उचित स्थान होगा—अर्थात् सरकार एक अजायबघर में रख दी जायगी, जहाँ इसकी बगल में ही चरखा और काँसे की कुल्हाड़ी भी रखी होगी।"

इस लम्बे विवेचन ने यह सिद्ध कर दिया कि वर्ग-संघर्ष इस संसार का नियम है और जो भी सामाजिक व्यवस्था या उसे चलानेवाली सरकार बनती है वह इसी वर्गयुद्ध के ही आधार पर होती है। जो भी दल विजयी, प्रभुत्वसम्पन्न और चलता



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुर्जा होता है, जो भी कल, बल, छल से बाकियों को—अन्य वर्ग या वर्गों को—दबा लेता है वही अपने ही अनुकूल समाज की व्यवस्था रचता और उसे चलानेवाली सरकार कायम करता है। लेकिन इसमें खूबी यही होती है कि यह बात इस चालाकी से की जाती है कि आम लोगों को, जनता को—किसानों और मजदूरों को—इस बात का पता ही नहीं चलता है कि सरकार शोषक वर्ग की ही है, उसपर उसी वर्ग की छाप लगी है, वह उसी के हाथ की कठपुतली है। पढ़े-लिखे लोग, वकील, प्रोफेसर, पण्डित, मौलवी, पादरी, पत्र-पत्रिकाएँ, सभाएँ, व्याख्यान और छोटे-बड़े पोथी-पोथे—सब-के-सब—सरकार का असली रूप छिपाने में ही लगे रहते हैं। राजा या राष्ट्रपति देवताओं का ही अंश है, भगवान् का ही अवतार है, धर्म की मूर्ति है, न्याय और अन्याय के पलड़े को ठीक रखने के ही लिए उसका अवतार हुआ है, मन्त्री और कार्यकारिणी के सदस्य एकमात्र परोपकारी जीव हैं, वे किसानों, मजदूरों और अन्य दुखियों के कष्टों से मरे जा रहे हैं, उनमें पूरा विश्वास कीजिए, आदि-आदि ढिंढोरे बराबर पीटे जाते हैं। फिर जनता को धोखा क्यों न हो। वह तो जानती है कि इतने लोग कभी झूठ बोल नहीं सकते। भला ये धर्माचार्य, जो प्रतिदिन ध्यान में भगवान् से मिलते और बातें करते हैं, झूठ कैसे कहेंगे ! उसे क्या पता कि ये सभी बगुला-भगत हैं, जमींदारों और मालदारों के, जान में या अनजान में, दलाल हैं?

ऐसे जाल का भंडाफोड़ सभाओं, अखबारों, किताबों और प्रचार मात्र से नहीं हो सकता। इन सबों से रास्ता कुछ-कुछ साफ होता है जरूर। मगर जनता की आँखें नहीं खुल पाती हैं। यह तो आपबीती के ही करते होता है। जब लोगों के माथे आ बीतती है, उन्हें स्वयं अनुभव होता है तभी उनकी आँखें खुलती हैं। इसीलिए पहले बताया गया है कि अपने अनुभव के ही बल पर जब जनता हमारी बातों को दिल से माने तभी हमारे साथ मर मिटेगी। इसीलिए लेनिन का यह उपदेश भी बताया जा चुका है कि जनता की वास्तविक शिक्षा स्कूलों, तथा किताबों वगैरह से नहीं होती। उससे उल्टा उसका दिमाग विकृत हो जाता है और उसमें मालदारों के संस्कार भर जाते हैं। उसकी असली शिक्षा लड़ाई में ही होती है। हजारों लेक्चरों और बीसियों वर्षों के काम एक संघर्ष कर देता है, एक लड़ाई कर देती है। यह संघर्ष आँखों के पर्दे को रत्ती-रत्ती करके फाड़ फेंकता और सरकार तथा समाज का नग्न रूप सामने ला खड़ा करता है। जो बगुला-भगत नकली आँसू बहाते रहते हैं उनका भी पर्दा इस संघर्ष में खुल जाता है।

लेनिन ने यह भी बता दिया है कि यह संघर्ष और कुछ नहीं सिवाय वर्ग-संघर्ष के। चाहे कारखानों में मजदूरों की हड़ताल और देहात में किसानों की हड़ताल हो, या बकाश्त जमीन की सीधी लड़ाई हो, स्कूल-कॉलिजों में छात्रों की स्ट्राइक हो, या इक्के, टमटम, लौरी वालों की स्ट्राइक हो। काम करनेवाले अपना काम बन्द कर दें जब तक उनकी उचित माँगें पूरी न हों, चाहे इसके लिए उन्हें जो भी बला भुगतनी



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पड़े। यही है असली संघर्ष, वर्ग-संघर्ष। जहाँ यह संघर्ष छिड़ा कि शोषकों की दया, धर्म, उदारता की सारी बातें गयीं और उनने खूनी पंजा दिखाना शुरू कर दिया। उनकी मदद में सरकार भी आ धमकी। फलतः सबका कच्चा चिट्ठा खुल गया और शोषितों ने देख लिया कि हकीकत क्या है, कौन उनके साथी हैं, कौन नहीं ! नकली नेताओं की पोल भी इसी में खुलती है। मगर फिर भी आँखें बन्द हो जा सकती हैं। ऐसा होता है। समाज के खूसट संस्कार फिर अन्धा बना देते हैं। इसीलिए यह लड़ाई बराबर चालू रहे, स्थान-स्थान पर होती रहे। तभी सभी शोषितों के दिल-दिमाग पर यह बात बज्रलीक हो जायगी कि सरकार या उसके नायक मालदार तक तब नहीं सर होंगे जब तक उनकी छाती पर चढ़ने को हम तैयार न हों, जब तक उन्हें मजबूर न कर दें। एतदर्थ हर प्रकार की सीधी लड़ाई, संघर्ष, हड़ताल जरूरी है। चाहे यह संघर्ष आर्थिक हो या राजनीतिक। चाहे यह अपने ही लिए हो, या दूसरों की सहानुभूति में हो। इसके करते जनता की आँखें खुलेंगी, वह तैयार होगी तथा करोड़ों की तादाद में लड़ाई खिंच आयेगी। इसीलिए लेनिन ने 'हमारा कार्यक्रम' में लिखा है, जो सन् 1905 के पहले लिखा गया था—

"श्रमजीवियों का वर्ग-संघर्ष दो भागों में बँटा है—(1) आर्थिक लड़ाई, जो व्यक्तिगत पूँजीपतियों या उनकी जमातों से लड़ी जाती है और जिसका लक्ष्य होता है श्रमिकों की दशा सुधारना। (2) राजनीतिक लड़ाई, जो सरकार के विरुद्ध जनता के अधिकारों के विस्तार के लिए की जाती है—जो जनतन्त्र शासन और मजदूरों को राजनीतिक शक्ति के बढ़ाने के उद्देश्य से लड़ी जाती है।

"कोई भी आर्थिक संघर्ष कमानेवालों की दशा में स्थायी उन्नति प्राप्त कर नहीं सकता। जब तक श्रमिकों को सभा करने का पूरा अधिकार न हो, उन्हें यूनियन बनाने का पूरा हक न हो, वे अपने समाचार-पत्र निकाल न सकें और राष्ट्रीय असेम्बली में अपने प्रतिनिधि भेजने की आजादी उन्हें हासिल न हो, जैसा कि रूस और टर्की के सिवाय यूरोप के जर्मनी आदि सभी देशों के श्रमिकों को प्राप्त है, तब तक विस्तृत रूप से कोई भी आर्थिक लड़ाई लड़ी जा सकती नहीं। इसीलिए इन हकों को हासिल करने के लिए राजनीतिक युद्ध लड़ना ही होगा। रूस में तो सिर्फ जार ही अपने मन से कानून बनाता, अफसरों को बहाल करता और उन पर कब्जा रखता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जार और उसकी सरकार किसी वर्ग के आश्रित नहीं हैं, उन्हें किसी की परवाह नहीं है—वे सभी को बराबर मानते हैं। लेकिन हकीकत तो यह है कि सभी अफसर मालदारों की जमात से ही लिए जाते हैं और सबों पर पूँजीपतियों का पूरा प्रभाव होता है। इसीलिए मालदार जोई चाहते हैं होई जाता है—मन्त्री लोग बड़े-बड़े पूँजीपतियों की दरबारदारी करते रहते हैं। लेकिन रूसी मजदूर तो दुहरी गुलामी में मर रहा है। एक ओर तो उसे पूँजीवादी और जमींदार लूटते-खसोटते हैं। लेकिन ऐसा न हो कि कहीं वह उनसे लड़ बैठे, इसीलिए पुलिस उसके हाथ-पाँव बाँधे हुए



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, और उसकी जबां बन्द कर दी गयी है। और अगर उसने लोगों के हकों की रक्षा के लिए जरा भी कोशिश की तो उसे तंग तबाह किया जाता है। पूँजीपतियों के विरुद्ध की गयी हड़ताल का नतीजा यह होता है कि श्रमिकों के ऊपर फौज और पुलिस की छूट हो जाती है—वे धावा बोल देते हैं। इसीलिए मजबूरन हरेक आर्थिक हड़ताल को भी राजनीतिक रूप मिल ही जाता है। इसीलिए सोशल डेमोक्रेटिक दल का काम है कि आर्थिक और राजनीतिक—दोनों—संघर्षों को अभिन्न रूप से मिश्रित कर उन्हें श्रमजीवियों के वर्ग-संघर्ष का रूप दे।"

इस प्रकार यह बात साफ हो गयी कि वर्ग-संघर्ष ही असली लड़ाई है, उसका जहाँ तक शोषितों एवं पीड़ितों से ताल्लुक है। मामूली से मामूली आर्थिक लड़ाई से ही किसान और मजदूर शुरू करें, शुरू करते हैं और यही आर्थिक लड़ाई धीरे-धीरे राजनीतिक लड़ाई के रूप में परिणत हो जाती है। चाहे हम हजार न चाहें। फिर भी यदि हम ईमानदारी से शोषितों के हकों को प्राप्त करना चाहते हैं तो हमारी लड़ाई को राजनीतिक रूप मिली जायगा—हमें उसे वैसा बनाना ही पड़ेगा। लेनिन के कहने का यही मतलब है। राजनीति तो हमारे पग-पग पर पहाड़ की तरह से रास्ता रोके खड़ी रहती है जब तक हम उसे अपना न लें। बात-बात में सरकार टाँग अड़ाये जो चलती है। न्याय, ईमानदारी, हक, सच्चाई वगैरह सभी चीजें, मालूम होता है, माल जायदाद और सम्पदा की चेरी हैं। जमींदार और कारखानेदार जो कहे वही सच ! वह जो करे वही ठीक ! वह न्याय और ईमानदारी का पुतला माना जाता है ! किसान कहीं जमीन के लिए किसी जमींदार से लड़ता है तो जमींदार कचहरी में केस करता है। वहाँ हाकिम तो जमींदार या जमींदारों के दोस्त और नाते-रिश्तेदार आमतौर से होते हैं, पुलिस का भी यही हाल होता है। जमींदार का पैसा भी उस वक्त कमाल करता है। वह भी देखा जाता है कि हाकिम लोग ज्यादातर किसी जमींदार या उसके दोस्त को ही केस की जाँच में भेज देते हैं ! यही तो न्याय है ! भला बाघ बकरी का न्याय क्या करेगा? किसान को सर्वत्र अँधेरा ही अँधेरा नजर आता है। सिवाय अपने ऊपर ही भरोसा करने के। इसीलिए मर-मिट के लड़ना ही वह असली उपाय मानता है।

वर्ग-संघर्ष करोड़ों लोगों को अपनी ओर खींच लाता है। यह मुर्दों में भी जीवन लाता है। इससे सबों में बिजली दौड़ जाती है। बढ़ते-बढ़ते यही बड़ी-से-बड़ी आजादी की लड़ाई का रूप बन जाता है। शोषितों के निस्तार के लिए कोई आशा नहीं है यदि वर्ग-संघर्ष को ही विस्तृत, दृढ़ और व्यापक बनाकर राजनीतिक संघर्ष में परिणत न किया जाय। किसानों और मजदूरों की और बातें जमींदार-मालदार बर्दाश्त कर सकते हैं। मगर इस वर्ग-संघर्ष को वे लोग फूटी आँखों भी देख नहीं सकते। वे तो इसके नाम से ही चौंक पड़ते और सहम जाते हैं। और लड़ाइयाँ तो गोल-मटोल करती हैं—किसी बात की सफाई होने नहीं देती हैं। मगर वर्गयुद्ध तो दूध-का-दूध और



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पानी-का-पानी कर देता है। यह गोल बातें चलने नहीं देता। इसके चालू होने से ही पूँजीवादी क्रान्ति को आगे चलकर सर्वहारा क्रान्ति का रूप ख़ामखाह मिल जाता है।

लेनिन ने यह भी बताया है कि इस वर्ग-संघर्ष को व्यापक रूप कैसे दिया जा सकता है; सभी तरह के अन्यायों और अत्याचारों के खिलाफ यह लड़ाई कैसे लड़ी जा सकती है; किसानों और मजदूरों के सिवाय दूसरे तबकों और दलों पर जुल्म और अत्याचार होने पर किसान और मजदूर वर्ग युद्ध कैसे कर सकते हैं और उसे असली राजनीतिक लड़ाई बना सकते हैं। यह बात उसने अच्छी तरह समझाई है। "मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई" के अनुसार किसान-मजदूरों को ऐसे हर मौकों पर अत्याचारों के विरोध में प्रदर्शन और हड़ताल ही सूझती है और यही उनका असली अस्त्र है। वे ऐसे किसी भी मौके पर नहीं चूकते, उनकी राजनीतिक चेतना की यही पहचान भी है कि हर ऐसे मौके पर न चूकें, और आगे बढ़ें। वह लिखता है उसी 'हमारे कार्यक्रम' में ही कि—

"क्रान्तिकारी सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी वाले मजदूरों की लड़ाई का नेतृत्व केवल इसीलिए नहीं करते हैं कि जिस सामाजिक व्यवस्था के चलते सम्पत्तिहीन लोग मजबूरन अपने आपको धनियों के हाथ बेचते हैं उसे मिटा दें। वे लोग संगठित राजनीतिक शक्तिशाली सरकार के सामने श्रमिकों का ही प्रतिनिधित्व कारखानेदारों के मुकाबिले में नहीं करते। किन्तु वर्तमान समाज के हर वर्ग के सम्बन्ध में प्रतिनिधित्व करते हैं ! इससे सिर्फ यही नतीजा नहीं निकलता कि वे केवल आर्थिक लड़ाइयों तक ही सीमित न रहें या वे ऐसा भी न होने दें कि आर्थिक बातों का भंडाफोड़ ही उनके आन्दोलन और कार्यवाही का मुख्य भाग न रहे। हमें तो मुस्तैदी के साथ मजदूरों की शिक्षा और उनकी राजनीतिक चेतना के विकास का काम भी हाथ में लेना होगा।

"क्या यह सही है कि आमतौर से जनता को राजनीतिक संघर्ष में खींच लाने का सबसे व्यापक रास्ता आर्थिक संघर्ष ही है? यह तो सोलहों आना गलत बात है। आर्थिक संघर्ष जिन बातों को लेके किया जाता है उनके अलावे उन जैसी ही अनेक बातें और भी हैं, जैसे सभी तरह की पुलिस की ज्यादतियाँ और स्वेच्छाचारिता के जघन्यकृत्य, जो जनता को राजनीति में घसीटती हैं।

"डिस्ट्रिक्टबोर्डों और प्रान्तीय असेम्बलियों के सरदारों के अत्याचार, किसानों पर बेंतबाजी, सरकारी अफसरों का पतन, शहरों के सर्वसाधारण के साथ दुर्व्यवहार, अकालपीड़ितों के लिए आन्दोलनों पर बाधा, ज्ञान-प्रसार और सर्वसाधारण की जानकारी बढ़ानेवाले कामों की मनाही, जबर्दस्ती कर उगाहना और विद्यार्थियों एवं उदार विचार के पढ़े-लिखों के साथ फौजी सलूक—ये सभी और इसी तरह की हजारों जालिमाना बातें, गोकि सीधे आर्थिक मामलों से सम्बद्ध नहीं हैं। लेकिन क्या आम लोगों को राजनीतिक संग्राम में खींचने में और राजनीतिक आन्दोलन में वे बहुत



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही व्यापक रूप से काम लायी नहीं जा सकती हैं? हकीकत तो बिलकुल ही उलटी है—अर्थात् इस काम में ये बातें खूब लायी जा सकती हैं।

"क्या ऐसा कहना ज्यादा युक्तिसंगत न होगा कि आर्थिक संघर्ष इस प्रकार व्यापक रूप में चलाये जायँ ताकि उनका उपयोग राजनीतिक आन्दोलन के लिए खूब किया जा सके?

"आर्थिक संघर्ष तो श्रमजीवियों का वह सम्मिलित युद्ध है जो कारखानेदारों के खिलाफ इसलिए चलाया जाता है कि उनकी श्रम-शक्ति की कीमत अच्छी मिले और उनके काम करने एवं जीवनयापन की हालत अच्छी हो।

"क्रान्तिकारी सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी ने हमेशा ही सुधार के लिए भी लड़ाई लड़ी है और आज भी ऐसा करती है। लेकिन आर्थिक आन्दोलन को वह इस तरह काम में लाती है कि सरकार पर न सिर्फ सभी प्रकार की सुविधाओं के लिए जोर डाले। किन्तु प्रधान रूप से यह माँग रखे कि सरकार निरंकुश रहने न पाये। साथ ही, यह पार्टी अपना यह फर्ज मानती है कि वह यह माँग भी एकमात्र आर्थिक-संघर्षों के बल पर ही न पेश करके सभी तरह की सार्वजनिक और राजनीतिक हलचलों के ही बल पर पेश करे। संक्षेप में, यह सुधार की लड़ाई को ठीक वैसी ही आजादी तथा समाजवाद के लिए लड़ी जानेवाली क्रान्तिकारी लड़ाई के मातहत बना देती है, जैसे किसी का एक अंश उस समूचे के मातहत होता है।

"जब तक मजदूरों को यह शिक्षा न दी जाय कि सभी प्रकार के जुल्मों, दमनों, खून-खराबियों और बुराइयों के विरुद्ध फौरन आवाज उठायें, फिर चाहे उनके शिकार कोई दूसरे ही वर्ग क्यों न हों, तब तक उनमें वास्तविक राजनीतिक चेतना आयी नहीं सकती।

"श्रमजीवी वर्ग को सोशल डेमोक्रेट बनने के लिए यह निहायत जरूरी है कि वह अपने दिमाग में, जमींदारों, पुरोहितों, बड़े अफसरों, किसानों, विद्यार्थियों और आवारागर्दों के सामाजिक तथा राजनीतिक पहलुओं के आर्थिक रुख की पूरी तस्वीर बना ले। उसे उनकी भली और बुरी सभी बातों को जानना होगा। उसे उन लफ्फाजियों एवं बनावटी दलीलों को भी जान लेना होगा जिनकी ओट में हरेक श्रेणी और समाज का हरेक स्तर (भाग) अपने असली रूप और निजी स्वार्थ के लिए किये गये यत्नों को छिपा लेता है। उसे यह भी जान लेना होगा कि खास-खास संस्थाएँ और कानून किन स्वार्थों के द्योतक हैं और किस तरह। लेकिन इसकी पूरी जानकारी (असलियत का ज्ञान) सिर्फ किताबों से नहीं हो सकता। यह बात हो सकती है ताजे उदाहरणों से और उन भण्डाफोड़ों से भी हो सकती है जो किसी घटना के बाद फौरन ही किये जायँ कि हमारे इर्द-गिर्द की घटनाओं का क्या रहस्य है, किन बातों पर बहस-मुबाहसा जारी है, सो भी हरेक व्यक्ति और संस्था अपने ही ढंग से जो कानाफूसी करके यह काम कर रही है, अमुक-अमुक घटनाओं का क्या मतलब है, इन आँकड़ों से क्या



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थ निकलता है, अदालतों में जो खास-खास हुक्म होते या सजाएँ होती हैं उनका क्या रहस्य है, आदि-आदि। जनता को क्रान्तिकारी कामों के लिए तैयार करने के लिए आमतौर से पूर्वोक्त भण्डाफोड़ और रहस्यों का पता लगाना निहायत जरूरी और बुनियादी चीज है।

"जहाँ तक जनता को किसी आन्दोलन के लिए हुक्म देने का ताल्लुक है, वह तो खुद हो जायगा अगर इस तरह के राजनीतिक आन्दोलनों को मुस्तैदी से करने के फौरन बाद ही काम का कोई ताजा और आकर्षक दृष्टान्त पेश कर दिया जाय। किसी बदमाश को ऐन मौके पर काम करते ही समय पकड़ के फौरन ही सार्वजनिक तौर पर अगर उसकी लानत-मलामत शुरू कर दी जाय तो लोगों पर उसके विरुद्ध काम करने के लिए इसका कहीं ज्यादा असर होगा, बनिस्बत इसके कि हजार अपील एतदर्थ निकाल ली जाय। अकसर तो बदमाशों को इस तरह पकड़ के सजा देने का असर लोगों की भीड़ पर ऐसा हो जायगा और खुद ऐसा प्रदर्शन वगैरह करने लग जायगी कि पता ही न चलेगा कि इस बात की उससे अपील किसने की। किसी आन्दोलन के लिए गोलमोल अपील निकालने और पुकार मचाने से कुछ न होगा। असल में घटनास्थल पर ही कुछ खास काम ऐसे ढंग से करना होगा जिससे लोग खुद उस ओर आकृष्ट हो जायँ। सिर्फ वही लोग संघर्ष और आन्दोलन को चालू कर सकते हैं जो जबान से कहने की अपेक्षा खुद संघर्ष और आन्दोलन का श्रीगणेश कर देते हैं।

"सारे संसार में और रूस में भी खुद-ब-खुद पुलिस ही प्रायः आर्थिक लड़ाइयों को राजनीतिक युद्ध बना देती है, और अब तो श्रमजीवी यह बात समझने भी लगे हैं कि दरअसल सरकार किसकी मदद करती है।"

"(श्रमिक लोग अपने बातूनी नेताओं से कहते हैं कि) आपको हमें इस बात की जानकारी करा देनी होगी कि इस समय सरकार तथा शासक वर्गों की कौन-कौन-सी हरकतें हरेक बातों के सम्बन्ध में हो रही हैं। मगर गुस्ताखी माफ हो, यह जानकारी सिर्फ दलीलों, पुस्तिकाओं और लेखों के जरिये न करायी जाय। क्योंकि ये कभी-कभी तो ऐसी होती हैं कि उनका असर कुछ भी नहीं होता। इसके लिए तो उन हरकतों का जीता-जागता भण्डाफोड़ चाहिए। कृपया 'श्रमिकों के बीच ज्यादा हलचल' के मुतल्लिक बातें कम कीजिये और अधिक उत्साह के साथ हमारा बताया ही काम कर दीजिये। जितना आप हमें समझते हैं उससे कहीं ज्यादा क्रियाशील हम हैं और यकीन रखिये, हम उन माँगों का भी समर्थन खुली लड़ाई के जरिये करने के लिए पूरे तैयार हैं जिनमें हमें कोई दिखावटी (जाहिरा) फायदा नजर नहीं आता। जब आप खुद-ब-खुद अच्छी तरह क्रिया-परायण हैं नहीं, तो हमें क्या बनाइयेगा? भलेमानसों, हममें खुद-ब-खुद आन्दोलन आ जायगा, इस खयाल को छोड़ के अपनी क्रियाशीलता को ही बढ़ाने की फिक्र करो।"



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लेनिन का यह अवतरण कुछ लम्बा हो गया है। मगर इससे इस बात की पूरी सफाई हो गयी है कि नेताओं को खुद वही काम करने में आगे बढ़ना होगा जो दूसरों से करवाना चाहते हैं। उनमें हिम्मत भी चाहिए कि अत्याचारियों को ऐन मौके पर पकड़ के उनकी खिदमत करें। किसी की भी परवाह या डर न करें। तभी जनता को जगा सकेंगे–उसमें बिजली दौड़ा सकेंगे। राजनीतिक लड़ाई कैसे की जाती है यह भी साफ बताया गया है। जैसा कि रूस की तीनों क्रान्तियों में हुआ था, किसान और मजदूर तो प्रदर्शन, हड़ताल और अपनी सीधी लड़ाई के ही जरिये शासकों एवं शोषकों को पछाड़ सकते हैं। वे तो वर्ग-संघर्ष को ही बढ़ाते-बढ़ाते इतना व्यापक कर देते हैं कि हर तरह की लड़ाइयों का समावेश उसी में हो जाता है–सभी संघर्ष, यहाँ तक कि आजादी के युद्ध का अन्तिम मोर्चा भी, वर्ग-संघर्ष के भीतर ही समा जाता है। वह तो यह मानते हैं कि असली शासक हैं शोषक लोग ही, जिन्हें जमींदार कहिये, या पूँजीपति और मालदार शासन का सूत्र तो उन्हीं के हाथ में है। वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के अनुसार शोषित वर्ग को दबा रखने के ही लिए शोषक-वर्ग ने सरकार को हथियाया है। वह सदा से ऐसा ही करता आया है। इसलिए असली राजनीतिक लड़ाई यही है कि जब न तब उसी पर धक्का मारा जाय। हड़ताल, सीधी लड़ाई, बकाश्त संघर्ष के जरिये या जैसे भी हो सके उन शोषकों पर ही धावा बोला जाय। समूचे कारखाने को बन्द करने के लिए हरेक कलपुर्जे पर हाथ फेरने और उसे तोड़ने की क्या जरूरत? जहाँ से विद्युत् शक्ति आकर उसे चालू करती है उसी पर हाथ साफ क्यों न किया जाय? उसे ही क्यों न तोड़ा और बन्द कर दिया जाय?

सर्वहारा के नेतृत्व का यही रहस्य है, उसकी यही कुंजी है। जो लोग इसे नहीं समझ पाते वह न तो सच्चे क्रान्तिकारी हैं और न उनसे मजलूमों की असली और कायमी भलाई ही हो सकती है।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# किसान और क्रान्ति

क्रान्ति के सिलसिले में जो एक बहुत बड़ा सवाल उठता है और जो निहायत ही अहम सवाल है, वह है किसानों का सवाल। क्रान्ति में उनका कोई महत्त्वपूर्ण हिस्सा होता है या नहीं, होगा या नहीं, और अगर होगा तो किस तरह का? वे क्रान्ति के सहायक होंगे या विरोधी? अगर विरोधी न हों तो अनुकूल होने का क्या उपाय है? फ्रांस में तो श्रमजीवियों के विरुद्ध ही वे हमेशा रहे और पूँजीवादियों या उनके दोस्तों का ही साथ दिया। नेपोलियन के इशारे पर चलकर उनने क्या-क्या नहीं किया? फौज में वही भर्ती हुए और फौज ने क्रान्ति के खिलाफ बहुत कुछ किया। मगर रूस में और चीन में ठीक इससे उलटी बात हुई। अथ से इति तक उनने क्रान्ति के काम में मजदूरों का साथ पूरा-पूरा दिया। मजदूरों के इशारे पर ही वे लोग मरते-मिटते रहे। तो फिर इसका असली रहस्य क्या है? वे परस्पर विरोधी काम क्यों करते हैं? क्रान्ति में तो उनका किसी प्रकार का निश्चित भाग होना चाहिए, जैसा कि श्रमजीवियों का है।

इस सम्बन्ध में लेनिन ने भी 'कार्ल मार्क्स के उपदेशों की ऐतिहासिक गति' में लिखा है कि–

"सन् 1848 ई. के जून में पेरिस में प्रजासत्ता मूलक शासनवादी पूँजीपतियों ने जो श्रमिकों पर गोलियाँ चलवायीं उससे सदा के लिए यह तय पाया गया कि केवल सर्वहारा साम्यवादी होते हैं। और तरह के विरोधियों की अपेक्षा इस सर्वहारा-वर्ग की स्वतन्त्रता से उदार पूँजीवादी हजार गुना ज्यादा डरते हैं। नपुंसक उदार दलली इसके सामने थर्राते हैं। किसानों की यह हालत रही कि सामन्तशाही के बचे-खुचे अंश को मिटा देने से ही खुश होके अमन-कानूनवादियों के साथ जा मिले। केवल कुछी मौकों पर वे आगा-पीछा करते रहे कि आया श्रमिकों के जनतन्त्र का साथ दें या उदार पूँजीवाद का। इससे साफ हो जाता है कि वर्गवादी साम्यवाद और वर्गवादी राजनीति के सिवाय जो कुछ उपदेश दिये जाते हैं उनके कुछ मानी नहीं हैं।"

लेनिन के कथन का साफ अर्थ यही है कि दरअसल किसान वर्ग क्रान्तिकारी नहीं है। वह तो जमीन का भूखा है। बुखारिन के शब्दों में वह अपने नन्हे खेत के



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आगे देख नहीं सकता। उसे तो जमीन चाहिए, जमींदारी जुल्मों से छुटकारा चाहिए, हरी, बेगारी, नजराना, गुलामी, अर्द्ध गुलामी वगैरह सामन्तयुग के अत्याचारों से मुक्ति मिलना चाहिए। उसका पहला ध्यान इन्हीं बातों की ओर जाता है। साम्यवाद, समाजवाद, व्यक्तिगत सम्पत्ति का नाश, सम्मिलित सम्पत्ति, सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण आदि बातें समझने में वह बिलकुल ही असमर्थ होता है। इन बातों की जरूरत तो धीरे-धीरे उसे परिस्थितिवश महसूस होती है, जब नन्हे-नन्हे खेतों से उसका काम चलता नहीं दीखता, जब दिन-रात मर-खप के कमाने पर भी ये खेत उसका न तो पेट ही भर सकते और न उसे मकान, कपड़ा और दवा-दारू ही दे सकते। फलतः बैंकों, कोआपरेटिव सोसायटियों या महाजनों के यहाँ नीलाम होके चले जाते हैं। तभी उसकी आँखें खुलती हैं, तभी उसे तमाचे लगते हैं और वह घबरा के सर्वहारा का साथी बनता और सोचने लगता है कि कुछ और बात होना चाहिए। जिन लोगों ने—पूँजीवादियों ने—जमींदारों की जमीनें छीनकर किसानों को दी थीं और इस प्रकार उन्हें जमींदारों के खिलाफ अपना साथी बनाया था, उन्हीं के शत्रु वही किसान कार्य-कारणवश पीछे हो जाते हैं। इसका सुन्दर वर्णन मार्क्स ने अपने 'अठारहवें ब्रूमेयर' में इस तरह किया है—

"लेकिन उन्नीसवीं सदी में आगे बढ़ने पर सामन्त युग के बलपूर्वक कर आदि उगाहने वाले का स्थान शहर के सूदखोर ने ले लिया। पहले जो फर्ज जमीन जोतने वालों पर जमींदारों के सम्बन्ध में लादा गया था वही अब रेहनदारों के सम्बन्ध में हो गया। जमींदारी बाबुआनी की जगह सम्पत्तिजीवी पूँजीवादी प्रणाली आ गयी। लेकिन अब तक किसान का वही छोटा-सा खेत एक जरिया रहा ! जिससे पूँजीवादी मुनाफा, सूद और लगान सब कुछ उगाहता है और उसके बाद किसान को छोड़ देता है कि अपनी मजदूरी उसी खेत से नोचे-छीने। फ्रांस की खेतीवाली जमीनें इस कदर रेहन में फँसी हैं कि इन रेहनों के लिए जितना सूद देना पड़ता है वह ब्रिटेन के राष्ट्रीय कर्ज के सूद के बराबर है। नन्हे-नन्हे खेतों की मलिकाई तो ख़ामखाह पूँजीवाद की गुलामी में किसानों को फँसाती ही है। इसका फल यह है कि फ्रांसीसी राष्ट्र गुफा निवासी बन गया है। स्त्री-बच्चों को मिला के कुल एक करोड़ साठ लाख किसान गुफाओं की तरह के रद्दी घरों में रहते हैं, जिनमें अधिकांश में एक ही खिड़की होती है। किसी-किसी में दो और शायद ही कुछ खुशकिस्मतों में तीन होती हैं। ये खिड़कियाँ मकानों में उतनी ही जरूरी हैं जितनी माथे में पाँच इन्द्रियाँ।

"उन्नीसवीं सदी के शुरू में तो पूँजीवादी सामाजिक प्रणाली ने सरकार को किसानों के छोटे-छोटे खेतों का सन्तरी बना दिया था और उन जमीनों में एक खास हरे घास-पात की खाद दी जाती थी। लेकिन आज वही प्रणाली रक्त की प्यासी पिशाचिनी बनकर किसानों के इन नन्हे खेतों का खून और मज्जा सब कुछ पी रही है और उन्हें पूँजीवाद की भट्ठी में झोंक रही है। अब तो नेपोलियन के वे नियम-कायदे



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और कुछ न रह गये हैं सिवाय खेतों की फसलों की जब्ती कुर्की और खेतों की बिक्री की फरमान के। सरकारी आँकड़ों के ही मुताबिक इस समय फ्रांस में चालीस लाख गरीब, आवारागर्द, चोर, बदमाश और वेश्याएँ हैं। उनके बाद नम्बर आता है उन पचास लाख स्त्री, पुरुष, बच्चों का जो किसी प्रकार गुजर करते हैं और जो कभी चिथड़े लपेटे देहातों में रहते हैं, तो कभी शहरों में जा धमकते हैं।

"परिणाम यह हुआ है कि प्रथम नेपोलियन के जमाने की तरह अब पूँजीवादियों और उनकी प्रणाली के स्वार्थों के साथ किसानों के स्वार्थों का कोई मेल नहीं रह गया है। अब तो दोनों स्वार्थों का संघर्ष है। इसीलिए अब किसानों को सूझ रहा है कि उनके असली मित्र और पथदर्शक तो शहर के मजदूर ही हैं, जिनका लक्ष्य यही है कि पूँजीवादी समाज की व्यवस्था मिटा दी जाय। मगर जबदस्त और निरंकुश लुई बोनापार्ट की सरकार का ध्येय है इस भौतिक व्यवस्था की बलपूर्वक रक्षा करना। यही कारण है कि 'इस व्यवस्था की रक्षा' वाला आकर्षक और भ्रामक शब्द उसकी उन हर फरमानों में पाया जाता है जिन्हें उसने शोख किसानों के विरुद्ध जारी किया है।"

इस वर्णन में मार्क्स ने इस बात का सुन्दर चित्र खींच दिया है कि पूँजीवादी प्रणाली किस तरह किसानों का शोषण करते-करते उन्हें अपना विद्रोही बना डालती है। पहले तो उनके दकियानूसी खयालों और निरुद्ध धारणाओं का लिहाज करती हुई उन्हें छोटे-छोटे खेत देके अपना साथी बनाती और काम निकालती है। बड़ी-बड़ी जमींदारियों को मिटाकर छोटे-छोटे खेत बनाने में भी उसकी अपनी गर्ज होती है। शुरू में जमींदारों से अपनी रक्षा वह इसी प्रकार कर सकती है। मगर मजबूत हो जाने पर जब छोटे-छोटे किसानों की जरूरत नहीं रह जाती, बल्कि उनके मिट जाने में ही उसका फायदा होता है, तो बेमुरव्वती से उनका शोषण करती है और इस प्रकार उन्हें अपना घोर शत्रु बना डालती है। तभी वे क्रान्तिकारी मजदूरों का खुल के साथ देते हैं। पूँजीवाद की भी यह मजबूरी है। वह दूसरी बात करी नहीं सकता। पहले तो वह पादरियों और पण्डा-पुरोहितों को, मौलवियों को, उनके पास भेज-भेज के लेक्चर दिलवाता है कि भगवान् की कृपा से आप लोगों को खेत मिले हैं, आदि-आदि। वे भी इस बात को मानते और खुश होते हैं। मगर जब पीछे शोषण का चक्र चलने पर जमीनें बन्धक हो जाती हैं, बिक जाती हैं, फसलें जब्त हो जाती हैं और किसान भूखों मरने लगते हैं तब हवा पलट जाती है। उस समय जब वही पादरी, पुरोहित किसानों को समझाने की कोशिश करते हैं कि सन्तोष करो, खेत गये तो गये, भगवान् तो मिलेंगे ही, तो वे किसान इन्हें गर्दनियाँ देते और नास्तिक बन जाते हैं। मार्क्स ने इस बात का इतना विशद वर्णन आगे किया है कि उसे यहाँ उद्धृत किये बिना जी नहीं मानता। वह कहता है–

"पूँजीवाद ने छोटे-छोटे किसानों को रेहननामे के ही नीचे नहीं दबाया है। टैक्स



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का बोझ भी उन्हीं पर है। शासन-यन्त्र के सारे कल-पुर्जो—नौकरशाही, फौज, पादरी और कचहरी—के कायम रखने का आधार यह टैक्स ही तो है। जबर्दस्त सरकार और कमरतोड़ टैक्स, ये दोनों एक ही मानी रखते हैं। टटुपुँजिये सम्पत्तिवालों की हालत ही ऐसी है कि सर्वशक्तिशाली और असंख्य नौकरशाही के लिए वही आधार हैं। इसके चलते समूचे देश में समान स्थिति और एक ही तरह के लोग रह जाते हैं—सभी कुछ बराबर हो जाता है। नतीजा यह होता है कि सरकारी केन्द्र से जो असर पैदा होता है वह सबों पर एक-सा पड़ता है। सामन्त युग में जो सरकार और जनता के बीच छोटे-बड़े अनेक स्तर और दर्जे होते हैं उन्हें खत्म कर दिया जाता है। इसीलिए जरूरत हो जाती है कि सरकार के अधिकार और प्रभुत्व को सीधे सबों पर समान रूप से लादा जाय। आखिरी बात यह होती है कि इस व्यवस्था के फलस्वरूप जनसंख्या में एक तादाद ऐसी भी हो जाती है जो उन वेकारों की होती है जिन्हें न तो गाँवों में जमीन और न शहरों में ही कोई काम मिलता है। वे लोग इसीलिए सरकारी ओहदों की ओर, उन्हें प्रतिष्ठित खैरातखाना समझ, अपने हाथ बढ़ाते हैं और भरसक कोशिश करते हैं कि ऐसे ओहदों की तादाद बढ़ती रहे। प्रथम नेपोलियन ने तो तलवार के बल से नये बाजार खरीद-बिक्री के वास्ते फ्रांस के लिए जारी किये और यूरोप के समस्त महाद्वीप को लूटा। नतीजा यह हुआ कि उसने फ्रांसीसी लोगों से जो टैक्स लिया उसे सूद सहित चुका दिया। उस समय तो टैक्स वसूली से किसानों को अपने काम में प्रोत्साहन मिलता था। मगर अब तो इसके चलते खेती-बारी का आखिरी सहारा छिन जाता और गरीबी का द्वार खुल जाता है।"

"नेपोलियन की खास प्रचारित दूसरी बात यह थी कि सरकार के सहायक के रूप में पुरोहितों का बोलबाला था। शुरू में तो यह बात चल सकती थी भी। क्योंकि उस समय छोटे-छोटे गिरस्तों की स्थिति समाज के अनुकूल ही थी, उन्हें प्राकृतिक शक्तियों—वृष्टि, धूप आदि—का ही आसरा भी था और उनके शासक भी ऐसे थे जो ऊँचे स्थान पर रहके उनकी रक्षा करते थे। इसीलिए स्वभावतः वे गिरस्त लोग धार्मिक थे। लेकिन अब तो उन पर कर्ज लदा है, समाज से भी उनका मेल नहीं खाता और सरकार से भी, और अपनी पुरानी रहन-सहन से भी वे लोग अलग जा पड़े हैं। फलतः वे लोग स्वाभाविक तौर पर नास्तिक हो गये हैं। जब शुरू में उन्हें नयी-नयी जमीन मिली थी तो उस समय स्वर्ग की बात उनके लिए एक अतिरिक्त प्राप्ति थी। यह बात खासकर इसलिए भी थी कि स्वर्ग से ही वृष्टि होती और धूप मिलती थी। लेकिन अब जमीन छिन जाने पर उसके बदले स्वर्ग प्राप्ति की बात करना उनका अपमान था—जले पर नमक देना था। और अगर पुरोहित (पादरी) लोग उन्हें यही चीज दे रहे थे तो यह साफ है कि पुरोहित गण खून की प्यासी पुलिस के गद्दीधारी खूँखार कुत्ते थे।"

मार्क्स के इस विशद वर्णन से और आगे चलकर जो उसने यह कहा है कि



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किसानों की जमीनें छिन जाने पर उन्हें पहले जैसी पितृभूमि की ममता रही नहीं गयी, और धीरे-धीरे फौज वगैरह की नौकरियों में भी दूसरे ही लोग भर्ती होने लगे, जो बेरहमी से मौके पर किसानों को दबाने में धनियों की मदद करते थे, उससे स्वार्थ संघर्ष और भी स्पष्ट हो जाता है। अब तो देश भक्ति की कुछ भी कीमत उनके लिए रही नहीं गयी। उन्हें अपना तो कुछ नजर आता नहीं। हर चीजों पर तो दूसरों का ही कब्जा है। जब किसान जवानों की जगह आवारागर्द और भिखमंगे ही फौज और पुलिस में भर्ती किये जाने लगे, तो पता चल गया कि सरकार का किसानों पर भी अविश्वास है। वह उन्हें भी अमन कानून का करारा पाठ पढ़ाने पर तुली बैठी है। फिर तो लाजिमी था कि किसान लोग असलियत को समझें और अपनी नादानी पर पछतायें, कि क्यों श्रमजीवियों के विरुद्ध अब तक क्रान्ति में लड़ते रहे। पूँजीपतियों ने और उनकी सरकार ने भी अपना काम निकालने के बाद किसानों को वैसे ही छोड़ दिया—फेंक दिया—जैसे चूसे हुए नीबू को फेंक देते हैं।

इंगलैंड में भी कुछ ऐसा ही हुआ था। दूसरे मुल्कों की भी यही हालत रही। पूँजीवादियों ने किसानों की मनोवृत्ति और कमजोरियों का पता पा लिया था। इसीलिए उन्हें अपनी ओर मिला लेने में वे सफल रहे। क्रान्ति में उनकी सफलता भी इसीलिए हुई, जिससे बूर्ज्वा रेवोल्यूशन तक ही होके बात खत्म हो गयी। इनकिलाब की गाड़ी ऐसे कीचड़ में जा फँसी कि आगे बढ़ी न सकी। मार्क्स और एंगेल्स ने इस कठोर सत्य का अनुभव कर लिया था। इसलिए उनने क्रान्ति के सिलसिले में या उसके बाद फौरन ही जमीनों पर राष्ट्र या समाज का प्रभुत्व कायम करने के बदले किसानों का ही प्रभुत्व कायम किया जाना उचित स्वीकार किया और सभी जमीनें उनमें ही बाँट देने की पक्की राय जाहिर की। एंगेल्स ने लिखा था कि—

"सोशलिस्ट पार्टी के हाथ में शासन की बागडोर जीत कर आनेवाली ही है। लेकिन शासन को जीतने के लिए यह जरूरी है कि यह पार्टी अपने कामों को शहर से देहातों में फैलाये और उसे वहाँ शक्तिशाली बनना होगा।"

एंगेल्स ने और भी निहायत सफाई के साथ कहा है। वह कथन ऐसा है—

"हम पक्कापक्की टटुपुँजिये किसानों के पक्ष में हैं। हम से जितना हो सकेगा करेंगे, ताकि उसकी हालत सुधर सके और अगर वह चाहे तो अपने भाइयों के साथ पंचायती खेती में आसानी से शामिल हो सके। लेकिन अगर वह अभी इस फैसले पर पहुँचने के काबिल न हो तो हम उसे काफी मौका देंगे कि अपने नन्हे से खेत पर ही इस मामले पर पूरा गौर करे। हम यह बात सिर्फ इसीलिए नहीं करेंगे कि जो ऐसा किसान अपनी ही जमीन जोतता-बोता है वह असलियत में हमारे ही दल का है। बल्कि इसलिए भी कि ऐसा करना हमारी पार्टी के सीधे कायदे का है। जितने ही ज्यादा किसान सर्वहारा श्रेणी में दाखिल होने से बचाये जा सकें और जब तक वे किसान हैं तभी तक हमारे पक्ष में आ सकें उतनी ही आसानी और तेजी के साथ



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सामाजिक व्यवस्था बदली जा सकती है। अगर हम इस बात का इन्तजार करें कि यह सामाजिक परिवर्तन तभी हो सकेगा जब कि पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली अपनी चरम सीमा तक पहुँचकर आखिरी नतीजा दिखा दे और एक-एक करके सभी दस्तकार, कारीगर और छोटे-मोटे किसान उसके शिकार बन जायँ, तो यह हमारे फायदे की चीज न होगी। बेशक, पूँजीवादी आर्थिक दृष्टि से यह माना जायगा कि सार्वजनिक कोष से जो पैसा इस प्रकार इन किसानों की भलाई के लिए खर्च किया जायगा वह तो पानी में फेंकने के समान ही होगा। लेकिन दरअसल यह खर्च तो निहायत ही लाभकारी ढंग से रुपया लगाना है। क्योंकि सामाजिक पुनः संगठन के खर्च के लिए हमें आम तौर से जो दस गुना पैसा खर्चना पड़ता वह इस तरह से बच जाता है। इस मानी में तो हमें ऐसे किसानों के प्रति बहुत अधिक उदार होना चाहिए।''

एंगेल्स का यह कथन कई अर्थों में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इससे पहली बात तो यह साफ हो जाती है कि जो लोग ऐसा मानते हैं कि जब तक पूँजीवाद का चरम विकास हो के किसी देश के भीतर पूँजीपति और मजदूर दोई श्रेणियाँ रह नहीं जाती हैं और छोटे-मोटे किसान, दस्तकार, व्यापारी, कारीगर वगैरह सभी के सभी मिट नहीं जाते हैं तब तक सर्वहारा की साम्यवादी क्रान्ति सफल हो नहीं सकती, वह गलती करते हैं। एंगेल्स इस बात का विरोधी है। वह तो उलटे यह मानता है कि पूँजीवाद की वह आखिरी तरक्की हो जाने पर हमारी दिक्कतें दस गुनी—बहुत ज्यादा—बढ़ जायँगी। फलतः क्रान्ति में आसानी तो होगी नहीं, हाँ; परेशानी हो सकती है। अमेरिका, इंगलैंड, जर्मनी, फ्रांस आदि देशों में यही बात देखी भी जाती है। मालूम होता है कि वहाँ पूँजीवाद की उन्नति के साथ ही क्रान्ति और भी दूर भागती जा रही है। जो लोग किसानों और मजदूरों के स्वार्थों के परस्पर विरोध की बात उठाकर ऐसा कहते हैं उन्हें इन देशों की दशा से सबक सीखना चाहिए। रूस ने इस विरोध को किस आसानी से मिटाके सफलता प्राप्त की है यह बात एंगेल्स के वक्तव्य का समर्थक है। क्योंकि वहाँ तो पूँजीवाद प्रारम्भिक अवस्था में ही था जब साम्यवादी क्रान्ति सफल हुई। इसीलिए एंगेल्स का कहना केवल दिमागी बात न होकर अमली और व्यावहारिक भी है।

दूसरी बात यह है कि वह छोटे-मोटे किसानों को अपने पक्ष—साम्यवाद—के लिए सहायक मान के उन्हें कायम करना, बढ़ाना और उनकी सहायता करना निहायत जरूरी मानता है। वह उनके साथ जोर-जुल्म करके या उन्हें दबा के पंचायती खेती में लगाना नहीं पसन्द करता। बेशक पंचायती खेती साम्यवाद की पहली सीढ़ी है। मगर किसान यदि उस पर खुशी-खुशी पाँव देने को तैयार न हो तो हमें घबराना नहीं चाहिए। उसे अपने नन्हे से खेत पर ही छोड़ देना चाहिए। उसी में उसकी सहायता करते रहके उसे मौका देना चाहिए कि अपनी इस खेती और पंचायती खेती का हानि-लाभ खुद सोचे-समझे। बेशक, हम उसके सामने पंचायती खेती के फायदे बातों



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के जरिये और अमली तौर पर भी रखेंगे। उसके पास-पड़ोस में या निकट ही पंचायती खेती करवा के उसका फायदा उसकी आँखों के सामने हम जरूर रखेंगे। ताकि वह बखूबी गौर कर सके। मगर घबरा के जल्दबाजी में हम उसे पंचायती खेती में आने को विवश न करेंगे। जब अधिकांश किसान उसमें आ गये तब चन्द लोगों को यदि बलात् भी लाना हो तो वह बात दूसरी है। मगर सामूहिक रूप से जब तक वे खुद उसकी अहमियत और जरूरत महसूस न करें तब तक उनके लाने से अन्त में हानि ही होगी और वे टिक न सकेंगे।

तीसरी बात यह है कि एंगेल्स किसानों की मनोवृत्ति खूब ही समझता है। वह जानता है कि वे जमीन के भूखे होते हैं। "भूखा बंगाली भात-भात पुकारता है" की ही तरह वे जमीन पाने की ही पुकार मचाते रहते हैं। ऐसी दशा में उन्हें साम्यवाद, पंचायती खेती, राष्ट्रीयकरण आदि का ज्ञान सिखाना वैसा ही है जैसा भूखे को त्याग और ज्ञान की बातें कहना। पहले भूख मिटाइये, पीछे ज्ञान दीजिये, तो वह दिल लगाके सुनेगा। उसी तरह पहले किसान को जमीन दे दीजिये, पीछे दूर की बातें समझाइये तो वह सुनेगा खुशी-खुशी। पूँजीवादियों ने फ्रांस वगैरह देशों में यही करके किसानों को अपनी ओर मिला लिया, जिससे मजदूर विफल रहे। जिस प्रकार बच्चों का कान छेदने के पहले उन्हें गुड़ देकर फुसलाते हैं, ठीक वही बात यहाँ भी है। क्रान्ति की सफलता देश के अधिकांश लोगों से लड़कर या उन्हें शत्रु बनाकर हो नहीं सकती। उन्हें तो मित्र बनाना ही होगा। और देश के अधिकांश तो किसान ही होते हैं, खासकर पिछड़े देशों के। इसीलिए जमीन और खेती-बारी की सुविधा उन्हें पहले-पहल पहुँचाना निहायत जरूरी है।

चौथी बात है क्रान्ति में आसानी की। सभी लोग सर्वहारा बन जायँ उसके पहले ही हमें किसानों को कायम रखना या बनाना क्यों जरूरी है यह बात एंगेल्स ने खूब ही सोची थी। असलियत भी तो ऐसी ही है। देश के कोने-कोने में ये किसान फैले होते हैं। कुलक या धनी किसान और जमींदार ही ऐसे हैं जो गिने-गुंथे ही होते हैं। इसीलिए खास-खास जगहों में ही उनका अस्तित्व होता है। मगर गरीब या खाते-पीते किसान तो झोंपड़े बना के मुल्क के सुदूरवर्ती कोने में भी रहते पाये जाते हैं। मुल्क का कोई हिस्सा खाली नहीं रहता। उनके सामने कोई प्रलोभन भी नहीं रहता। उन्हें बहुत आगे बढ़ने की आशा भी नहीं रहती और न इस बात का कोई मौका ही रहता है। ऐसी हालत में यदि उन्हें श्रमिक श्रेणी जमीन दिला दे, यदि उसके करते उन्हें जमीन मिल जाय, तो वे सदा के लिए उस श्रेणी के आभारी और मित्र बन जाते हैं, उसके साथ एक सूत्र में बँध जाते हैं। पूँजीवाद के विरुद्ध भयंकर लड़ाई लड़ने में मुल्क के कोने-कोने में सर्वहारा-वर्ग के लिए ये किसान साथी कितने काम के होंगे यह बात इससे साफ हो जाती है। सरकारी कारोबार, पुलिस और फौज में तो ज्यादातर इन्हीं किसानों के जवान भर्ती होते हैं और इन्हीं से शासन चलता है। खाने-पीने



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की चीजें और दूसरे सामान भी यही पैदा करते हैं। और अगर यही सर्वहारा के दोस्त और साथी हो गये तब तो विजय आसान होई जायगी। यही समझ के एंगेल्स ने कहा है कि हम तो इन्हीं के पक्ष में हैं। पूँजीवाद से इन्हें मिल जाने का खतरा भी बराबर रहता है। इसलिए उसके खिलाफ मजदूरों के साथ आसानी से मिल भी जाते हैं।

विपरीत इसके यदि पूँजीवाद के पूर्ण विकास की बाट देखी जाय तो समय तो लगेगा ही। क्योंकि इंगलैंड आदि मुल्कों में सैकड़ों साल में कुछ होई न सका। कई सौ साल लगे हैं। इस दरम्यान में मजदूरी की कमजोरियों को पूँजीवादी जान जाते और उन्हीं से फायदा उठाते हैं। उन्हें यह भी मौका मिल जाता है कि मजदूरों के भीतर ही कुछ चलते-पुर्जों को अपने दलाल बना डालें। मजदूरों में पेट्टी बूर्ज्वा या निम्न-मध्यम श्रेणी की मनोवृत्ति के जो बाबू लोग हैं वह बड़े ही खतरनाक होते हैं। वही तो उन्हें फोड़-फाड़ के तीन-तेरह कर देते हैं। जैसे-जैसे पूँजीवाद विकसित होता जाता है तैसे-तैसे बेकार और आवारागर्द भिखमंगे, खानाबदोशी करनेवाले बढ़ते जाते हैं। जिस प्रकार पेरिस में सन् 1848 ई. की क्रान्ति के समय वैसे ही लोगों को राष्ट्रीय संरक्षक दल में भर्ती करके मजदूरों की क्रान्ति को उन्हीं की संगीनों के जरिये धूल में मिला दिया गया, ठीक वही बात सर्वत्र होती है, हो सकती है। फौज में और पुलिस में भी, जैसा कि पहले कहा गया है, ऐसे ही लोग जानबूझकर भर्ती किये जाते हैं, जो निर्दयता के साथ किसानों और मजदूरों को संगीनें भोंकते और गोलियों के घाट उतारते हैं। इस प्रकार पूँजीवाद की असीम प्रगति के करते जिस खयाली फायदे को सोचा जाता है कि मजदूर ही मजदूर रह जाने और किसान के न रहने पर दोनों का विरोध जाता रहेगा और निष्कंटक रूप से मजदूर अपनी क्रान्ति के लिए लड़ेंगे ही, वह तो देखा जाता है नहीं; वह तो संदिग्ध-सी चीज है। मगर सरासर क्रान्ति विरोधी अनेक ताकतें पैदा हो जाती हैं। यह बात तो साफ ही है। जब पूँजीवादी तरीके से खेती होगी तो हजारों बीघे के खेत बनेंगे जिनमें पहले के किसान-मजदूर का काम करेंगे। फलतः वे देश में बिखरे होंगे नहीं। किन्तु जगह-जगह जमा रहेंगे। मगर क्रान्ति की सफलता के लिए तो हर कोने में मजदूरों के मददगारों की जरूरत है।

किसानों और मजदूरों के स्वार्थों के संघर्ष की जो बात कही जाती है वह भी महज खयाली है। यह ठीक है कि किसान स्वभावतः चाहता है कि वह जो गल्ले, घी, दूध वगैरह पैदा करता है वह महँगा बिके तो ठीक हो। क्योंकि तभी तो उसे ज्यादा दाम मिलेगा। इसी के साथ वह यह भी चाहता है कि मिलों की बनी चीजें, कपड़े वगैरह सस्ते मिलें। ताकि खेती की कमाई का थोड़ा ही अंश उनके लिए खर्च किया जा के शेष बचाया जाय। किसानों के विपरीत मजदूर चाहते हैं कि मिल की बनी चीजें महँगी बिकें, तो मिलवालों को ज्यादा नफा हो। फिर तो ख़ामखाह वे हमारी



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तनख्वाहें बढ़ायेंगे, बोनस वगैरह के नाम पर हमें ज्यादा पैसे देंगे। इसी के साथ वह यह भी चाहता है कि गल्ले वगैरह सस्ते बिकें। ताकि हम थोड़े ही पैसों में खा-पी सकें। इस प्रकार किसानों और मजदूरों के स्वार्थ साफ ही परस्पर विरोधी दीखते हैं।

मगर इसी के साथ एक बात और है और है वह बुनियादी। यह जो दोनों के स्वार्थों का परस्पर विरोध है वह आखिर पूँजीवाद का ही तो पैदा किया हुआ है। जब पहले जमाने में सभी लोग कपड़े-लत्ते, अन्न-पानी वगैरह जरूरत की चीजें खुद पैदा कर लेते, या आसपास में ही एक-दूसरे से बदला-बदली करके काम चला लेते थे, तब यह सवाल कहाँ था? सामन्त युग में ही यह बात थी और उस समय पूँजीवाद था नहीं। यह बात तो पीछे हुई है ज्यों-ज्यों उस युग की जगह पूँजीवादी युग लेने लगा है, या ले चुका है। इसलिए यह तो निर्विवाद है कि यह दोनों का स्वार्थ संघर्ष एकमात्र पूँजीवाद की उपज है, उसी की देन है, उसी की करतूत है।

इसी के साथ दूसरी बात यह है कि किसानों और मजदूरों को भी आखिर समझ तो होती है। वे दूर के स्वार्थ को भी देखते ही हैं। अपने बाल-बच्चों की फिक्र करते हैं। उनके पढ़ाने-लिखाने और गुजर का सामान भी एकत्र करते हैं। ऐसी हालत में यह जरूरी है कि पूँजीवाद की इस करतूत को वे अच्छी तरह समझें। यदि यों न भी समझ सकें तो समझाने-बुझाने पर तो ख़ामखाह समझेंगे। वह यह तो जानते ही हैं कि यदि हमने इस स्वार्थ-संघर्ष को ज्यादा महत्त्व दिया तो हम दोनों की खासी भिड़न्त होती रहेगी, जिससे अगर किसी का फायदा होगा तो वह सिर्फ पूँजीवाद का। कम-से-कम इतना तो निश्चित ही है कि समझाने पर यह बात वे जरूर ही ताड़ जायँगे। पूँजीवाद ने यह संघर्ष तो इसीलिए पैदा किया ही है कि वे दोनों आपस में मिल न सकें—हमेशा लड़ते रहें। तभी पूँजीवाद की खैरियत है। इस मोटी-सी बात को किसान और मजदूर न समझें और उनके दिमाग में यह बात न घुसे कि हम दोनों की लड़ाई में दोनों तबाह होंगे और पूँजीवाद घी के चिराग जलायेगा, जैसे दो बिल्लियों की लड़ाई में बन्दर की बन आयी, यह कैसे माना जाय? एंगेल्स के दिमाग में यही बात थी जब उसने साम्यवाद के शीघ्र से शीघ्र और कम परेशानी से ही पदार्पण के लिए छोटे-छोटे किसानों का समर्थन किया।

लेनिन ने भी क्रान्ति की सफलता के लिए यह जरूरी समझा कि किसानों को अपने साथ लिया जाय और यह बात तभी सम्भव थी जब उन्हें जमीन मिलने का पक्का निश्चय हो। इसीलिए उसने साफ ही कहा कि हमें पहले जारशाही और उसके पुछल्ले के रूप में खड़ी जमींदारशाही को मिटाना है। इसके बिना एक कदम भी आगे बढ़ना गैरमुमकिन है। लेकिन किसानों को जमीन दिये बिना यह होई नहीं सकता। उन्हें यह विश्वास दिला दीजिये कि जमींदारी को मिटा कर जमीनें बाँट लो। फिर तो रूस के कोने-कोने में क्रान्ति की आग धधक उठेगी। मुल्क के हर कोने



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को—इसकी इंच-इंच जमीन को—क्रान्ति का केन्द्र बनाने का आसान रास्ता यही है कि किसानों को यह आजादी दे दी जाय और इस काम में उन्हें पूरी मदद दी जाय कि वे जमींदारियों को मिटा के जमीनें खुद हथिया लें, बाँट लें। वह कहता है सन् 1902 ई. में अपनी पार्टी के प्रोग्राम में ही कि—

"अपवाद के तौर पर और हमारे मुल्क की विलक्षण ऐतिहासिक दशा के चलते हम टटपुँजिये ही मलिकाई के संरक्षक बन गये हैं। लेकिन यह हम सिर्फ इसीलिए करते हैं कि पुरानी शासन व्यवस्था के विरुद्ध लड़ाई चालू हो और उसके फलस्वरूप जारशाही निरंकुशता की सबसे बड़ी ताकत वाली और जालिमाना गुलामी से लोगों को पूरी आजादी मिले और वे स्वच्छन्द आन्दोलन कर सकें, इच्छानुसार जमीन का इस्तेमाल कर सकें, और बड़ी-बड़ी जमींदारियों को मिटा डालें।"

लेनिन की आँखें तो भविष्य को साफ-साफ देखती थीं जबकि किसानों की व्यक्तिगत यह जमीन की सम्पत्ति जमींदारी को मिटाकर खुद मिट जायगी। 'विषस्य विषमौषधम्' के अनुसार ही इस व्यक्तिगत सम्पत्ति रूप विष का उसने प्रयोग किया। वह तो जानता था कि पुराने जहर को मिटाने के बाद यह खुद खत्म हो जायगा। उसकी आँखें तो देहातों में और इसीलिए समूचे रूस में क्रान्ति की प्रचण्ड ज्वाला को लहराती देखने की प्यासी थीं और वह बखूबी जानता था कि उस समय (सन् 1902 के फरवरी, मार्च में) रूस का मतलब था वहाँ के किसान। इसीलिए वह चाहता कि किसान मस्त हो के यह आग फैलायें। 'पीछे हम उससे फायदा उठायेंगे।' इसीलिए 'रूसी किसान आन्दोलन' में मिस्टर ओवेन ने लेनिन के वाक्यों को अपने शब्दों में ढालते हुए लिखा है कि—

"आगे जो दलबन्दी होनेवाली थी और जिसका बहुत बड़ा असर न सिर्फ सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के लोगों पर किन्तु रूस और समस्त संसार पर होनेवाला था, उसका केवल यही कारण न था कि लेनिन ने इस बात पर बहुत जोर दिया कि पार्टी का काम सख्ती और एक ढंग से किया जाय। उसकी तह में यदि ज्यादा नहीं तो उतना ही महत्त्व रखनेवाला सवाल यह भी था कि हमारा रुख जमीन के सम्बन्ध में क्या हो। लेनिन इस बात के पक्ष में था कि किसानों में आम तौर से बगावत फैलायी जाय, चाहे इसका यह नतीजा भी यह क्यों न मालूम हो कि छोटे-छोटे खेतों की खेती को मजबूती मिल जायगी।"

लेनिन ने इसीलिए पार्टी के कार्यक्रम के ही सिलसिले में कहा कि—

"रूस जैसे किसानों के देश में यदि साम्यवादियों का कोई भी खेती-बारी सम्बन्धी प्रोग्राम होगा तो वह अगर सोलहों आना नहीं, तो प्रधानतया किसानों का ही प्रोग्राम होगा, जिसका मतलब होगा कि हमारी पार्टी का क्या रुख और ताल्लुक किसानों के सवालों के साथ है। रूस में तो हमारी पार्टी बिलकुल नयी है। क्योंकि यहाँ जितनी भी सोशलिस्ट पार्टियाँ पहले बनीं, वे अन्ततोगत्वा 'किसानी साम्यवाद' वाली ही थीं।"



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मिस्टर ओवेन ने लेनिन के इरादे पर और भी प्रकाश डालते हुए लिखा है कि—

"अधिकांश किसान तो तेजी के साथ भुक्खड़ बनते जा रहे थे। क्योंकि 1861 में गुलामी से मुक्त होने के समय जो जमीन के टुकड़े उन्हें मिले थे और जिनके खेती के लायक हिस्से सन् 1906 तक उनकी अपनी मिलकियत थे भी नहीं, उन्हीं के करते वास्तविक सर्वहारा-वर्ग देहातों में पैदा हो गया। यह ठीक है कि कहने के लिए उनके पास जमीनों के टुकड़े थे। इसलिए उन्हें यों सर्वहारा कहा जा सकता था नहीं। मगर बड़ी तेजी के साथ इनकी दशा ऐसी होती जा रही थी कि खेती के दूसरे साधन हल, बैल वगैरह इनके पास से छिनते चले जा रहे थे।"

लेनिन ने बखूबी समझ लिया था कि जो किसान दुविधा में पड़े हुए कभी श्रमिकों की ओर तो कभी पूँजीवादी नरमदलियों की ओर आशा भरी नजरों से देख रहे हैं उन्हें जब तक श्रमिक अपनी ओर बेखटके कर नहीं लेंगे तब तक क्रान्ति को सफलता नहीं मिलेगी। इसलिए उसने कहा था कि—

"रूसी इनकिलाब की जीत हो नहीं सकती जब तक यह जड़-मूल से परिवर्तनवादी मध्यमवर्गीय (किसान) सर्वहारा की क्रान्तिकारी लड़ाई के समर्थन के लिए तैयार न हो—वह किसान जो आज केडेट पार्टी (मालदारों की पार्टी जिसे कान्स्टिट्यूशनल डेमोक्रेटिक पार्टी भी कहते हैं और जिसका सबसे अधिक प्रभाव 1906 की डूमा में था। मगर 1907 की डूमा में कम हो गया था और बराबर घटता जाता था) और मजदूर पार्टी के बीच में आगा-पीछा करता नजर आता है—कभी इधर और कभी उधर जाता है।

"इन बातों ने सर्वसाधारण किसान की अपनी जबर्दस्त ख्वाहिश जाहिर की कि जमींदारों का जुआ उठा फेंकें। उनने मध्ययुगीन (जमींदारी आदि की) बातों तथा नौकरशाही के प्रति अपनी घोर घृणा दिखलायी और इसी के साथ परले दर्जे की प्रायः भोली-भाली, लेकिन बहुत ही साफ तात्कालिक क्रान्तिकारी मनोवृत्ति भी दिखायी है। लम्बी बहसों की अपेक्षा इस बात ने कहीं सफाई से दिखा दिया कि रईसों, जमींदारों और जार के खानदान के विरुद्ध किसान जनता के भीतर कितनी ताकतवर और नाशकारी शक्ति इस समय जमा हो गयी है। जमीन सम्बन्धी उथल-पुथल के बारे में किसानों के दिल में जो निम्न-मध्यम श्रेणी की धोखाधड़ी, अर्द्ध-साम्यवादी शब्द जाल और बच्चों जैसी भोली-भाली आशा बँधी पड़ी है उसका भण्डाफोड़ करना और उसे दूर करना वर्ग चेतना-सम्पन्न श्रमिकों का कर्त्तव्य है। जिस प्रकार केडेट पार्टीवाले करते हैं उसी तरह किसानों को खुश करने के लिए ही श्रमजीवी यह काम नहीं करेंगे। किन्तु इसलिए करेंगे कि जनता में फौलादी ढंग की अविचल और अमिट क्रान्तिकारी भावना पैदा हो। जब तक किसानों में यह मनोवृत्ति न पैदा होगी और जब तक निर्दयता के साथ वे जम कर लड़ेंगे नहीं, तब तक जमींदारों की जमीनों की जब्ती, जनतन्त्र



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शासन, सार्वजनिक, समान और प्रत्यक्ष मतदान का अधिकार—ये बातें कभी न हासिल होनेवाले खयाली पुलाव जैसी ही होंगी।"

लेनिन के इतने ज्यादा वचनों को यहाँ लिखने का प्रयोजन यही है कि जरा इस पर पूरी रोशनी पड़ जाय कि इसमें कौन-कौन बातें हैं। साथ ही किसान समस्या के हरेक पहलू पर पूरा प्रकाश पड़ जाय। रूस में जो सोशल रेव्योल्यूशनरी और नैरोदनिक पार्टियाँ थीं उनका पुराना नारा यही था कि सभी जमीन किसानों में बाँट दी जाय। इस नारे के दो मानी हो सकते थे। एक तो यह कि छोटे-छोटे किसान देश भर में पैदा कर दिये जायँ और जो जमीनें उन्हें खेती के काम के लिए दी जायँ वे सदा के लिए उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति हो जाय। लेनिन इस बात का सख्त विरोधी था। दूसरा मतलब इस नारे का यह था कि क्रान्तिकारी ढंग से देश भर में किसान उथल-पुथल मचा के जमींदारी का खात्मा कर दें। लेनिन इस बात का समर्थक था। क्योंकि यही नारा क्रान्तिकारी वायुमण्डल मुल्क के कोने-कोने में फैलाकर उसके उद्देश्य को आगे चल के सिद्ध करने वाला था। सर्वत्र देहातों में वर्ग-संघर्ष प्रबल रूप में आसानी से इसी तरह फैल सकता था और वह कायम भी रह सकता था। वह तो सुधारवादी था नहीं कि चुपके से जमीनें दिलवा देता। तब तो सभी गुड़-गोबर हो जाता।

दरअसल लेनिन यह मानता था कि पूँजीवादी व्यवस्था के जमाने में तो केवल सर्वहारा लोग ही समाजवादी क्रान्ति सफल कर सकते हैं। इसलिए बूर्ज्वा क्रान्ति में भी उन्हीं का नेतृत्व जरूरी है। वह यह भी मानता था कि बूर्ज्वा क्रान्ति के बाद पूँजीवाद का विकास अवश्यम्भावी है। फलतः गाँवों में भी एक तरफ धनी किसान और दूसरी ओर अधिकाधिक बढ़नेवाले मजदूरों का होना अवश्यम्भावी है। फलतः वहाँ भी कल-कारखानों की ही तरह वर्ग-संघर्ष चलेगा ही। फिर तो साम्यवाद के लिए मैदान साफ होई जायगा। लेकिन पुराने जमींदारों के मिटाने के सिलसिले में बीच में ही एक युग आयेगा जब देहात के धनी गरीब सभी मिल जायँगे। क्योंकि सभी को जमीन की भूख है। फलतः जमींदारी मिटाने को सभी तैयार होंगे। सभी को जमीन मिलने की आशा जो होगी। इस प्रकार थोड़े समय के लिए धनी, गरीब का वर्ग-संघर्ष रुका रहेगा सही। लेकिन वह तो इसके लिए तैयार इसीलिए था कि यह अनिवार्य था। इसके बिना प्रगति ही असम्भव थी। इस अनिष्ट चीज को—जहर को—उसने भविष्य का खयाल करके पी लिया—पी लेना ठीक समझा।

लेनिन तो व्यावहारिक आदमी था। उसने देखा कि यदि जमीन को राष्ट्र की सम्पत्ति बनायेंगे तो पूँजीवादी क्रान्ति के जमाने में उसका केवल यही मतलब होगा कि सरकार को लगान भर मिलेगा। सरकार तो सामूहिक खेती करेगी नहीं। इसीलिए जमीन पूँजीपतियों के ही प्रबन्ध में रहेगी। ताकि वे पूँजीवादी तरीके से खेती करें। ऐसी दशा में जमीनों का प्रबन्ध अगर व्यक्तियों के हाथ में ही रहा तो पूँजीपतियों की जगह छोटे-छोटे किसानों के ही हाथ में क्यों न रहे? क्योंकि ऐसा होने से तो



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्रान्ति में काफी मदद भी मिलेगी और वह समाजवाद तक पहुँच भी सकेगी। यही तो उसकी सूक्ष्म दृष्टि और दूरदर्शिता थी। लेनिन यह थोड़े ही चाहता था कि जमींदारों की जगह जमीन की मलिकाई छोटे-छोटे किसानों को दी जाय। उसका तो इरादा केवल यह था कि जो पुराने समय से किसानों को जमीनें बाँट-बाँट के देने की प्रणाली रूस में चली आती थी और जिसे जमींदारी प्रथा ने खत्म-सा कर दिया था, वह फिर से सारे मुल्क में जारी हो जाय। जमींदारी प्रथा के पहले तो किसानों में जमीन का बँटवारा होता ही था। दूसरा तो कोई था नहीं जो जमीनें लेता। क्योंकि दूसरा जोतता-बोता कौन? मगर जमींदारों ने ज्यादा जमीनें हथिया ली थीं। फलतः किसान तरसते थे। पुरानी बातें याद करके तिलमिला जाते थे। और लेनिन ने उनकी इसी भावना से फायदा उठाना उचित समझ के जमीनें उन्हें जोतने-बोने के लिए देने का निश्चय किया। यही तो उसकी दूरदर्शिता थी कि किसानों की उमड़ती भावना से क्रान्ति को सफल करे और आगे बढ़ाये।

लेनिन ने 'सर्वहारा क्रान्ति और पथ-भ्रष्ट कौत्स्की' में लिखा है कि किसानों के करते इस तरह क्रान्ति में जो बड़ी मदद मिलती है उसकी परवाह वही नहीं करते जो अवसरवादी और दकियानूस होते हुए भी ऊपर से क्रान्तिकारी बनने का स्वांग रचते हैं। वह लिखता है—

"सन् 1848 ई. वाली फ्रांसीसी क्रान्ति विफल हो गयी। क्योंकि अन्यान्य बातों के साथ ही वह वहाँ के किसानों का सहानुभूतिपूर्ण सहयोग पाने में असमर्थ रही। सन् 1871 वाली पेरिस की कम्यून भी इसीलिए टिक न सकी कि और-और बातों के सिवाय उसे मध्यमवर्गीयों के और खासकर किसानों के विरोध से काम पड़ गया। 1905 वाली रूसी क्रान्ति के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। कौत्स्की के नेतृत्व में कुछ भद्दे मार्क्सवादियों ने अपने यूरोपीय क्रान्तियों के अनुभव के बल पर यह नतीजा निकाला कि मध्यम श्रेणी के लोग और खासकर किसान तो सर्वहारा क्रान्ति के प्रायः जन्म से ही शत्रु हैं। इसीलिए यह बात जरूरी है कि पूँजीवादी की प्रगति के लिए लम्बी मुद्दत तक इन्तजार की जाय। क्योंकि विकसित पूँजीवाद के युग में राष्ट्र के बहुमत हो जायँगे श्रमजीवी लोग ही और इस प्रकार सर्वहारा क्रान्ति की सफलता के लिए जिस परिस्थिति की जरूरत है वह पैदा हो जायगी।

"हमारे देश में किसानों को अपने साथ करने का काम साम्यवादी झण्डे के नीचे चालू रहा। किसानों को जमीन मिली थीं मजदूरों के ही हाथों, यहाँ जमींदारी को उनने मिटाया था मजदूरों की ही सहायता से और उनके हाथ में शासन भी आया सर्वहारा के ही नेतृत्व में। इसलिए उनने लाजिमी तौर पर यह मान लिया कि उनकी आजादी का काम चालू था और रहेगा भी सर्वहारा के लाल झण्डे के ही नीचे। साम्यवाद का जो झण्डा पहले किसानों को साम्यवाद से भड़कानेवाला माना जाता था वही अब उनका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला बन गया और उनने मान लिया कि



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसी के नीचे दमन, दुर्दशा और दरिद्रता से आजादी मिलने में आसानी होगी।"

अक्टूबर वाली क्रान्ति के पहले विदेशों से लेनिन ने जो पत्र लिखे थे उनमें उसने किसानों के इस पहलू और उनकी इस अहमियत पर सर्वहारा का ध्यान पूर्ण रूप से आकृष्ट किया था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है उसकी नजर में तो वे सभी किसान सर्वहारा ही कहे जा सकते थे जो अपनी जमीन से पेट भरने में असमर्थ थे, यद्यपि सर्वहारा की परिभाषा के भीतर इसीलिए नहीं आते थे कि उनके पास जरामरा जमीन थी। इसीलिए देहातों में सर्वहारा के लँगोटिया यार और दिली दोस्त वही बन सकते। इसीलिए सर्वहारा का यह पहला फर्ज था कि उनको संगठित करे, उनमें चेतना लाये और उन्हें अपना पक्का साथी बना ले। अर्द्ध-सर्वहारा के रूप में देश के कोने-कोने में फैले इन असंख्य किसानों को अपने पक्ष में लाये बिना समाजवादी क्रान्ति की सफलता सम्भव न थी। वह लिखता है कि–

"सर्वहारा के दो दोस्त हैं। अव्वल दर्जे के दोस्त तो अर्द्ध-सर्वहारा लोगों का महान समूह है और आंशिक मित्र छोटे किसानों की जनसंख्या है। ये दोनों करोड़ों की तादाद में हैं और रूस की जनसंख्या का अत्यधिकांश यही हैं। इस अपार जनसमूह को आज शान्ति, रोटी, आजादी और जमीन की जरूरत है। अवश्य ही यह समूह मध्यमवर्गीयों और खासकर निम्न-मध्यमवर्गीयों के असर में रहेगा। क्योंकि इसी वर्ग से इसका ज्यादातर मेल, अपने जीवन में खाता है। उन्हीं की तरह यह भी सर्वहारा और पूँजीपतियों के बीच में इधर-उधर लुढ़कता जो रहता है। महायुद्ध की भयंकर शिक्षा तो और भी भयंकर होती जायगी ठीक उसी हिसाब में जिस हिसाब में गचकोफ, लोफ, मिल्यूकोफ आदि का गुट्ट इस लड़ाई में अपनी शक्ति अधिकाधिक लगायेंगे। नतीजा यह होगा कि यह समूह सर्वहारा की ओर खिंच आयेगा और उन्हीं का नेतृत्व मजबूरन कबूल करेगा। नयी शासन व्यवस्था में जो आजादी मिली है उससे और मजदूरों तथा सिपाहियों की सोवियटों से फायदा उठाके हमें सबसे पहले और सबसे अधिक इस बात की कोशिश करनी होगी कि यह अपार जनसमूह संगठित हो जाय और इसकी आँखें खुल जायँ। हमारे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और जरूरी कामों में ही किसानों और खेत-मजदूरों की सोवियटें बनाना भी है। ऐसा करने में हम सिर्फ यही कोशिश न करेंगे कि खेत मजदूर अपनी खास सोवियटें जुदा बनायें। किन्तु यह भी करेंगे कि गरीब-से-गरीब और सम्पत्तिहीन किसानों की भी सोवियटें धनिकों की सोवियटों से निराली ही बनें।

"इन्हीं दो मित्रों के साथ कन्धे-से-कन्धे भिड़ा के रूस का सर्वहारा-वर्ग आगे बढ़ सकता है और बढ़ेगा। साथ ही वह इस सन्धि काल की विशेषताओं से फायदा उठाके पहले तो वह प्रजातन्त्र शासन कायम करने में सफलता प्राप्त करेगा। और जमींदारों के ऊपर किसानों की विजय प्राप्त करेगा। उसके बाद साम्यवाद की स्थापना में विजय हासिल करेगा। क्योंकि युद्ध से जीर्ण-शीर्ण लोगों को केवल साम्यवाद शान्ति,



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रोटी और आजादी दे सकता है।"

यहाँ प्रसंगवश एक बात कह देना जरूरी है। लेनिन कहता है कि पहले तो जमींदारी खत्म होगी और जनमत मूलक लोकशासन कायम होगा। इसका अर्थ है कि बूर्ज्वा रेवोल्यूशन के बाद भी यह बातें नहीं हो पायी हैं क्योंकि यह पत्र मार्च की क्रान्ति के बाद लिखा गया था। हालाँकि यह काम उसी क्रान्ति का है। उसे किसान क्रान्ति भी इसलिए कहते हैं और जनतन्त्र क्रान्ति भी। यह एक विचित्र बात है। इसी प्रकार कहा जाता है पूँजीवादी क्रान्ति के करते आजादी भी मिलती है क्योंकि आजादी की लड़ाई का ही नाम पूँजीवादी क्रान्ति है। मगर लेनिन कहता है कि बिना साम्यवाद के रोटी, शान्ति और आजादी मिल नहीं सकती। इसमें भी विचित्रता प्रतीत होती है।

असल में जिस क्रान्ति का जो लक्ष्य होता है वह कभी पूरा नहीं होता है। कुछ-न-कुछ कमी रही जाती है, जिसकी पूर्ति अगली क्रान्ति में भी शायद ही होती है। फिर ज्यों-ज्यों क्रान्ति की प्रगति होती जाती है त्यों-त्यों कमी पूरी होती जाती है। असल में समूची सामाजिक व्यवस्था बदले बिना उसकी बुराइयाँ दूर हो नहीं सकती हैं और सारी-की-सारी व्यवस्था बदलने में बड़ी लम्बी मुद्दत लगती है—कभी-कभी तो सैकड़ों साल लग जाते हैं। पुराने संस्कार, पुरानी रूढ़ियाँ, पुरानी आदतें छूटती ही नहीं हैं। जिन्हें उनसे हानि होती है वही उन्हीं से चिपके रहते हैं ! यही तो अनोखी बात है। लेकिन यह है भी ठोस सत्य। मगर जनता की मनोवृत्ति में ऐसा फर्क हो जाता है और परिस्थिति ऐसी हो जाती है कि क्रान्ति की दूसरी दौर शुरू हो जाती है। असल में अगली दौर में ही ऐसा मौका आता है कि पिछली दौर के काम के पूरा होने में आसानी हो जाती है। और अगर वहाँ भी यह काम पूरा न हुआ तो उसके बाद की दौर की जरूरत होती है। लेनिन के एक वचन से, जो पहले दिया जा चुका है, यही बात मालूम होती है। इसीलिए स्तालिन ने चीन के सम्बन्ध में सन् 1927 ई. के अगस्त में जो कुछ कहा था उसमें यह भी कहा कि—

"क्या चीनी क्रान्ति की पहली दौर ने विदेशी साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने का अपना लक्ष्य पूरा कर पाया है? नहीं, ऐसा नहीं हुआ है। इसने तो इसकी पूर्ति को उत्तराधिकार के रूप में चीन की क्रान्तिकारी जनता के लिए छोड़ दिया है। ताकि वह क्रान्ति की दूसरी दौर में इस साम्राज्यवाद के विरुद्ध उठ खड़ी हो, उसे साफ कह दे कि बस। और बाकी काम आगे के लिए छोड़ दे। यह मान लेना चाहिए कि क्रान्ति की दूसरी दौर भी साम्राज्यवादियों को चीन से निकाल बाहर करने में पूर्णतः समर्थ न होगी। हाँ, वह दौर चीन के मजदूरों और किसानों की लड़नेवाली जमात को एक ऐसा सहारा जरूर दे देगी कि वह साम्राज्यवाद के विरुद्ध बगावत कर दे। मगर ऐसा करते हुए वह क्रान्ति की अन्तिम यानी सोवियट वाली दौर के लिए ही यह आखिरी काम छोड़ देगी कि वह जड़-मूल से साम्राज्यवाद को मिटा दे।"



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समाज की पेचीदा हालत के कारण ही जो लक्ष्य सिद्धि में देर होती है और ज्यादा समय लग जाता है, यह बात समझ में आ जाती है। मगर जो लोग अपने मतलब को क्रान्ति की पूर्ण सफलता के द्वारा सिद्ध करना चाहते हैं उनके लिए एक ही रास्ता है और वह है अविराम वर्ग-संघर्ष का। यदि यह बात बराबर जारी रही तो इसी से क्रान्ति की सभी दौरें अपने-अपने मौके पर आई जायँगी और समाज तथा देश के कूड़े-कचरे को बहा ले जायँगी। सच्चे क्रान्तिकारी के वश की वह एक ही चीज है। मगर है वह अमृतधारा। यह बात नहीं हुई, वह नहीं हुई इस झमेले में पड़ के तो तबाह हो जाना पड़ता है। रेलगाड़ी को बराबर चलती रहने दो। सभी स्टेशन आप ही आप पास हो जायँगे, गुजर जायँगे। इसीलिए लेनिन ने 'हमारा कार्यक्रम' में साफ ही लिखा है–

"अनुभव ने हमें बताया है कि लोगों की पुरानी आदतों, राजनीतिक दाँव-पेंचों, पेचीदे कानूनों और काइयाँपन के सिद्धान्तों के पर्दे के भीतर हम वर्ग-संघर्ष को ही देखें। इसका अर्थ यह है कि इन आडम्बरों की ओट में एक ओर अनेक तबकों में बँटे मालदार और सम्पत्तिशाली लोगों और दूसरी ओर सम्पत्तिविहीन जनसमूह का नेतृत्व करनेवाला सर्वहारा-वर्ग–इन्हीं दोनों का वर्ग-संघर्ष सतत जारी है। अनुभव ने हमें साफ-साफ झलका दिया है कि किसी भी क्रान्तिकारी सोशलिस्ट पार्टी का असली काम है क्या। इसका काम यह नहीं है कि समाज की काया पलट के लिए निर्माण के काम शुरू कर दे, पूँजीपतियों और उनके पिछलगुओं को यह लेक्चर (उपदेश) दे कि वह श्रमिकों की दशा सुधारें, या षड्यन्त्रों का ताँता शुरू करें। किन्तु उसका तो एक ही काम है कि सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष का संगठन करे और इसे चालू रखे। इसका अन्तिम लक्ष्य यही है कि शासन-सूत्र को सर्वहारा हथिया लें–धर-दबोचें और साम्यवादी ढंग से समाज का संगठन करें।"

विदेशों से भेजे लेनिन के पत्रों से जों उद्धरण हमने थोड़ा पहले दिया है उसमें एक बात और भी ध्यान देने की है। वह कहता है कि अब धनी किसानों से अलग ही संगठन दुखिया किसानों का होना चाहिए। खेत के मजदूरों का भी स्वतन्त्र संगठन वह चाहता था। बात असल यह है कि जब तक जारशाही से लड़ाई थी तब तक तो धनी, गरीब सभी किसान साथ ही थे। सभी उस लड़ाई में शामिल थे। मगर अब पूँजीवादियों के साथ लड़ने के समय धनियों की मनोवृत्ति वैसी न रहेगी। वह भी सम्पत्ति वाले जो ठहरे। ऐसी दशा में उन्हीं के साथ दुखिया लोग भी कहीं घपले में न पड़ जायँ इसीलिए उनका संगठन जुदा करना ही होगा। ताकि उन्हें उनका कर्त्तव्य समझा के लड़ने को तैयार रखा जाय। एक ही संगठन दोनों का रहने पर चालाकी से धनी लोग लड़ाई के विरुद्ध अपने संगठन का फैसला करवा के गरीबों को भी रोक दे सकते हैं उसी संगठन और सभा के नाम पर। मगर हमें तो इस घपले से बचना है। इसीलिए गरीबों का संगठन अब जुदा चाहिए। ऐसी परिस्थिति



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जब जिस देश में आ जाय तब गरीब किसानों का जुदा संगठन होना ही चाहिए।

इसका दूसरा मतलब यह है कि, जैसा कुछ देर पहले कह चुके हैं, लेनिन की नजरों में गरीब किसान और खेत-मजदूर—अर्द्ध-सर्वहारा—एक ही हैं, और यहाँ जब वह गरीबों के संगठन के साथ ही अर्द्ध-सर्वहारा का भी अलग संगठन कहता है तो उसका मतलब स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों को वह एक में मिलाना चाहता है। जब तक खेत-मजदूर या अर्द्ध-सर्वहारा का भी संगठन न हो, जो अब तक न था तब तक उनके साथ दुखिया किसानों के मिलने का मौका ही नहीं आता। मगर इनके संगठन के साथ ही ज्योंही दुखिया किसानों को धनियों से पृथक् किया त्यों ही ये दोनों—खेत-मजदूर और दुखिया किसान—एक सूत्र में बँध जायँगे। इस पर ज्यादा प्रकाश 'खेत-मजदूर' नामक पुस्तक में डाला गया है।

अत्यन्त सफाई के साथ लेनिन ने किसानों के सम्बन्ध के अपने विचारों को 'कार्ल मार्क्स के उपदेश' में यों लिखा है कि—

"अन्त में अगर हम यह जानना चाहते हैं कि मार्क्सवादी साम्यवाद का क्या रुख छोटे-छोटे किसानों के बारे में है—ऐसा रुख जो शोषकों का सर्वमोचन करने के समय बराबर बना रहेगा—तो हमें उस घोषणा की ओर नजर दौड़ानी होगी जो एंगेल्स ने मार्क्स के मन्तव्यों के बारे में की थी।" इसके बाद लेनिन ने एंगेल्स की वह घोषणा खुद लिख दी है। वह यों है—

"(फ्रांसीसी तथा जर्मन किसानों की समस्याएँ—नामक घोषणा में एंगेल्स कहता है कि) जब हमें सरकार की बागडोर मिलेगी तो हम स्वप्न में भी यह न सोचेंगे कि गरीब किसानों को, मुआवजा देकर या बिना मुआवजा के ही, जमीनों से बलात् बेदखल कर दें, जैसा कि बड़े-बड़े जमींदारों के बारे में हमें करना ही होगा। इन छोटे-छोटे किसानों के सम्बन्ध में हमारा पहला काम यही होगा कि हम उनकी व्यक्तिगत खेती और जमीनों को सहकारी खेती और सहकारी सम्पत्ति के रूप में बदलें। सो भी यह काम जबर्दस्ती न किया जायगा। किन्तु इस बात का नमूना पेश करके और ऐसा करनेवालों को सरकार की ओर से मदद देकर ही। तभी हम किसानों को इस प्रणाली तथा इस परिवर्तन के सब लाभों को दिखा सकेंगे और ये लाभ ऐसे हैं कि वे किसान उन्हें आज भी समझ सकेंगे।"

इससे यह साफ हो जाता है कि क्रान्ति की सफलता होते ही और सर्वहारा के हाथ में शासन सूत्र आते ही सबसे पहला काम होगा कि किसानों को इस बात की पूर्ण आजादी हो कि वे जमींदारियों को मिटा के जमीनें बाँट लें। जिनके पास पहले से ही जमीनें हों उनका तो कहना ही नहीं। इस तरह मुल्क में अधिकांश किसान मध्यमवर्गीय हो जायंगे, जिनके पास इतनी जमीनें होंगी कि उनसे अपनी गुजर खेती-बारी के जरिये कर सकें। साम्यवाद के नाम पर ऐसा न होगा कि सभी की जमीनें राष्ट्र या समाज की सम्पत्ति बना दी जायँगी। ऐसा होने पर तो महान् विस्फोट



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होगा और प्रलय मच जायगी। तब तो किसान ही क्रान्ति-विरोधी बन के मालदार जमींदारों से जा मिलेंगे और तख्ता ही उलट देंगे। साधारण किसानों के साथ ऐसा करना आग से खेलने के बराबर ही होगा। फिर तो जल जाना और झुलस जाना जरूरी है। इसलिए नौसिख और अपरिषक्व साम्यवादी की तरह का काम कोई भी समझदार नहीं करेगा।

मगर किसानों को साम्यवाद की ओर लाने का सुन्दर यत्न किया जायगा और वह ऐसा होगा कि उन्हें विज्ञप्तियों, पुस्तकों, समाचार-पत्रों, व्याख्यानों, नाटकों, सिनेमाओं आदि के द्वारा सहयोग मूलक खेती का लाभ समझाया जायगा। बहुत से किसान अपनी-अपनी जमीनों को एक में मिला के लम्बे खेत में वैज्ञानिक ढंग से खेती करें यह बात उन्हें बखूबी समझायी जायगी, ताकि उनके दिल दिमाग में घुस जाय। पैदावार की जमीन के ही हिसाब से बाँट लें, या समूची पैदावार एक ही जगह से बेच के कीमत ही बाँट लें, ऐसा उन्हें बताया जायगा, सिर्फ आगे की खेती के लिए बीज, खर्च और कुछ संरक्षित कोष में अन्न, द्रव्यादि रख देना होगा, जो किसी आपत्ति-विपत्ति या आकस्मिक जरूरत में काम आये। खेती के पुराने सामान, मकान वगैरह की मरम्मत में भी संरक्षित कोष से ही खर्च किया जायगा।

व्याख्यान, विज्ञप्ति आदि के सिवाय इस सम्बन्ध में जो सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण काम श्रमजीवियों की सरकार कर सकती है वह यह कि जमींदारों से छीनी गयी जमीन किसानों को देने के साथ ही उनकी जिरात और खुद काश्त की जमीनों को—लम्बे-लम्बे खेतों को—वह सरकार अपने ही पास रख के उसमें वैज्ञानिक ढंग से आधुनिक खेती कराये। पुरानी सरकार के जो फार्म हों उनमें भी इस तरह की खेती की जा सकती है। जब छोटे-छोटे किसानों को नमूने के तौर पर ऐसी खेती दिखाई जायगी तभी उसका फायदा वे लोग बखूबी समझ पायेंगे। हजार उपदेशों का काम एक नमूना कर देता है। होगा यह कि उसके फलस्वरूप किसान उस तरफ आसानी से खिंच आयेंगे।

मगर किसानों के पास वैज्ञानिक खेती का सामान तो होगा नहीं। उनके पास पूँजी कहाँ कि वह सामान खरीदें? टटपुँजिये लोगों की पहुँच के तो बाहर की वह चीजें हैं। इसीलिए सरकार की तरफ से सार्वजनिक कोष से ही उनकी सहायता की जानी चाहिए। ट्रैक्टर, खाद, अच्छे बीज, आबपाशी का अच्छा प्रबन्ध वगैरह सभी बातों में उन्हें काफी मदद देने की जरूरत होगी। तभीं तो वे आसानी से इस काम में झुकेंगे और तभी वे लोग सफल भी होंगे। अगर सचमुच उन्हें अन्ततोगत्वा पंचायती खेती के जरिये सम्मिलित खेती में लगाना है तो यह सहायता निहायत जरूरी है। पीछे पता चलेगा कि इसमें जो खर्च होगा वह बेकार नहीं जाकर हजार गुना फायदा करेगा। क्योंकि इसके करते जब किसान समूह इसमें खिंच आयेगा तो साम्यवाद का काम बहुत ही सरल हो जायगा। इसीलिए इस प्रकरण के शुरू में ही एंगेल्स का



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह वचन दिया गया है, जिसमें लिखा है कि और तरीके से इसमें दसगुना लाभ होगा।

इतना कर लेने पर यह निश्चित है कि अधिकांश किसान खुद-ब-खुद सम्मिलित खेती में शरीक हो जायँगे। हाँ, यह हो सकता है कि कुछ पूँजीपतियों और मालदारों के दलाल एवं कुलक वगैरह इसमें बाधा डालें और किसानों को उलटा फुसलायें। उनकी बातों में पड़ के कुछ भोले-भाले लोग शायद बहक भी जायँ। ऐसों के ही लिए संभवतः बल प्रयोग और कानून की जरूरत होगी। बेशक ऐसे लोग ज्यादा न होंगे। वे तो मुट्ठी भर ही होंगे, जैसे दाल में नमक। इसलिए उनके खिलाफ कानूनी कार्यवाही और बल प्रयोग करने में भी कोई हर्ज नहीं है। एंगेल्स ने या लेनिन ने भी तो यही कहा है कि बल प्रयोग अन्त में किया जाना चाहिए यदि वह अनिवार्य हो। सो भी थोड़े से ही लोगों के सम्बन्ध में, न कि अधिकांश के बारे में।

यदि इस तरीके से काम किया जाय और किसानों की यथार्थ मनोवृत्तियों एवं भावनाओं को ठीक-ठीक समझ के तदनुकूल ही काम-बहुत ही होशियारी से शुरू किया जाय तो उनसे क्रान्ति की सफलता में जो अपूर्व सहायता मिल सकती है वह किसी से भी नहीं। उन्हीं की मदद से ही क्रान्ति को असली सफलता मिल सकती है और शोषितों एवं पीड़ितों का बेड़ा पार हो सकता है। भारत जैसे देशों में तो रूस के ही किसानों की तरह जमीन का प्रेम किसानों में बहुत ही ज्यादा है और ये लोग उन्हीं की तरह उस अर्थ में दल-के-दल बने (Regimented) हैं। ये जमीनों के नाम पर टूट पड़ते हैं। इसीलिए वैसा ही तरीका यहाँ भी काम में लाया जाना जरूरी है।

जो लोग हमारे मुल्क में मजदूर आन्दोलन को बर्दाश्त तो किसी प्रकार कर सकते हैं, लेकिन किसान आन्दोलन को मुल्की आजादी के लिए घातक मानते हैं, उन्हें एंगेल्स का सन् 1865 ई. के एक पत्र का वह अंश पढ़ना चाहिए जिसमें वह लिखता है कि—

"प्रधानतया किसानों का ही जो देश हो उसमें कल-कारखानों के मजदूरों के नाम पर सिर्फ पूँजीवादियों पर ही हमले करने में अपने आपको लगा देना और बड़े-बड़े सामन्तशाही अशराफ (जमींदारों) के द्वारा कोड़े के हाथ पैतृक ढंग से गाँवों के श्रमजीवियों के शोषण के बारे में एक शब्द तक नहीं बोलना, यह बड़ी ही बेहूदी और नीच हरकत है।"

यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि रूस में जो सफलता क्रान्ति को मिली और जो कहीं भी नहीं मिली उसकी वजह यही थी कि वहाँ के क्रान्तिकारी नेताओं ने किसानों की इस मनोवृत्ति का ठीक-ठीक अध्ययन करके तदनुकूल ही काम किया था। दूसरे देशों के पूँजीवादियों ने जिस प्रकार किसानों की भावनाओं से अनुचित लाभ उठाकर उन्हें धोखे में अन्ततोगत्वा डाला वह बात रूस में होने न पायी। लेनिन और उसके साथियों की यही तो बुद्धिमानी थी कि पूँजीवादियों और उनके दोस्तों के चकमे में किसानों को आने ही न दिया। कुछ तो रूसी पूँजीवादियों को इंगलैंड,



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

फ्रांस, अमेरिका आदि की तरह मौका ही न मिला कि किसानों पर अपना जादू डाल सकें। वे लोग सोचते ही रहे कि क्या करें, तब तक दूसरी ही परिस्थिति पैदा हो गयी और वे खुद ही बला में फँस गये। कुछ ऐसा भी हुआ कि सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी का जमाना अब था नहीं। अब तो बीसवीं सदी थी और इसमें पूँजीवादी प्रणाली खुद करवटें बदल रही थी। यह युग व्यापारी, पूँजी और औद्योगिक पूँजी का तो रह नहीं गया था। उन्नीसवीं सदी का प्रायः समूचा और कुछ-कुछ अठारहवीं के उत्तरार्द्ध का भी भाग ही औद्योगिक युग माना जाता है। अठारहवीं का शेष और सत्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी को व्यापारी युग कहते हैं। क्योंकि कोलम्बस और वास्को-द-गामा के द्वारा क्रमशः अमेरिका और भारतवर्ष का पन्द्रहवीं सदी के अन्त—1498—में पता लग जाने पर वास्तविक व्यापारी युग—व्यापारी पूँजीवाद का युग—शुरू हुआ था। उसके पहले का व्यापार तो कुछ ऐसा ही वैसा था। उसे व्यापारी पूँजीवाद का युग कहना उचित नहीं जान पड़ता। इन नये देशों का पता लग जाने पर व्यापार में क्रान्ति हो गयी। इसीलिए उसके बाद का ही युग व्यापारी पूँजी का युग है। ठीक उसी प्रकार आगे चल कर मशीनी और भाप वगैरह के चमत्कारों के आविष्कार से उद्योग-धन्धों में क्रान्ति हो जाने पर अठारहवीं के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं के प्रायः सर्वांश को ही औद्योगिक पूँजीवादी युग कहते हैं। मगर रूसी पूँजीवादियों को तो साम्राज्यवादी युग से ही मुकाबिला पड़ गया और उसमें वे किसानों या मजदूरों को आसानी से अपने पक्ष में कर ही नहीं सकते थे। उन्हें फुर्सत ही न थी कि परेशानी उठाकर भी ऐसा काम कर सकें।

इसीलिए स्तालिन ने 'लेनिनवाद की बुनियाद' में लिखा है कि—

''सोवियट संघ (यूनियन) के किसानों की तुलना पश्चिमीय यूरोप के किसानों से की जा सकती नहीं। रूसी किसानों को तीन क्रान्तियों के स्कूल में शिक्षा मिली है, वे श्रमिकों के कन्धे-से-कन्धा भिड़ा के उन्हीं के नेतृत्व में जार और पूँजीवादियों से लड़ चुके हैं, वे सर्वहारा क्रान्ति के ही फलस्वरूप अपनी जमीन सम्बन्धी भूख बुझा सके और शान्ति की अभिलाषा पूरी कर सके हैं और इस प्रकार वे इस देश के श्रमिकों के लिए सुरक्षित शक्ति बन गये हैं। इस प्रकार के किसान तो उन (पश्चिमी यूरोप के) किसानों से बिलकुल ही निराले हैं, जो पूँजीवादी क्रान्ति के युग में उदार पूँजीवादियों के नेतृत्व में ही लड़ते रहे, जिन्हें उन्हीं पूँजीवादियों के हाथों से जमीन मिली और इस तरह जो उन पूँजीवादियों के ही लिए सुरक्षित शक्ति बन चुके हैं। यह बात साफ है कि सोवियट संघ के किसान, जिनने श्रमिकों के साथ अपनी राजनीतिक मैत्री का मूल्य समझ लिया है और उनके साथ मिल के काम करने का राजनीतिक महत्त्व जान लिया है, यह बात समझने में कभी पीछे न रहेंगे कि आर्थिक क्षेत्र में भी उनसे मिल के ही काम करना चाहिए।''

आगे चल के स्तालिन फिर लिखता है कि जो लोग रूस की दिहाती दशा



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और आर्थिक व्यवस्था को पश्चिमीय यूरोप जैसी मान के काम करना चाहते हैं वह भूलते हैं। रूस में तो निराली ही हालत है, यहाँ की तो दुनिया ही जुदी है और है यह छोटे-छोटे किसानों की दुनिया जो क्रान्ति तथा साम्यवाद के सर्वथानुकूल है। वह कहता है—

"रूस की देहाती आर्थिक व्यवस्था का मुकाबिला पश्चिमी यूरोप की देहाती व्यवस्था से किया नहीं जा सकता। यूरोपीय व्यवस्था तो प्रसिद्ध पूँजीवादी ढंग पर ही विकसित हुई है। इसीलिए वहाँ एक ओर मालदार किसान हैं, जिनकी लम्बी-लम्बी जमींदारियाँ और बड़े-बड़े खेत (फार्म) हैं, और दूसरी ओर छोटे-छोटे किसान तथा दरिद्रताग्रस्त खेत मजदूर हैं। और इन दोनों का अन्तर बहुत साफ है। इसीलिए वहाँ देहात के रहनेवाले इन दो दलों में बड़ा जबर्दस्त संघर्ष है। मगर सोवियट रूस में बातें दूसरी ही हैं। यहाँ एक तो सोवियट का शासन है और दूसरे उत्पादन के सभी प्रधान साधन राष्ट्रीय सम्पत्ति बना लिए गये हैं। इसीलिए यहाँ का आर्थिक विकास ख़ामखाह निराले ही रास्ते से हो रहा है। रूस के गाँवों की आर्थिक व्यवस्था की प्रगति इस तरह होती है कि करोड़ों-करोड़ गरीब एवं मध्यम किसानों की सहयोग समितियाँ बनी हैं, बनती हैं और कृषि सम्बन्धी ऐसी ही दूसरी समितियाँ भी बनती हैं, जिन्हें सुविधा के साथ सरकार की ओर से आर्थिक सहायता मिलती है और मदद की जाती है। सहयोग के बारे में लेनिन ने जो लेख लिखे हैं उनमें उसने ठीक ही लिखा है कि हमारे गाँवों की आर्थिक प्रणाली बिलकुल नये ढंग से विकसित होगी, जिसमें अधिकांश किसान सहयोग समितियों के जरिये साम्यवाद के प्रसार में भाग लेंगे और इस तरह सम्मिलित खेती के सिद्धान्त को धीरे-धीरे खेती के रग-रग में भर दिया जायगा। पहले तो यह बात केवल गल्ले आदि की बिक्री से ही शुरू होगी। फिर समय पाकर गल्ले वगैरह के उत्पादन में भी जा घुसेगी। यह तो साफ है कि किसानों का अत्यधिक बहुमत इस मार्ग को खुशी-खुशी अपनायेगा। ताकि पूँजीवादी तरीके से व्यक्तिगत बड़े-बड़े फार्मों के बनने का रास्ता बन्द हो जाय—ऐसा रास्ता जो मजदूरी की गुलामी, गरीबी और बर्बादी की ओर जाता है।"

इन वाक्यों में यह बात बहुत सफाई के साथ बतायी गयी है कि किसानों के सहयोग से क्रान्ति में सफलता मिलने पर साम्यवाद के निर्माण में उनसे किस प्रकार सहयोग समितियों के द्वारा मदद मिलती है और सम्मिलित खेती की ओर वे क्योंकर अग्रसर होते हैं। इस काम में मजदूरों की सरकार उन्हें किस प्रकार मदद करके आगे बढ़ा सकती है यह बात भी बतायी गयी है। साम्यवाद के निर्माण में गरीब और मध्यम श्रेणी के किसान ही सहायक होते हैं, न कि धनी किसान। वे तो पूँजीवादी प्रणाली चाहते हैं। इसलिए हमें मध्यम तथा गरीब किसान वर्ग का स्वागत करने के बजाय उनसे घबराने की जरूरत नहीं। असल में फ्रांस की पहली क्रान्ति के बाद मध्यम किसानों की तादाद बढ़ जाने के कारण वहाँ जो गड़बड़ी हुई थी उसी



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का खयाल करके क्रान्तिकारी लोग अन्य मध्यम श्रेणी की ही तरह मध्यम श्रेणी के किसानों से भी डरते रहे हैं। मार्क्स तथा एंगेल्स ने भी फ्रांस के गृहयद्ध की बात याद करके कम्युनिस्ट लीग़ वाले अपने व्याख्यान में यह बात प्रकट की है। क्योंकि उससे पूँजीवाद की नींव पड़ जाती है। मगर वहाँ तो दूसरी ही बात थी। जमीन तो रूस में भी किसानों को दी गयी थी। फिर भी वहाँ पूँजीवाद के प्रसार के बदले उन्हीं किसानों ने साम्यवाद का प्रसार किया। क्योंकि वहाँ उनका नेतृत्व ठीक लोगों—सर्वहारा-वर्ग—के हाथ में था। फ्रांस में यही बात न होने से गंड़बड़ी मची। क्योंकि वहाँ का नेतृत्व पूँजीवादियों और उनके दोस्तों के हाथ में था। इसीलिए पूँजीवादी क्रान्ति के बाद ही क्रान्ति का प्रवाह, प्रसार रुक गया। वह आगे न बढ़ सकी। नहीं तो सब ठीक होता। रूस में तो क्रान्ति का प्रवाह चालू रहा और सर्वहारा क्रान्ति को पूरा करके ही रुका। इसीलिए कोई भी दिक्कत नहीं हुई। क्रान्ति का प्रवाह गंगा की धारा की तरह अगर निरन्तर जारी रहे तो वह निर्मल बनी रहती है। प्रवाह रुक जाने पर ही उसमें गन्दगी आ जाती है।

ऊपर के उद्धरण में जिस पूँजीवादी विषमता का जिक्र गाँवों की आर्थिक प्रणाली को लेकर बताया गया है उसका स्पष्टीकरण मिस्टर पाल लाफार्ग ने अपनी पुस्तक 'सम्पत्ति का विकास' के 154-155 पृष्ठों में यों किया है—

"संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के गल्ले पैदा करनेवाले राष्ट्रों के खेतिहरों (किसानों) के चार मुख्य विभाग किये जा सकते हैं—(1) खेती के सर्वहारा, खेत-मजदूर या बँधे-बँधाये दिनों तक ही काम करनेवाले; (2) छोटे किसान जिनकी या तो अपनी ही जमीनें हों या जो बँटाई पर खेती करते हों; (3) ऐसे खेतवाले किसान जो अपनी खेती की देखभाल खुद करते हैं; (4) बड़े-बड़े पूँजीपति खेतिहर, यूरोप में जिनके जैसे खेतिहर रूमानिया के विभिन्न भागों और रूस के दक्षिणी हिस्से में पाये जाते हैं।

"अत्यधिक बहुमत उन्हीं खेती करनेवालों का है जो सर्वहारा हैं, जिनके पास न तो एक इंच जमीन होती और न मिट्टी की झोंपड़ी और जिस बिस्तरे पर वे सोते या जिस चम्मच से खाते हैं वह भी उनके अपने नहीं होते। दैनिक भोजन या कपड़ों के सिवाय जिनके पास कोई भी व्यक्तिगत सम्पत्ति न हो ऐसे (सर्वहारा) लोगों के नमूने के तौर पर वे होते हैं। जिन खेतों को वे जोतते-बोते उनमें भी उनके रहने के लिए कोई निश्चित स्थान (घर) नहीं होता। फलतः ज्यों ही काम पूरा हुआ कि वे उन खेतों को छोड़कर चले जाते हैं। ऐसे पूँजीवादी फार्मों के मैनेजर उन मजदूर की भर्ती सभी जगह करते हैं। सभी गाँवों और शहरों में ये मजदूर रोजाना, हफ्तेवारी या मासिक मजदूरी पर भर्ती किये जातें हैं। खेती के ही काम में वे लगाये जाते हैं। इसीलिए निरीक्षकों और संचालकों के अन्दर वे रखे जाते हैं। और उसी रूप में बड़े खेतों में पहुँचाये जाते हैं। वे डेरों में रखे जाते हैं, खिलाये जाते हैं, उन्हें दवा दी जाती और तनख्वाह दी जाती है। उन्हें कवायद सिखाई जाती है और वे खेती



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्बन्धी फौजी टुकड़ी के रूप में रखे जाते हैं। वहाँ फौजी अनुशासन की पाबन्दी होती है—वे नियत समय पर ही सो के उठते, खाते और सोते हैं। हफ्ते भर उन्हें शराब पीने की मनाही रहती है। केवल रविवार को ही उन्हें यह आजादी रहती है कि पास की भट्ठी में जायँ और शराब पियें। जब बरसात में काम खत्म हो जाता है तो वे बर्खास्त कर दिये जाते हैं। जाड़ों में तो थोड़े से ही आदमी खेतों पर सिर्फ इसलिए रखे जाते हैं कि पशुओं को खिलायें-पिलायें और खेती के औजारों की हिफाजत करें। बाकी सभी लोग गाँवों और शहरों में लौटकर जिसे जो भी मिले वही काम करता है।"

इस वर्णन में जिस सर्वहारा की तस्वीर खींची गयी है वह कल-कारखानों के मजदूरों से भी बुरी है। असल में यही तो असली खेत-मजदूर हैं जिनके बारे में देहातों की "तर धरती न ऊपर बज्जर" वाली कहावत अक्षरशः लागू है। यही लोग तो असली सर्वहारा हैं। जिनके पास झोंपड़ी और बर्तन-भांडे हैं वे भी पक्के सर्वहारा नहीं हैं। इसीलिए इन्हें आदर्श या नमूना बताया है। जहाँ पूँजीवादी तरीके से खेती नहीं वहाँ खेतों के सर्वहारा होई नहीं सकता। इसलिए हिन्दुस्तान जैसे देश के नन्हे-नन्हे खेतों के मजदूरों को सर्वहारा कहना सरासर भूल है। यहाँ खेत मजदूर तो हकीकत में किसान ही हैं। हमने इसका स्पष्टीकरण 'खेत-मजदूर' में अच्छी तरह किया है। जब तक जमींदारी प्रथा को मिटाकर पूँजीवादी ढंग से बड़े-बड़े फार्मों में ऊपर बताये पैमाने पर खेती नहीं होती तब तक बूर्ज्वा रेवोल्यूशन की सफलता हो भी नहीं सकती। इसीलिए तो पूँजीवादी जमींदारी मिटाने का पक्षपाती होता है। बेशक इस जमींदारी के मामले में पूँजीवादियों में भी दो दल हैं। फिर भी इतना तो सभी मानते हैं कि जब तक पूरी तौर पर पूँजीपतियों के काबू में जमीन नहीं आ जाती, ताकि जैसे चाहें खेती करें, तब तक पूँजीवादी क्रान्ति को सफल कहा नहीं जा सकता है।

यही कारण है कि मार्क्स ने लिखा है कि जमीनों पर पूँजीपतियों का पूरा अधिकार हो जाने पर वे प्रतिगामी या क्रान्ति विरोधी बन जाते हैं। इसका मतलब है कि वे ख़ामखाह जमींदारी मिटाने के हामी नहीं रह जाते हैं। यदि जमींदार ही पूँजीपति बनकर उस तरह की खेती शुरू कर दें, तो भी उनका काम हो जाता है। अगर सरकार ही ऐसा प्रबन्ध कर दे कि उन्हें जरूरत भर जमीन मिलने लगे, तो भी उनका मतलब पूरा हो जाता है। असल में जमीन के खरीदने में जितना भी पैसा लगे उतना पूँजी में ही तो कम होगा। फलतः खेती को पूँजीवादी ढंग से करने में पूँजी उतनी कम हो जायगी। इसीलिए पूँजीवाद के पूर्ण विकास के लिए जरूरी है कि मुफ्त जमीन मिले। इसीलिए संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की सरकार ने वहाँ ऐसी खेती के लिए बहुत जगह पूँजीपतियों को बराबर मुफ्त ही जमीनें दी हैं। आस्ट्रेलिया में भी कुछ ऐसा ही हुआ है। इसीलिए लेनिन के लेखों के संग्रह के 12वें भाग के 194 पृष्ठ में लिखा है कि "इसका अर्थ है कि संयुक्त राष्ट्र का पश्चिमी हिस्सा सोलहों आना घरवाली



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(जिसके बीच में ही रहने का घर भी हो) जमीनों में बँटा है। यह ऐसा प्रदेश है जहाँ की पड़ती जमीनें लोगों को मुफ्त ही दी गयीं, ठीक उसी तरह जैसे कि रूस के बाहरी भागों में आस्ट्रेलिया की तरह भेड़िहरों को मुफ्त जमीनें दे के उन्हें बसाया गया। यह बात पूँजीवादी ढंग से की गयी और जिसने चाहा उसे जमीन मिल गयी।'' यह इस तरह साधारणतः 160 एकड़ से कम किसी को दी जाती न थी। साम्राज्यवादी युग में तो सख्त मुकाबिला होता है। जिस फार्म का गल्ला वगैरह सस्ता होगा वही बेच सकेगा और फूले-फलेगा। मगर खेत की कीमत के रूप में कुछ भी रुपया लगाने पर पैदावार उतनी महँगी तो जरूर ही हो जायगी और बिक न सकेगी। इसलिए मुफ्त ही जमीन मिलना जरूरी हो जाता है। जमीन की कीमत की तो बात ही नहीं। उसका लगान भी देना ठीक नहीं होता। ऐसा मौका आ जाता है जब सरकार को अपने पूँजीपतियों के फार्मों को कायम रखने और बढ़ने के लिए मालगुजारी या लगान भी छोड़ देना पड़ता है।

जमींदारी मिटाने की इस बात के लिए मार्क्स के वचनों को उद्धृत करके लेनिन ने उस पर अपनी टिप्पणी विस्तार के साथ लिखी है। लेनिन ग्रन्थावली (Selected Works) के बारहवें भाग के अन्त में लेनिन के सन् 1907 ई. के इस कथन को यों दिया है—

"यह बताने के बाद कि पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली में जमींदार बिलकुल ही बेकार है; क्योंकि उस प्रणाली का काम तभी पूरा हो सकता है जब जमीन पर सरकार का अधिकार हो, मार्क्स कहता है कि—

" 'यही कारण है कि आमूल परिवर्तनवादी (क्रान्तिकारी) पूँजीपति सिद्धान्त की दृष्टि से इस निश्चय पर पहुँचता है कि जमीन पर किसी का भी व्यक्तिगत हक नहीं होना चाहिए। लेकिन अमली तौर पर काम करने की हिम्मत उसमें इसलिए नहीं होती कि एक प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति, जिस पर औरों से काम कराया जाय, पर हमला होने का परिणाम ऐसी दूसरी सम्पत्ति के लिए भी खतरनाक हो जायगा। यह बात भी है कि पूँजीपति जमीन को सोलहों आने अपने काबू में कर चुका होता है।'

"मार्क्स यहाँ यह बात नहीं कहता है कि यदि खेती पूँजीवादी ढंग से न होती हो तो वह जमीन को राष्ट्र की सम्पत्ति बनाने में बाधक होती है। वह तो दूसरी ही बाधाओं की ओर निर्देश करता है जिनसे यह बात और भी ज्यादा साफ हो जाती है कि पूँजीवादी क्रान्ति के युग में ही जमीन का राष्ट्रीयकरण हो सकता है।

"पहली बाधा यह है कि आमूल परिवर्तनवादी सम्पत्तिजीवी (पूँजीपति) को हिम्मत ही नहीं होती कि जमीन के व्यक्तिगत अधिकार पर हमला करे। क्योंकि उसे यह डर बराबर बना रहता है कि इसे ही देख के सभी प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति पर साम्यवादी हमला हो जायगा—साम्यवादी क्रान्ति हो जायगी।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"दूसरी बाधा यह है कि पूँजीपति ने जमीन को अच्छी तरह अपने काबू में कर लिया है। इसमें मार्क्स का साफ मतलब यही है कि जमीन की व्यक्तिगत सम्पत्ति होते हुए भी पूँजीवादी तरीके का उत्पादन उसमें जम गया है, अर्थात् जमीन की व्यक्तिगत सम्पत्ति अब सामन्तयुग की जैसी होने की अपेक्षा कहीं ज्यादा पूँजीवादी बन चुकी है। जबकि पूँजीवादी वर्ग ने बहुत बड़े पैमाने पर जमीन की सम्पत्ति से अपने आपको पहले से ही बाँध दिया है, जमीन पर जम गया है और जमीन की सम्पत्ति को बखूबी अपने कब्जे में कर लिया है, तब जमीन को राष्ट्रीय सम्पत्ति बनाने के लिए वास्तविक आन्दोलन पूँजीवादियों की तरफ से होना असम्भव है। यह इसीलिए असम्भव है कि कोई वर्ग अपने ही खिलाफ कोई भी काम नहीं कर सकता।

"आम तौर से ये दोनों बाधाएँ सिर्फ पूँजीवाद के चढ़ाव के ही समय में दूर की जा सकती हैं, न कि उसके ह्रास के समय में—अर्थात् पूँजीवादी क्रान्ति के ही युग में यह बात हो सकती है, न कि साम्यवादी क्रान्ति के श्रीगणेश के समय।"

बहुतों की ऐसी धारणा है कि पूँजीवादी लोग जो पिछड़े मुल्कों में रहते हैं क्रान्तिकारी होते हैं। ऐसा भी माना जाता है कि सभी पूँजीवादी क्रान्तिकारी होते हैं। मगर अभी-अभी लेनिन का जो वचन उद्धृत किया गया है उससे तो यह बात साफ हो जाती है कि यह बात सही नहीं है। खासकर साम्राज्यवादी युग में, जबकि पूँजीवाद का ह्रास हो रहा है, जब उसके विकास की गुंजाइश रही नहीं गयी है, यह पूँजीवादी सोलहों आना दकियानूस और प्रतिगामी बन चुका है। इसीलिए जमींदारी मिटाने के नाम से डरता है, काँपता है। हाँ, मूल्य देकर यदि उसे ख़त्म करना हो तो जरूर चाहेगा। क्योंकि यह तो खरीद-बिक्री ठहरी और उसका यही काम ही है। मूल्य देने में बड़ा लाभ यह है कि उसी पैसे से कल-कारखाने खोले जायँगे और किसानों को प्रकारान्तर से लूटा जा सकेगा। उनका गल्ला, गन्ना, जूट, रूई वगैरह सस्ते में खरीदकर उन्हें तबाह करेंगे और घर-बार विहीन होने पर कल-कारखानों में कुछ लोगों को नाममात्र की मजदूरी पर लगायेंगे। इसीलिए आगे लेनिन साफ ही कहता है कि—

"प्रगतिशील सम्पत्तिजीवी (पूँजीवादी), अत्यन्त समुन्नत पूँजीवाद के जमाने में, हिम्मतवर हो नहीं सकता। ऐसे समय में पूँजीवादी प्रधानतया प्रतिगामी हो चुका होता है। ऐसे युग में सम्पत्तिजीवियों का प्रायः पूर्णरूपेण जमीन से लिपट जाना पहले से ही अनिवार्य हो गया रहता है। लेकिन, पूँजीवादी क्रान्ति के जमाने में तो बाहरी परिस्थिति ही उन्हें हिम्मतवर बनने को विवश करती है। क्योंकि उस समय की ऐतिहासिक (महत्त्वपूर्ण) समस्याओं को सुलझाने में उन्हें अपने वर्ग के लिए सर्वहारा क्रान्ति का खतरा नहीं रहता। असल में पूँजीवादी क्रान्ति के युग में वे जमीन से पूरी तरह लिपटे नहीं होते। क्योंकि उस समय जमीन की सम्पत्ति के पेट में सामन्तशाही का बहुत ज्यादा अंश रहा करता है। पूँजीवादी खेतिहरों के समूह के लिए तब यह बात सम्भव होती है कि जमीन की मिल्कियत की खास सूरतों के खिलाफ लड़ें।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसीलिए उनके लिए यह भी मुमकिन होता है कि पूँजीवादी ढंग से जमीन को आजाद कर दें, यानी उसे राष्ट्र की सम्पत्ति बना दें।

"इन सभी बातों में रूस की पूँजीवादी क्रान्ति के लिए खासतौर से अनुकूल परिस्थिति है। सिर्फ आर्थिक दृष्टि से दलील करने पर हमें बिना हीला-हवाला के मानना ही होगा कि रूस में सामन्तशाही तरीके, जमीन की मिल्कियत के बारे में, ज्यादे से ज्यादा पाये जाते हैं। फिर चाहे वह जमींदारी की बात हो या किसानों को दिये जमीन के टुकड़ों की ही हो। ऐसी हालत में एक ओर अपेक्षाकृत समुन्नत पूँजीवादी उद्योग-धन्धों और दूसरी ओर देहाती जिलों की भयंकर पिछड़ी हालत में जो परस्पर विरोध है वह चिल्लाता नजर आता है। उस दशा में बाहरी परिस्थिति के चलते पूँजीवादी क्रान्ति को मजबूरन पूर्ण बनना पड़ जाता है, जिससे खेती-बारी की तेज तरक्की के लिए अनुकूल परिस्थिति पैदा हो जाय। रूस की खेती में तेजी के साथ पूँजीवाद का प्रसार हो इसके लिए जमीन का राष्ट्रीयकरण खासतौर से जरूरी है। रूस में एक ही प्रगतिशील सम्पत्तिजीवी अभी तक मौजूद है जिसने जमीन को अभी तक हथियाया नहीं है और जिसे आज सर्वहारा-वर्ग के आक्रमण का डर होई नहीं सकता। वह है रूस का किसान।

"इस दृष्टि से, जमीन को राष्ट्र की सम्पत्ति बनाने के बारे में रूस के उदार पूँजीवादियों के गिरोह और किसानों के समूह के रुख में जो फर्क है वह अच्छी तरह समझ में आ जाता है। उदार जमींदार, वकील, बड़े कारखानेदार और व्यापारी—ये सभी—जमीन को काफी हथिया चुके हैं। इसलिए उन्हें श्रमजीवियों के हमले का डर ख़ामखाह है। इसीलिए उन्हें स्टालिपिन और केडेट पार्टी का रास्ता ही अवश्य पसन्द है। देखिये न, सोने की कैसी नदी जमींदारों, सरकारी हुक्कामों, वकीलों और व्यापारियों की ओर बह रही है और 'किसान बैंक' करोड़ों की तादाद में यह सोना भयभीत जमींदारों में बाँट रहे हैं। केडेट पार्टी के तरीके के अनुसार जमीन का मुआवजा देने में यह सोने की नदी किसी कदर दूसरी दिशा में बहने लगती और शायद यह सोने की बाढ़ कुछ कम़ होती। फिर भी करोड़ों से कम तों होती नहीं और यह सब कुछ उन्हीं लोगों को मिलता।

"अगर क्रान्तिकारी ढंग से जमीन की पुरानी मिल्यिकत (जमींदारी) मिटा दी जाती तो सरकारी हुक्कामों और कानूनदां लोगों को तो एक पैसा भी नहीं मिलता। सौदागरों की तो प्रधान रूप से यह हालत है कि वे इतने दूरंदेश हई नहीं कि तत्काल जमींदारों से कुछ-न-कुछ नोचने की अपेक्षा आगे चलकर पास-पड़ोस के किसानों की खरीद-फरोख्त की ताकत की ज्यादा कद्र करें। रूस की पुरानी प्रणाली के चलते जो किसान मौत के मुख में बलात् ठूँसा जा रहा है सिर्फ उसी की यह ताकत है कि जमीन की मिल्कियत को बिलकुल ही नये ढंग (क्रान्तिकारी) से स्थापित करने की कोशिश करे।"



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लेनिन के इस लम्बे विवरण पर ज्यादा टीका-टिप्पणी करने की गुंजाइश हई नहीं। यह इतना साफ और विस्तृत है कि सभी लोग आसानी से समझ सकते हैं। लेकिन उसके लिखने का जो विलक्षण तरीका है उससे कुछ लोग गड़बड़ी में पड़ सकते हैं। यही कारण है कि दो-एक जरूरी बातें बता दी जायँ।

बीसवीं सदी के आरम्भ में जारशाही के प्रधानमन्त्री स्टालिपिन ने एक ऐसा कानून बनाया था जिसके चलते गाँवों की जमीनों की जो सम्मिलित सम्पत्ति किसानों को प्राप्त थी वह मिट जाय। जहाँ पहले कोई भी किसान अपने हिस्से की जमीन गाँव की पंचायत से अलग कर नहीं सकता था, तहाँ स्टालिपिन ने किसानों को ऐसा हक दे दिया कि यदि वे चाहें तो बँटवारा कर लें। इसका एकमात्र उद्देश्य यही था कि देहातों में भी सम्पत्तिजीवी (पूँजीवादी) या बूर्ज्वा वर्ग पैदा हो जाय। कुलक लोगों की वृद्धि का श्रीगणेश उसी से हुआ। यह भी हुआ कि किसानों ने अपनी जमीनें तो पंचायत से अलग कर लीं। मगर हल-बैल वगैरह पास में न होने के कारण, या जमीन बहुत ही अल्प होने की वजह से कुलकों के हाथ उनने बेच दी।

एक बात यह भी हुई कि किसानों को जब अपनी जगह जमीन न मिली तो वे साइबेरिया भेजे गये और सरकार ने उनके लिए रुपये कर्ज दिये, कि उन्हीं से जमीनें आबाद करके सूद सहित उन्हें वापस करें और जमीनों की कीमत भी दें। यह बात धीरे-धीरे किस्तों में होगी यही नियम बना था। उसी के लिए 'किसान बैंक' खोले गये थे। इससे जमींदारों की रद्दी और बेकार जमीनों के भी रुपये उन्हें मिले। किसान लोग उन्हीं 'किसान बैंकों' को किस्त-किस्त करके रुपये देते थे। और बैंक जमींदारों को देते थे। इस मामले में लिखा-पढ़ी आदि के सिलसिले में वकीलों और सरकारी अफसरों को भी काफी रुपये मिलते थे। सौदागर लोग जमींदारों के यहाँ माल देकर उनसे कीमत पाते थे। अगर जमींदारों को जमीन की कीमत नहीं मिलती तो सौदागरों, वकीलों आदि को क्या खाक मिलता? इसी बात की ओर लेनिन का इशारा है। केडेट पार्टी के लोग भी जमीनों की कीमत जमींदारों को देने के पक्षपाती जरूर थे। मगर जो जमीनें किसानों को लगान पर पहले से दी गयी थीं, या जिनके बदले उन्हें जमींदारों के खेतों में काम करना पड़ता था उनकी कीमत वे देने के पक्षपाती न थे। इसी प्रकार जिन जमीनों की खेती में किसानों के ही हल-बैल आदि को जमींदार काम में लाते थे उनकी भी कीमत उनसे ली जाय यह उनका कहना था। इसी से लेनिन कहता है कि उनके रास्ते से शायद कुछ कम पैसे जमींदार आदि को मिलते। यही थोड़ा-सा अन्तर स्टालिपिन और केडेट पार्टी की नीति में था। केडेट पार्टी का ही दूसरा नाम कान्स्टिट्यूशनल डेमोक्रेटिक पार्टी था। यह थी तो बड़े-बड़े जमींदारों और मालदारों की साम्राज्यवादी पार्टी। मगर परिस्थितिवश ऐसा कहने को मजबूर थी। क्योंकि किसानों को शान्त करने का दूसरा उपाय था ही नहीं। इससे कम पर वे बगावत करने से कभी न रुकते।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लेनिन के उद्धरण के अन्त में सौदागरों की बात कही गयी है। जिसका मतलब कपड़े आदि तैयार करनेवाले और बेचनेवाले कारखानेदारों से ही है। ये लोग सोचते थे कि जमीन की कीमत जमींदारों को जरूर दी जाय। तभी तो अपना माल उन्हें देकर उनसे हम पैसे लेंगे और मुनाफा कमायेंगे। अगर जमींदारों को मुआवजा नहीं मिला तो वे भिखमंगे हो जायँगे। फिर हमारा माल कैसे खरीदेंगे? मगर उनकी यह मनोवृत्ति दूरंदेशी से दूर थी। क्योंकि कीमत देने पर किसान दरिद्र के दरिद्र रह जायँगे और कुछ माल खरीद न सकेंगे। विपरीत इसके उन्हें यदि कीमत न देनी हो और जमीन मुफ्त ही मिले तो करोड़ों-करोड़ किसान सुखी होकर खूब माल खरीदेंगे। इस प्रकार सौदागरों के माल का बाजार घर में ही, देश में ही या पड़ोस में ही खुल जायगा। नहीं तो उन्हें दूर देश भेजना और परेशान होना पड़ेगा। पूँजीवाद के निर्विघ्न प्रसार के लिए मुफ्त जमीनों की प्राप्ति का जिक्र जो हमने पहले किया है, लेनिन का इशारा उसी ओर है और यह बात साफ है।

लेनिन ने जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात कही है वह है पूँजीवादियों (बूर्ज्वा) के बारे में। वह कहता है कि जब पूँजीवाद का बहुत ज्यादा विकास हो जाता है तो पूँजीपति प्रतिगामी और दकियानूस हो जाता है, क्रान्ति विरोधी बन जाता है और किसी भी क्रान्तिकारी काम के करने की उसे हिम्मत होती नहीं। वह हमेशा डरता रहता है कि कहीं यही देख के सर्वहारा-वर्ग उभड़ न पड़े और अपनी क्रान्ति कर डाले--साम्यवादी क्रान्ति की आग जला दे। वह हमेशा साम्यवादी क्रान्ति का भूत देखता रहता है। उसे खतरा बना रहता है कि किसी क्षण में भूखे-नंगे और संगठित श्रमजीवी अपनी क्रान्ति का सफल झण्डा बुलन्द कर दे सकते हैं।

सबसे मार्के की बात तो उसने यह कही है कि पूँजीवादी प्रणाली की खूब तरक्की हो जाने पर न सिर्फ उन पूँजीवादी देशों में, जहाँ यह तरक्की हो चुकी है, किन्तु पिछड़े देशों में भी पूँजीवादी दकियानूसी बन जाते हैं। यद्यपि पिछड़े देशों में पूँजीवाद के लिए काफी गुंजाइश होती है और आमतौर से यही खयाल किया जाता है कि वहाँ के पूँजीवादी जमींदारी को क्रान्तिकारी ढंग से ही मिटा देंगे। क्योंकि उन्हें सोशलिज्म का खतरा नहीं रहता। अभी तो कल-कारखाने हजारों की तादाद में खोले जाकर उनमें बेकार लोगों को काम दिया जाने के साथ किसानों के द्वारा पैदा किये गये कच्चे माल का भी काफी दाम दिया जा सकता है और इस प्रकार मुल्क की सम्पत्ति खूब ही बढ़ायी जा सकती है। फिर भी लेनिन ऐसा नहीं मानता है। वह तो रूस में इन सभी बातों की सम्भावना के होते हुए भी यह बात साफ ही कहता है कि वहाँ के पूँजीवादी लोग दकियानूस और क्रान्ति विरोधी बन गये हैं। जिन ऊँचे तबकों से ऐसी आशा थी कि मध्यम वर्ग के नाते कहिये या सम्पत्तिजीवी (बूर्ज्वा) होने के नाते, क्रान्तिकारी मार्गों को पसन्द करेंगे और अगर प्रोत्साहन किसी कारण न भी दें तो कम-से-कम उनका विरोध तो नहीं ही करेंगे, वही लोग दकियानूस बन



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गये, क्रान्ति विरोधी (प्रतिगामी) बन गयें हैं। वह तो कहता है कि प्रगतिशील कहे जाने वाले मध्यवर्गीयों या सम्पत्तिजीवियों में केवल किसान ही बच रहा है जो क्रान्तिकारी ढंग से जमींदारी मिटाना चाहता है। जहाँ और लोग मुआवजा देकर जमींदारी खरीदना और मिटाना चाहते हैं तहाँ वह बेमुरव्वती से छीन लेना चाहता है। इसका कारण यह है कि वह दाने-दाने को मर रहा है, परेशान है, तबाह है और उसके पास दूसरा चारा है ही नहीं। ऐसे दकियानूस लोग किसानों और मजदूरों से मिल के लड़ेंगे ऐसा खयाल जो आज भी करते हैं और भारत में पूँजीवादियों के साथ संयुक्त मोर्चे का राग अलापते हैं उनकी आँखें लेनिन के इस कथन से खुलनी चाहिए। भारत की दशा उस समय के रूस जैसी ही तो है। जरा ही मरा फर्क होगा।

लेनिन के कथन से यह भी साफ है कि किसान की गणना बूर्ज्वा वर्ग में ही है और वह परिस्थितिवश से ही क्रान्तिकारी बनता है, न कि सर्वहारा-वर्ग की तरह जन्म से ही, स्वभाव से ही। इसीलिए तो क्रान्ति का नेतृत्व सर्वहारा ही कर सकते हैं, न कि किसान ! यही मार्क्स का मत है, सिद्धान्त है।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# सर्वहारा का एकतन्त्र और गणतन्त्र

यद्यपि सर्वहारा के एकतन्त्र शासन का बहुत ही ज्यादा जिक्र पहले आ चुका है, सो भी कई बार। तथापि उस पर खासतौर से विचार किये बिना काम चल नहीं सकता और न क्रान्ति के निरूपण का काम ही पूरा हो सकता है। गणतन्त्र, जनतन्त्र या लोकमतमूलक शासन (democracy) और प्रजातन्त्र शासन (Republic) का नाम जो लोग जानते एवं इनका वर्णन पढ़ चुके हैं, साथ ही एकतन्त्र शासन (dectatorship) की भी बातें जानते हैं, वे इस एकतन्त्र के नाम पर काफी नाक-भौं सिकोड़ते हैं। उन्हें इसे सुनकर ही झल्लाहट होती है। क्योंकि इसे वे बहुत ही बुरी चीज मानते हैं। वे लोग कुछ इस तरह सोचते हैं। एकतन्त्र को ही यदि नादिरशाही या स्वेच्छाचारिता कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। जो लोग समस्त जनता को सुखी सम्पन्न देखना और समान बनाना चाहते हैं, जो समाजवाद और साम्यवाद की दुहाई देते हैं वही जब प्रजातन्त्र और जनतन्त्र की जगह एकतन्त्र का केवल नाम ही नहीं लेते, बल्कि राग अलापते और इसे अनिवार्यरूपेण आवश्यक मानते हैं, तो आश्चर्य होता है और घबराहट भी होती है। साम्यवाद या समाज और एकतन्त्र शासन ये दोनों परस्पर विरोधी चीजें हैं। इन दोनों का मेल वे लोग कैसे करते हैं यह आश्चर्य की बात है। इसीलिए इंगलैंड के प्रसिद्ध विज्ञ श्रीमती और श्रीमान सिडनी वेब ने आश्चर्य के साथ अपने ग्रन्थ 'सोवियट कम्युनिज्म' में लिखा है कि—

''जैसा कि अँगरेजी में अर्थ करने से पता चलता है कि प्रोल्तारियन डिक्टेटरशिप का मतलब है सर्वहारा के द्वारा समस्त समाज पर एकतन्त्र शासन। लेकिन यदि शब्दों का अक्षरशः अर्थ लिया जाय तो यह ऐसे दो शब्दों का संयोग है जो परस्पर विरोधी हैं। एक आदमी की मर्जी के मुताबिक हुकूमत और एक बहुत बड़े वर्ग के लोगों की राय से शासन—ये दोनों—एक नहीं हो सकते। साथ ही, अगर सर्वहारा का अर्थ है वह अपार जनसमूह जो अपनी दैनिक जीविका के लिए दूसरों के मातहत है, जैसा कि मार्क्स ने बार-बार कहा है कि सर्वहारा मजदूरों का वह समूह है जो मजदूरी के लिए कल-कारखानों में काम करता है, तब तो सर्वहारा के एकतन्त्र का मतलब ग्रेट ब्रिटेन जैसे देशों में, जहाँ पूँजीवाद के अत्यन्त विकसित होने के कारण काम करने



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लायक मनुष्यों का तीन-चौथाई मजदूरी पर ही काम करता है, इससे अधिक नहीं होता है कि जनसंख्या के बहुत बड़े बहुमत का शासन। लेकिन तब इसे एकतन्त्र शासन क्यों कहा जाय?"

असल में जो लोग इस एकतन्त्र के भीतरी और वास्तविक अर्थ को समझने लगते हैं उन्हें इस तरह की शंकाएँ तब तक होती रहती हैं जब तक सारी बातें उनके सामने साफ-साफ आ नहीं जाती हैं। हमने तो पहले ही लेनिन के 'विदेश के पत्रों' के एक अंश को उद्धृत करके बताया है कि पूँजीवादी युग में जो पार्लिमेण्ट और कौंसिल, असेम्बली आदि के द्वारा शासन होता है वह और कुछ नहीं है सिवाय मुट्ठी भर मालदारों के शासन के, जो अपार जनसमूह के ऊपर उसके नाम से होता है। उसमें वोट देने, उम्मीदवार बनने और अपने पक्ष के प्रचार वगैरह में इतने बन्धन हैं कि गरीब कमानेवाले तो इस बात की स्वप्न में भी आशा नहीं कर सकते कि वे पार्लिमेण्ट आदि के मेम्बर चुने जायँगे। और अगर संयोग से दो एक कभी चुने गये भी, तो शासन चलाने के लिए जिस बहुमत की आवश्यकता होती है वह तो उन्हें हर्गिज हासिल होई नहीं सकता। इंगलैंड के मजदूर-दल वाले बड़ी-बड़ी डींगें हाँकते हैं। गो कि उनका शासन जब-जब हुआ है तब-तब उनने भारत की बेड़ियों को और भी कस दिया है। बंगाल का सार्वजनिक रक्षा आईन (Public Safety Act) और सन् 1930 वाले सत्याग्रह का घोरतम दमन इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं कि मजदूर दल ने पूँजीवादियों की भी नाक काट ली। मगर क्या उस दल को भी बहुमत मिला था? पार्लिमेण्ट में नरमदली लोगों से गँठजोड़ करके ही वे लोग शासनारूढ़ हुए थे।

इसीलिए लेनिन ने स्पष्ट ही कहा है कि पूँजीवादी बहुमत शासन या जनतन्त्र का सीधा अर्थ यही है कि कुछ साल के बाद शोषितों से कहा जाता है कि शोषकों में से ही किसी एक को चुन के अपनी छाती पर बिठा दो। ताकि तुम्हारे नाम पर ही तुम्हारा शासन और शोषण करें। मगर सर्वहारा के शासन या एकतन्त्र का अर्थ इसके उलटा यह होता है, जैसा कि श्री सिडनी वेब ने लिखा है कि शोषित अपने में से ही अपना शासक अपनी पसन्द के अनुसार चुनें। यही बात श्री जौन स्ट्रेची ने अपनी पुस्तक 'समाजवाद—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक' के 150 पृष्ठ में लिखा है—

"हमने देखा है कि पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली ने मजबूरन दो वर्ग या गिरोह पैदा कर दिये हैं, जिनके बीच समाज बँटा है। एक दल है पूँजीवादियों का, जिनकी आय सिर्फ इसीलिए होती है कि उत्पादन के साधनों पर उन्हीं का प्रभुत्व है। दूसरा दल है श्रमिकों का जो काम करके ही पैसा पाता है। और जब तक ये दोनों क्लास (वर्ग) हैं तब तक एक का शासन दूसरे पर होईगा।"

पहले जो हमने वर्ग संघर्ष के सिलसिले में विस्तार के साथ बताया है कि सरकार तो हमेशा ही एक वर्ग की होती है; वह सभी वर्गों की तो हर्गिज हो नहीं सकती, वही मतलब ऊपर के वचनों का है। पहले ही की तरह ये वचन सिद्ध कर देते हैं



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कि पूँजीवादी प्रणाली में चन्द पूँजीवादियों का ही शासन कमानेवाली अपार जनता के ऊपर उन्हीं के शोषण के लिए होता है। इस शासन-व्यवस्था को लोकमतमूलक शासन या जनतन्त्र या गणतन्त्र कहना सरासर धोखा है। मगर जिस प्रकार पूँजीवादी जनतन्त्र मुट्ठी भर पूँजीपतियों के ही लिए जनतन्त्र होता है और शेष जनता पर तो वस्तुतः उनका एकतन्त्र शासन ही होता है। ठीक उसी प्रकार सर्वहारा के एकतन्त्र में कमानेवाले असंख्य शोषितों के लिए जनतन्त्र तथा मुट्ठी भर मालदारों के लिए एकतन्त्र शासन होता है। अन्तर यही होता है कि जहाँ पूँजीवादी वर्ग अपने एकतन्त्र को साफ स्वीकार नहीं करता, तहाँ श्रमजीवी वर्ग इसे खुले आम कबूल करता है। यह बात भी है कि पूँजीवादी लोग हजार जाल और धोखाधड़ी से अपना एकतन्त्र कायम करते तथा उसे चलाते हैं। मगर सर्वहारा यह बात खुल के कहते और करते हैं। पूँजीवादियों की तरह नकली आँसू नहीं बहाते और न लोकमत का ढोंग ही रचते हैं। वह तो साफ कह देते हैं कि हमें तो पूँजीवादियों पर एकतन्त्र कायम करके उन्हें जड़-मूल से मिटाना है—पूँजीवाद को, न कि पूँजीवादी आदमियों को खत्म करना है। यही बात स्ट्रेची यों लिखता है—

"कम्युनिस्ट लोग यह दावा नहीं करते कि उनकी शासन-व्यवस्था पूर्ण जनतन्त्र है, क्योंकि वे जानते हैं कि उनकी शासन-प्रणाली में जनतन्त्र के विपरीत दमनकारी और ठीक इसी मानी में जनता के बहुत बड़े बहुमत का शेष अल्पमत पूँजीवादियों के ऊपर एकतन्त्र अधिकार भी अर्थ सिद्ध है। और कम्युनिस्ट तो राजनीतिक प्रचारक होने की अपेक्षा राजनीति-विज्ञान के प्रचारक कहीं ज्यादा हैं। इसीलिए वे अपनी इस प्रणाली का ऐसा नाम रखते हैं जो उसकी असलियत को ठीक-ठीक बता दे—अर्थात् एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर एकतन्त्र शासन। क्योंकि वे तो बार-बार दुहराते हैं कि जब तक दोनों वर्गों की हस्ती मिट न जाय और दोनों मिल के एक वर्ग विहीन (समान) समाज बन नहीं जाय, तब तक सच्ची जनतन्त्र शासन-प्रणाली जिसमें एक-एक करके सभी शामिल हों और एकतन्त्र या निरंकुशता का लेश भी न हो, स्थापित होई नहीं सकती।"

पूँजीवादी और सर्वहारा वाली प्रणाली को अत्यन्त संक्षेप में स्ट्रेची ने यों लिखा है कि—

"मौजूदा पूँजीवादी लोकतन्त्र और नये तरह के श्रमजीवी वर्ग के लोकतन्त्र, जिसे रूस के दृष्टान्त से सोवियट लोकतन्त्र भी कहते हैं, में यही फर्क है कि पहले में तो श्रमिकों को केवल यही अधिकार दिया गया है कि अपने ऊपर शासन करने के लिए पूँजीवादियों के द्वारा नामजद लोगों में किसी एक को पसन्द कर लें। लेकिन दूसरा तो श्रमिकों को इस योग्य बना देता है कि वे अपना शासन खुद कर लें। जिस लोकतन्त्र को श्रमजीवी वर्ग ने पूँजीवाद को मिटाने की अपनी लड़ाई चलाने तथा समाजवाद की स्थापना के लिए तैयार किया है उसकी रूपरेखा इसी प्रकार की है।"



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऊपर के कथनों में दो महत्त्वपूर्ण बातें आ जाती हैं। एक तो यह कि सर्वहारा क्रान्ति के फलस्वरूप पूँजीवादी लोग हार और दब जायँ भले ही। मगर पूँजीवाद बना रहता है और भीतर ही भीतर वह इस बात की तैयारी में रहता है कि मौका पाते ही सर्वहारा को दबा के फिर शासन हथिया ले। पूँजीपतियों की चल सम्पत्ति, रुपये, पैसे, दिमाग, चालबाजी, संगठन-चातुरी, अनुभव, शासन के कील-काँटे की जानकारी और बाहर भीतर (देश-विदेश) के सभी तरह के लोगों के साथ का उनका गहरा सम्बन्ध तो कायम रहता ही है। वह तो फौरन मिट जाता नहीं। आम जनता पर जो उनका पुराना जादू होता है वह भी मिट जाता है नहीं। फलतः मौका पा के उभड़ जाते और काम बना लेते हैं। हाल की जो स्पेन की घटना है वह इसका ताजा नमूना है। पेरिस में जो 1789 से लेकर 1871 तक बार-बार मजदूरों के हाथ में शासन आकर भी टिक न सका उसका भी यही रहस्य है। इसीलिए पूँजीवादियों का सारा षड्यन्त्र और पूँजीवाद की जड़ खोदने के लिए जिस घोर पशुबल और निर्दय दमन की अनिवार्य आवश्यकता है वह सर्वहारा के एकतन्त्र के बिना होई नहीं सकता है। यदि उस समय लोगों की राय ली जाय तो सारा गुड़-गोबर ही हो जाय। जरा भी आगा-पीछा करने और दया दिखाने से काम नहीं चलता। वहाँ तड़ाक-फड़ाक बेरहमी से काम करने की जरूरत होती है। न्यायालय, पंचायत और कानून की बात उठाने में भी हर्ज होता है। आम जनता का स्वभाव ही कुछ ऐसा होता है कि एकाएक दयार्द्र हो के कह बैठती है कि "जाने दीजिये, जाने दीजिये, अब बेचारे कुछ न करेंगे"। लेनिन ने 1905 वाली काला सागर के रूसी जहाजी बेड़े के नाविकों की बगावत की विफलता के सिलसिले में कहा है कि–

"1905 का इतिहास तो कुछ उल्टा ही बताता है। कुछेक को छोड़ फौज के सभी अफसर उस समय या तो पूँजीवादी उदार सुधारक थे, या खुल्लम खुल्ला प्रतिगामी। उस समय फौजी वर्दी पहननेवाले किसान और मजदूर ही तो क्रान्ति की जान थे। उस समय की क्रान्तियाँ जनता का आन्दोलन बन गयी थीं। रूस के इतिहास में यह पहला ही मौका था कि बगावत का आन्दोलन शोषितों के बहुमत के भीतर घुस गया। लेकिन एक ओर तो जनता में साबित कदमी और दृढ़ता नहीं थी। लोगों में विश्वास कर लेने की बीमारी काफी फैली थी। दूसरी ओर आन्दोलन में क्रान्तिकारी सोशल-डेमोक्रेटिक पार्टी के मजदूरों के संगठन का अभाव था। नहीं तो वही लोग आन्दोलन के अगुवा बन जाते, क्रान्तिकारी फौज के आगे-आगे चलते और सरकारी अधिकारियों पर ही धावा बोल देते।

"हम प्रसंगवश कहे देते हैं कि यह दोनों ही कमी धीरे-धीरे निश्चय ही दूर होंगी और यह बात होगी न सिर्फ आमतौर से पूँजीवाद की प्रगति से, बल्कि वर्तमान युद्ध के करते भी। हर हालत में, 1871 वाले पेरिस कम्यून के इतिहास की ही तरह रूस की इस क्रान्ति का इतिहास भी यह बात पक्का-पक्की बताता है कि किसी



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भी दशा में फौजी शासन तब तक हराया और मिटाया नहीं जा सकता जब तक राष्ट्रीय सेना का एक अंश सफलता के साथ दूसरे अंश के साथ की गयी लड़ाई में विजयी न हो जाय। फौजी शासन को केवल भला-बुरा कहना, कोसना या उसकी आज्ञा न मानना ही या उसकी समालोचना करना और उसे हानिकारक बताना ही इस बात के लिए काफी नहीं है। चुपचाप फौजी अफसरों की आज्ञा को मानने से शान्ति के साथ इनकार कर देना नादानी है। असली काम तो यह है कि श्रमजीवियों की क्रान्तिकारी भावना और चेतना को ज्यादे से ज्यादा उभाड़ रखा जाय तथा उन्हें फौज की मामूली तालीम ही न दी जा कर, उन्हें खास-खास बातों की शिक्षा भी दी जाय। ताकि जब सार्वजनिक आन्दोलन खूब तेज हो जाय तो क्रान्तिकारी सेना के अगुवा वही लोग बन सकें।''

इससे थोड़ा ही पूर्व उसने कहा है कि जब ता. 24-11-05 को काले सागर के फौजी बेड़े के फौजी जहाज प्रिन्स पोतमकिन में बगावत हो गयी तो बागी सिपाहियों ने पीछे चल के ऐसा किया कि ''बिलकुल सिधाई के साथ बड़ी नादानी से गिरफ्तार किये गये अफसरों को रिहा कर दिया। उन अफसरों के वादों और रोने-धोने मात्र से ही बागी सिपाही ठण्डे पड़ गये और सन्तुष्ट हो गये। इस तरह अफसरों को वक्त मिल गया और उनने सहायक सेना बुला ली। फिर तो बागियों को उनने कुचल दिया और अत्यन्त भयंकर दमन बगावत को दबाने तथा बागियों को फाँसी चढ़ाने के रूप में शुरू कर दिया।''

लेनिन के इस कथन से साफ हो जाता है कि अहिंसा के साथ काम-धाम इनकार कर देने और असहयोग कर देने मात्र से ही काम नहीं चलता। किन्तु विरोधियों पर जरा भी विश्वास न करके तथा उन पर रत्ती भर भी दया न दर्शा के निर्दयता से उन्हें कुचलना पड़ता है। सेना के एक भाग का नेतृत्व करके दूसरे को हराना और पीछे जब कभी पूँजीवादी या उनके साथी सर उठायें तो उन्हें मसल देना जरूरी होता है। जनता में जो दया और चटपट विश्वास कर लेने की आदत है उससे सजग होकर बेरहमी और बेलिहाज से शत्रुओं का घोर दमन अनिवार्य होता है। सर्वहारा के एकतन्त्र का यही रहस्य है, यही मतलब है। वह कोई स्वेच्छाचारी व्यक्ति या गुट का शासन नहीं होता। उसकी निरंकुशता तथा एकतन्त्रता विरोधियों के निर्दय दमन तक ही सीमित होती है, सिर्फ उसी काम के लिए होती है।

स्ट्रेची के कथन में दूसरी बात यह है कि यद्यपि ऊपर से चिकना-चुपड़ा और निर्दोष बनने के लिए, इस तरह के प्रचार के खयाल से पूँजीवादियों की ही तरह श्रमिक भी अपनी सरकार को लोकतन्त्र या जनतन्त्र कह सकते हैं और इसमें कुछ भी बोलने का हक किसी को नहीं है। तथापि वे तो केवल प्रचार नहीं चाहते। सबसे पहले तो वे लोग हर चीज को राजनीतिक विज्ञान और सिद्धान्त की कसौटी पर कसते हैं। बाद में ही अमल या प्रचार करते हैं। जो चीज उस विज्ञान और सिद्धान्त



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के अनुकूल न हो उसका प्रचार वे हर्गिज कर नहीं सकते। क्योंकि आगे चलकर उससे धोखा होने की गुंजाइश रहती है। और यदि वैज्ञानिक दृष्टि से वह चीज सही साबित हुई तो उसे स्वीकार करने और साफ-साफ घोषित करने में वे जरा भी हिचकते नहीं। चाहे देखने में वह चीज कुछ लोगों को भद्दी और अप्रिय भले ही लगे। यही बात सर्वहारा के एकतन्त्र शासन के सम्बन्ध में भी लागू है।

बहुत से ऐसे भी दल श्रमजीवियों के हैं, उनकी अनेक ऐसी पार्टियाँ हैं जो साम्यवाद और क्रान्ति का दावा करती हैं जरूर। मगर उसी के साथ लोकतन्त्र, जनतन्त्र, या जनमतमूलक शासन की भी रट लगाती रहती हैं। उनका हमेशा यही कहना है कि हमें तो हर बात में लोगों की राय और मनोवृत्ति को, भावना को, देख के ही चलना है। हम इस बात से एक इंच भी हट नहीं सकते। इसीलिए सर्वहारा के एकतन्त्र का मखौल भी उन पार्टियों के नेता उड़ाते हैं और इसे बेकार एवं हानिकारक मानते हैं। जैसा कि सिडनी वेब का उल्लेख पहले किया जा चुका है, उसी तरह उनका भी कहना है क़ि साम्यवाद और समाजवाद के सिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल यह सर्वहारा का एकतन्त्र है। वह लोग इसीलिए शुद्ध जनतन्त्र का ही नाम लेकर अपना काम चलाते हैं। उनकी राय में धनी-गरीब, शोषक-शोषित सभी की राय से शुद्ध जनतन्त्र (Pure democracy) कायम करना ही ठीक है।

लेनिन ने इस शुद्ध जनतन्त्र तथा इसके माननेवालों का उपहास किया है और स्ट्रेची ने भी वही बात प्रकारान्तर से कही है। उसका कहना है कि जब तक आम लोगों के दिल में यह बात भर नहीं दी जाती कि पूँजीवाद को जड़-मूल से उखाड़ने के लिए निरंकुश शासन की ही जरूरत है, दूसरे ढंग से काम चल नहीं सकता, तब तक यह काम होने का नहीं। क्योंकि जब लोगों के दिमाग में यह बात भरी रहेगी और इसे अनिवार्य मानते रहेंगे तो पूँजीवादियों के निर्दय दमन को देख के उबल न पड़ेंगे। लेकिन यदि उनके दिमाग में हर बात में लोकमत की ही जरूरत की बात भरी होगी, तो उस दमन को देखते ही उनमें जोश और उभाड़ आ जाना स्वाभाविक है। क्योंकि लेनिन ने तो कहा ही है कि शोषकों की दीनता, उनके वादे, उनके रोने-धोने और शपथ कसम पर चटपट जनता को विश्वास हो जाता है। और वह दयार्द्र हो उन पर रहम करने को तैयार हो जाती है। ऐसी दशा में उस निर्दय दमन को देख के वह बिगड़ जायगी और सर्वहारा के शासन को ही अन्यायमूलक समझ के उखाड़ फेंकेगी। जनता को तो दिमाग होता नहीं। केवल भावना होती है। इसीलिए तो भावुकतावश उबल पड़ती है। मगर यदि एकतन्त्र की भावना उसमें प्रबल बना दी जाय तो यह खतरा नहीं होता। यही है इसकी वैज्ञानिक दृष्टि और इसीलिए श्रमजीवी वर्ग इस बात की घोषणा और प्रचार करता है। ताकि समय पाकर जनता के दिल में यह बात बैठ जाय। अमेरिका में जो हब्शी लोगों को जिन्दा जलाने की घटनाएँ होती हैं वह जनता के दिमाग के फलस्वरूप थोड़े ही होती हैं। दिमाग तो इस बात



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को घृणित बताता है। किन्तु चिरकाल से उसके दिल में भरी हुई भावुकता के फलस्वरूप आवेश का ही यह फल है।

जो लोग इस एकतन्त्र में शुद्ध निरंकुशता और मनमानी घरजानी की ही बात मानते तथा सोचते हैं वह भूल जाते हैं कि जहाँ तक श्रमजीवियों का ताल्लुक है इसमें ऐसा जनतन्त्र होता है कि कुछ पूछिये मत। किसान सभाओं और ट्रेड यूनियनों को तो शोषित किसानों तथा मजदूरों की ही संस्थाएँ सभी मानते हैं और उन्हीं के आधार पर यह एकतन्त्र शासन कायम होता है। उन संस्थाओं में तो पूरा लोकमत चलता है। सभी किसानों एवं मजदूरों को पूरा अधिकार होता है कि जैसी राय चाहें दें। यह भी याद रहना चाहिए कि जैसा रूस में पाया जाता है, सर्वहारा क्रान्ति की विजय के बाद जब पंचायती (सोवियट) सरकार कायम हो जाती है तो किसानों एवं मजदूरों की संस्थाओं में सभी किसान एवं मजदूर मेम्बर बनते हैं। यह बात निहायत जरूरी होती है। यह बाध्यतामूलक नियम होता है। इसलिए पूँजीवादी देशों की तरह यह बात नहीं होती कि जोई चन्दा दे वही मेम्बर बने, दूसरे नहीं। वहाँ तो सभी को मेम्बर बनना ही पड़ता है। सभी को उन संस्थाओं का महत्त्व पूर्ण रूप से समझा दिया जाता है। वे लोग खाना-पीना छोड़ के भी सभाओं के काम में भाग लेते हैं और वही सभाएँ अपनी पंचायतें (सोवियटें) चुनती हैं, जिनके हाथ में शासन रहता है। इसलिए जहाँ तक शोषितों का ताल्लुक है सोवियट में सोलह आने लोकमत के ही अनुसार शासन होता है। हाँ, पूँजीवादियों को यह अधिकार नहीं होता कि वे किसी के बारे में राय दें या बोल सकें। उनका यह अधिकार छिन जाता है। क्योंकि यदि उन्हें यह अधिकार हो तो अपने धन, प्रभाव, सम्बन्ध और प्रभुत्व के बल से पुनरपि गड़बड़ी पैदा कर दें। रूस में देहात के धनी किसानों (कुलकों) ने इतने पर भी रह-रह के गड़बड़ी पैदा की। और धनियों ने भी ऐसा ही किया। मगर उनके लिए एकतन्त्र शासन होने के कारण वे सफल न हो सके। इसलिए सर्वहारा का एकतन्त्र शोषकों और मालदारों के लिए निरंकुश और शोषितों एवं गरीबों के लिए पूर्ण रूप से लोकतन्त्र शासन है। इसीलिए उनका नाम लोकतन्त्रमूलक सर्वहारा का एकतन्त्र शासन कहते हैं। यही बात स्ट्रेची अपनी पुस्तक के 154 पृष्ठ में यों लिखता है—

"जब ये संस्थाएँ स्वयं सरकार के रूप में परिणत हो गयी हैं तो श्रमिकों के लिए तो ये जनतन्त्र ही हैं। साथ ही, ये (सोवियट या पंचायत) की संस्थाएँ उन्हीं श्रमिकों के ही लिए, उनका जहाँ तक पूँजीपतियों से ताल्लुक है, एकतन्त्र शासन का काम देंगी। जब हम कहते हैं कि पूँजीवाद से पिण्ड छुड़ाने के लिए श्रमिकों के एकतन्त्र शासन की स्थापना आवश्यक है, तो उसका मतलब यही होता है। साम्यवादी आर्थिक व्यवस्था कायम करने के लिए यह आवश्यक है कि श्रमजीवी वर्ग पूँजीवादी वर्ग के साथ ठीक उसी तरह पेश आये जिस तरह आज पूँजीवादी लोग श्रमिकों के साथ पेश आते हैं। मजदूर दल के भीतर तो पूर्ण जनतन्त्र होगा (और उसी के अनुसार



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उनका सारा काम होगा) जिस प्रकार पूँजीवादियों के भीतर आज पूरा लोकतन्त्र कायम है। मगर मजदूरों का एकतन्त्र शासन पूँजीपतियों के ऊपर ठीक उसी प्रकार रहेगा जिस प्रकार पूँजीपतियों का निरंकुश शासन श्रमिकों पर है।"

"मजदूरों के एकतन्त्र शासन का मतलब यही है कि मजदूर लोग आपस में मिल कर ही सबकी राय से कोई निश्चय करेंगे। और उसे अपने आप पर काम में लायेंगे। मगर जब पूँजीवादियों के साथ कुछ भी करना होगा तो बिना उनसे पूछे ही मजदूरों के ही फैसले के अनुसार उनके साथ सलूक होगा।"

यहाँ एकाध बातों को साफ कर देना जरूरी है। कहने के लिए तो पूँजीपति कहते हैं कि सारा काम लोगों की राय से ही होता है। मगर लोगों की राय की कदर वहीं तक की जाती है जहाँ तक पूँजीवादी वर्ग का स्वार्थ बिगड़ता नहीं। अगर उस पर धक्के लगे तो सभी लोकमत हवा में मिला दिया जाता है। जब आयरलैंड का प्रश्न तेज हो गया था और ब्रिटिश पार्लिमेण्ट वहाँ की जनता तथा किसानों के सामने झुकना चाहती थी, आयरलैंड के अल्स्टर के अँगरेज जमींदारों और उनके लीडर सर एडवर्ड कारसन के साथ इंगलैंड के मालदारों और जमींदारों ने खुलेआम बगावत कर दी और सरकार एवं पार्लिमेण्ट को मजबूर किया। यह तो ऐतिहासिक बात है। सरकार की आज्ञा की खुलेआम अवहेलना और फौज या सरकारी कर्मचारियों को अपने साथ मिलाना, मिलाने का कोशिश करना आम बात हो गयी थी, जिससे सरकार को घुटने टेकने पड़े थे। जब इंगलैंड की यह दशा है, जहाँ लोकतन्त्र की सबसे ज्यादा दुहाई दी जाती है, तो दूसरे देशों का क्या कहना? फ्रांस में संयुक्त मोर्चे का जो हाल में सवाल उठा था और उस पर कुछ अमल भी हुआ वह भी तो आखिर सरकारी निश्चय के विरुद्ध पूँजीवादियों (फासिस्टों) की बगावत का ही नतीजा था, जिसे मन्त्रिमण्डल के प्रमुखों ने ही उत्साहित किया था। स्पेन में भी यही बात हुई और बगावत करके ही फ्रांको ने फासिस्टों का शासन कायम किया। जर्मनी में तो वीमार विधान (Weimar constitution) के विरुद्ध कैसरवादियों तथा औरों ने बगावत ही की थी, गोकि वे विफल रहे।

मगर यह तो प्रत्यक्ष बगावत की बात हुई। दूसरे तरीके भी तो होते हैं जिनसे पूँजीवादी शोषक अपना उल्लू सीधा करते और लोकमत को पाँव तले रौंदते हैं। पार्लिमेण्टों या असेम्बलियों में अपर चेम्बर, सीनेट या हाउस ऑफ लार्ड्स होते हैं और उनमें जमींदारों, मालदारों या उनके साथियों का ही बहुमत होता है। यह अगर लोकमत को रौंदना नहीं है तो आखिर है क्या? जब प्रतिनिधिमण्डल, हाउस ऑफ कामन्स, या असेम्बली में भी मालदारों के प्रतिनिधि रहते ही हैं, जब वहाँ प्रतिनिधि भेजने में उन्हें मत देने का, दिलाने का पूरा हक हई, तो फिर खास ढंग से अपर चैम्बर की क्या जरूरत? आम लोगों की राय से चुने प्रतिनिधियों का बहुमत तो वहाँ होता ही नहीं। ऐसे लोग तो वहाँ जाते ही नहीं, जाने पाते ही नहीं। सिर्फ रूस के



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

द्वितीय या अपर चैम्बर में यह बात है कि सभी राष्ट्रों के प्रतिनिधि आम लोगों के ही चुने हुए होते हैं। क्योंकि वहाँ पूँजीवाद नहीं है। वहाँ का द्वितीय चैम्बर विभिन्न राष्ट्रों से सम्बन्ध रखनेवाली बातों पर विशेष रूप से विचार करके ही निर्णय करता है। यह बात लोअर चैम्बर में नहीं हो सकती। क्योंकि छोटे-छोटे राष्ट्रों के प्रतिनिधि वहाँ कम होते हैं और बारीक बातों पर खास दृष्टि देने का मौका सबको नहीं मिलता। इसलिए यह ऊपर चैम्बर वाला दूसरा तरीका है लोकमत को दबाने का ही।

बादशाह या प्रेसिडेण्ट को अधिकार रहता है कि बने-बनाये कानून को रोक दे और उस पर अपनी सम्मति न दे। यह बात दशा विशेष में ही होती है यह सही है। मगर होती तो है और बादशाह या प्रेसिडेण्ट तो मालदार घरानों के ही उन्हीं से सम्बद्ध होते हैं। फलतः यदि और तरह से न हो सका तो उन्हीं के द्वारा मालदार लोग जनमत को जहन्नुम भेज देते हैं—लतिया देते हैं।

राजविद्रोह, बगावत, बद-अमनी आदि के नाम पर ऐसे कानून बने होते हैं, बनाये जाते हैं कि किसानों, मजदूरों या शोषितों की आवाज घोंट दी जाती है। जब वे लोग कोई भारी प्रदर्शन करना चाहते, मीटिंग की तैयारी करते या जुलूस निकालते, तो ख़ामखाह रोक दिये जाते हैं; सो भी उन्हीं कानूनों के नाम पर। मुकदमे चलाना, नजरबन्द कर देना, अखबारों से भारी जमानतें माँगना, जो दी न जा सकें, उन्हें बन्द कर देना, मीटिंग वगैरह में सरकारी आज्ञा लेने का पख लगा देना, खास-खास जगह मीटिंगों की मनाही कर देना, आदि बातें क्या लोकमत को तिलांजलि देने का सबूत नहीं हैं? नहीं तो, फिर शोषितों के ही लिए ये पख क्यों लगे होते हैं?

कानून बनने पर उनके अनुसार अमल करने करानेवाले अफसर और हाकिम तथा झमेला पैदा होने पर कानूनों का अर्थ लगाने वाली अदालतें कैसे चलती हैं? क्या ये न्यायाधीश ज्यादातर अमीर और मालदार घराने के ही नहीं होते? या मालदारों के सम्बन्धी या जी-हुजूर श्रेणी के ही नहीं होते? क्या मालदार लोग सैकड़ों प्रकार से उन पर अपना असर नहीं डालते? क्या अफसरों और हाकिमों पर रुपये-पैसे आदि का जादू तरह-तरह के काम नहीं करता? यदि और नहीं हुआ तो क्या अखबारों के जरिये जो अधिकांश मालदारों के ही हाथ के नीचे होते हैं, न्यायप्रिय हाकिमों और न्यायाधीशों के विरुद्ध झूठे और गन्दे प्रचार करके उन्हें विवश नहीं किया जाता?

सबसे बड़ी बात तो यह है कि अंट-संट प्रचार करके लोगों को धोखे में डालना और ऐन मौके पर कोई झूठी सनसनीदार खबर निकाल के उन्हें अपने अनुकूल बना लेना यह तो मालदारों की आम बात है। गरीबों के पास प्रचार की भरपूर सामग्री है ही कहाँ? प्रेस, कागज, पैसे उनके पास इफरात हैं कहाँ कि उनका जवाब गरीब दे सकें? सिनेमा, थियेटर, नाटक, व्याख्यान, नोटिस, किताबों आदि के जरिये, और आखिर में शोषितों के प्रभावशाली लोगों को तरह-तरह से मिला के मालदार लोग लोकमत अपने अनुकूल बनाई लेते हैं। रुपये के बल से हजारों लेक्चरबाज भेजकर



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लोगों का दिमाग फेर डालते हैं।

और जब यह सभी जाल बेकार होते दीखते हैं तो वे लोग खुल्लम खुल्ला बगावत कर बैठते हैं, जैसा कि फासिस्टवाद और नात्सीवाद का इतिहास साफ बताता है। जब शोषण असह्य हो जाता और श्रमजीवियों में वर्ग चेतना पूरी जग जाती है, तो ये सभी जाल नाकारे साबित होते हैं और किसान-मजदूर किसी की भी एक न सुन के बलपूर्वक अपना काम बनाने पर उतारू हो जाते हैं। उस समय पर्दा फेंक के पूँजीवादी लोग सीधे निरंकुशता पर उतर आते हैं। जहाँ पहले उनकी निरंकुशता और एकतन्त्रता पर्दे में छिपी थी, तहाँ अब काम चलता न देख मजबूरन नग्न रूप धारण कर लेती है।

इन्हीं सब कारणों से मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन तथा उनके अनुयायियों ने साफ ही कहा है कि पूँजीवादी जनतन्त्र प्रच्छन्न निरंकुश शासन है। उन्हें जहाँ तक अपना मतलब गाँठना है तहाँ तक तो निरंकुशता का सवाल हुई नहीं। जहाँ तक लोकमत उनके स्वार्थ के अनुकूल है वहाँ तक लोकतन्त्र शासन ठीक है। मगर ज्यों ही उनके स्वार्थ के साथ शोषितों के स्वार्थ का संघर्ष हुआ कि वही दिखावटी लोकतन्त्र चट-पट एकतन्त्र बन गया। इसीलिए स्ट्रेची कहता है कि पूँजीवादियों का जहाँ तक शोषितों के साथ सलूक है, वह निरंकुश शासन ही है। यह दूसरी बात है कि जरूरत के मुताबिक कभी वह छिपा रहता है और कभी प्रकट। क्योंकि बिना निरंकुश शासन के श्रमजीवियों को हमेशा के लिए दबा रखना असम्भव है।

ठीक यही बात की जाती है जब श्रमजीवियों के हाथ में शासन आ जाता है। वह अपने लिए तो पूर्ण लोकतन्त्र रखते हैं। हर बात का निश्चय भी लोकतन्त्र की रीति से ही करते हैं। अपने (शोषितों के) बारे में उसका प्रयोग भी सोलहों आना उसी ढंग से किया जाता है मगर वही निश्चय जब पूँजीवादियों और शोषकों के विरुद्ध किया जाता है तो उनसे पूछा तक नहीं जाता है। सिर्फ श्रमजीवियों या पीड़ित जनता की ही राय से निश्चय होता है और मालदारों के विरुद्ध उसका प्रयोग हो जाता है। मालदार चूँ भी करने नहीं पाते। यही है सर्वहारा के निरंकुश शासन का मतलब। वे इस बात को छिपाते नहीं, साफ कह देते हैं और हम इसका कारण कह ही चुके हैं। जहाँ शोषकों का स्वार्थ इसी में है कि अपने खूनी पंजे को छिपाये रहें और मौके पर उसका प्रयोग करके काम निकाल लें, तहाँ शोषितों का स्वार्थ यही बताता है कि वे अपना पंजा बाहर साफ-साफ रखें और कह दें। इससे यह भी होता है कि पूँजीवादी लोग दहल जाते और जल्दी शासन उलटने की हिम्मत करते नहीं। मगर यदि अमीर लोग साफ-साफ अपना फौलादी पंजा दिखायें तो उलटा हो और जनता जल्दी ही बागी हो जाय। इसलिए भी वे छिपाते हैं। इन सभी बातों को लेनिन ने बहुत ही सफाई के साथ कहा है। इसलिए उसके वाक्यों को, जो इस पर हर पहलू से प्रकाश डालते हैं, उद्धृत कर देना जरूरी है। वह कहता है—



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी की ताकत और उसके अन्तर्राष्ट्रीय नाते-रिश्ते की घनिष्ठता तो रह ही जाती है, जो सभी पूँजीवादियों को (क्रान्ति की सफलता के बाद भी) एक सूत्र में बाँध देती है।"

"यह बात भी है कि क्रान्ति के बाद भी बहुत दिनों तक शोषकों को बहुत-सी सुविधाएँ जरूर ही हासिल रहती हैं। उनके पास पैसा होता है जो फौरन छीना नहीं जा सकता। वे इधर-उधर ले जाने योग्य सम्पत्ति और अकसर कीमती जवाहरात भी रखते हैं। लोगों में उनके व्यक्तिगत सम्बन्ध होते ही हैं। उन्हें संगठन और शासन सम्बन्धी अनुभव भी होते ही हैं। साथ ही, सरकार की बहुत-सी गोपनीय बातें भी वे जानते ही हैं, जैसे सरकारी लोगों की आदतें, उनके तौर-तरीके, साधन और हो सकनेवाली बातें। उन्हें उत्तम शिक्षा तो मिली ही होती है। प्रमुख कारीगरों, इंजीनियरों आदि के साथ उनकी घनिष्ठता भी तो होती ही है। क्योंकि इंजीनियर आदि भी तो जीवन के कामों और सोचने-विचारने में पूँजीवादियों की ही तरह होते हैं। वे लोग लड़ाई के हुनर में तो बहुत ही पक्के होते हैं और यह बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसी तरह की और भी बातें हैं।"

"लोगों की आदत की ताकत तो रही जाती है। छोटे-छोटे पैमाने पर चीजें पैदा करने की भी ताकत होती है। दुर्भाग्य से ये टटुपुँजिये उत्पादन अभी तक मौजूद हईं, जो खूब फैले हैं और ये हर रोज और हर घण्टे बड़ी शक्ति के साथ बहुत लम्बी तादाद में पूँजीवाद और पूँजीपतियों को पैदा करते रहते हैं। यदि हम वर्गों को मिटाना चाहते हैं तो पूँजीपतियों और जमींदारों को भगाने के अलावे भी हमें बहुत कुछ करना ही होगा। उन्हें भगा तो दिया हमने कम तरद्दुद से ही, अब हमें टटुपुँजिये ढंग के उत्पादन को भी खत्म करना होगा। मगर ऐसे कारबारियों को भगा देना गैरमुमकिन है। उन्हें यों ही दबा देना भी असम्भव है। फिलहाल तो हमें उन्हीं के साथ चाहे जैसे हो निभाना है और इसी बीच में उनकी कायापलट की कोशिश भी करनी है। यह कायापलट का काम तो हम छोड़ नहीं सकते। यह काम हमीं कर सकते भी हैं। टटुपुँजिये उत्पादकों (किसानों आदि) को हमें पुनरपि अक्ल देना होगा। लेकिन इसके लिए हमें संगठन का एक लम्बा, थका देने वाला, मगर खूब सोच-समझ के चालू किया गया, काम हाथ में लेना होगा।"

"सर्वहारा का एकतन्त्र तो पुराने समाज की रूढ़ियों तथा ताकतों के विरुद्ध सख्ती से लड़ी जानेवाली लड़ाई है। यह लड़ाई कभी खूनी और गैर-खूनी, कभी हिंसामय और कभी शान्तिपूर्ण, कभी फौजी और कभी आर्थिक, कभी प्रचार स्वरूप और कभी दमन स्वरूप—दोनों ही तरह की होगी।"

"सर्वहारा का निरंकुश शासन तो ऐसा सरकारी ढाँचा है जिसमें श्रमजीवियों और सम्पत्तिहीनों के लिए एक नये प्रकार की लोकतन्त्र शासन-प्रणाली है। साथ ही, पूँजीवादियों के विरुद्ध एक नये प्रकार की निरंकुशता भी है।"



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"सर्वहारा के एकतन्त्र के समय करोड़ों किसानों तथा टटपुँजिये उत्पादकों, लाखों काम करनेवालों (नौकरों), सरकारी अफसरों, पढ़े-लिखे बाबुओं को फिर से सिखाना-पढ़ाना जरूरी हो जायगा; श्रमजीवी सरकार और मजदूरों की रहनुमाई की मातहती में उन्हें लगाना पड़ेगा और पूँजीवादी आदतों एवं रूढ़ियों से उनका पिण्ड छुड़ाना होगा। उसी प्रकार इस लम्बी कशमकश के दौरान में सर्वहारा के एकतन्त्र की छत्रछाया में ही खुद सर्वहारा लोगों को भी नये सिरे से शिक्षित करना जरूरी हो जायगा। क्योंकि स्वयं श्रमिक लोग भी पल मारते ही अपने पूँजीवादी संस्कारों को मिटा नहीं देते। क्योंकि यह बात तो किसी जादू-मन्तर, देवी-देवता की दया, पथदर्शक वचनों, प्रस्ताव या फरमानों के जरिये हो नहीं जाती। किन्तु पुराने जमे-जमाये पूँजीवादी संस्कारों तथा प्रभावों के खिलाफ कठिन और थकान लानेवाले सामूहिक संघर्षों के करते ही यह बात होती है।"

"लाखों और करोड़ों लोगों के भीतर बद्धमूल आदतों में जो ताकत होती है वह गजब की खतरनाक चीज होती है।"

"सर्वहारा के एकतन्त्र के स्थापित होते ही वर्ग संघर्ष का अन्त नहीं हो जाता। बल्कि नये ढंग से वही पुराना संघर्ष जारी रहता है। सर्वहारा का एकतन्त्र तो श्रमिकों का वह वर्ग-संघर्ष है जो सर्वहारा के विजयी हो जाने और राजनीतिक शक्ति अपने हाथ में लेने के बाद पूँजीवादियों के विरुद्ध किया जाता है। क्योंकि पूँजीवादी हार जाने पर भी निर्मूल हुआ नहीं होता। किन्तु अभी भी कायम रहता, मुकाबिला करने को तैयार मिलता और उसमें इतनी योग्यता रहती है कि अपनी ताकत को खूब मजबूत कर ले।"

"जिस वर्ग ने शासन सूत्र हथियाया है उसने यह जान कर ही ऐसा किया है कि यह शासन सूत्र उसने केवल अपने ही लिए कब्जे में किया है। सर्वहारा के एकतन्त्र के ही भीतर यह मतलब छिपा है। जब हम किसी एक वर्ग के एकतन्त्र शासन की बात करते हैं तो उसके और कोई मानी नहीं हैं सिवाय इसके कि वह वर्ग जानबूझ कर ही वह शक्ति अपने हाथ में लेता है और न तो अपने आप को और न गैरों को ही इस बेवकूफी का शिकार बनाता, जो ऐसे वागाडम्बरों से जाहिर होती है जैसा कि यह तो राष्ट्रीय अधिकार बालिग मताधिकार के आधार पर मिला है और समस्त जनता की इच्छा ने इसे पवित्र किया है।"

लेनिन के इन वचनों से यह जाहिर हो जाता है कि किसानों और मजदूरों के हाथ में ही शासन आ जाने पर और उसका प्रयोग उन्हीं के हितार्थ किये जाने पर भी खुद वही लोग अपने पुराने दकियानूसी संस्कारों और खयालों के करते अनजान में ही उसके विरोधी बन जाते हैं और इस तरह अपने दुश्मनों को, पूँजीपतियों को ही मदद पहुँचाने को तैयार हो जाते हैं। आदतें इतनी मजबूत और खतरनाक होती हैं कि कुछ कहिये मत। वह दूर भी होती हैं बहुत दिनों की कोशिश के बाद। इसीलिए



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मार्क्स ने श्रमिकों से कहा है कि—

"तुम्हें पन्द्रह-बीस या पचास साल तक घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध से गुजरना होगा। यह सिर्फ इसलिए नहीं कि बाहरी हालत बदले। बल्कि अपने आपको भी बदलने के लिए और इस तरह शासनसूत्र चलाने योग्य बनाने के लिए भी यह करना होगा।"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि आदतों की मजबूरी और नादानी से खुद किसान और मजदूर भी जब अपनी जड़ें कमजोर करने लगेंगे तो उस समय उनका एकतन्त्र ही उन्हें बचायेगा। जो लोकतन्त्र उनके लिए कायम होगा वह तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक एक-एक करके वे खुद होशियार और शिक्षित नहीं हो जाते, जब तक अपने पुराने संस्कार और पुरानी आदतें छोड़ नहीं देते, जब तक उनमें इतनी चेतना नहीं आ जाती कि अपना राजनीतिक स्वार्थ बखूबी समझ सकें और जब तक हरेक किसान-मजदूर में वर्ग-चेतना और राजनीति का पूर्ण ज्ञान नहीं हो जाता। और इसके लिए पचासों वर्ष तक लग सकते हैं। हालाँकि रूस में यह बात जल्दी ही हो गयी है। यही कारण है कि इस सन्धि-काल और दरम्यानी मुद्दत में ऐसा मौका आ सकता है कि सर्वहारा का एकतन्त्र ही उन पर आनेवाले खतरों से, जो उन्हीं की नादानी के चलते आ सकते हैं, उनकी हिफाजत करता हुआ उन्हें ठीक रास्ते पर ले चले। इस दृष्टि से वह एकतन्त्र उनके लिए भी लागू किया जा सकता है। यह ठीक है कि लागू होगा भी तो केवल उन्हीं पर जो नासमझी से अपनी भलाई नहीं समझ पाते, न कि सभी किसानों और मजदूरों पर। सारांश यह है कि समाजवाद और साम्यवाद की प्रगति में बाधा डालनेवाली जितनी भी ताकतें होंगी सभी के विरुद्ध एकतन्त्र लागू होगा।

यहाँ एक बात और भी जान लेने की है कि कहीं-कहीं 'सर्वहारा के एकतन्त्र' की जगह 'सर्वहारा और किसानों का एकतन्त्र' ऐसा भी कहा गया है। मगर इसके मतलब में कोई फर्क नहीं होता जब तक सर्वहारा की मैत्री साधारण और गरीब किसानों के साथ नहीं हो जाती तब तक वह एकतन्त्रपूर्ण होई नहीं सकता और न उसे सफलता ही मिल सकती है। इसीलिए दोनों का एकतन्त्र उसे कहते हैं। उसमें नेतृत्व तो किसानों के हाथ में होगा नहीं। वह तो श्रमिकों या सर्वहारा के ही हाथ में होगा। और उनके सब कामों में किसान साथ देंगे। क्योंकि बिना ऐसा हुए शासन की धाक देश के कोने-कोने में जम सकती है नहीं और न साम्यवाद का निर्माण ही हो सकता है। पिछड़े देशों की खेती तो पूँजीवादी ढंग से होती ही नहीं। तो फिर देहातों में सर्वहारा कहाँ मिलेंगे? वहाँ तो किसान ही होंगे। क्योंकि छोटे-छोटे खेतों में खेती वही करते हैं। इसीलिए उनके साथ मैत्री जरूरी हो जाती है। उन्हीं के जवान फौज में भर्ती होते हैं यदि वे मित्र न हों तो सर्वहारा का शासन ही डाँवाडोल हो जाय। हाँ, जो देश पूँजीवाद में बढ़ गये और खेती भी उसी ढंग से करने लगे वहाँ इसकी जरूरत



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

न होगी। क्योंकि वहाँ साधारण या गरीब किसान होंगे ही नहीं। इसीलिए वहाँ 'किसानों और श्रमजीवियों के एकतन्त्र' का प्रश्न ही नहीं उठेगा। यह तो रूस, भारत, चीन आदि जैसे पिछड़े देशों के ही लिए हो सकता है, होता।

इस बात को लेनिन ने बहुत ही सफाई के साथ यों कहा है कि—

"सर्वहारा का एकतन्त्र एक खास ढंग की वर्गों की मैत्री है, जो सभी श्रमजीवियों के अग्रदूत सर्वहारा और उनसे भिन्न अनेक प्रकार के कमानेवाले जनसमूह—जैसे टटुपुँजिये बाबू, स्वतन्त्र कारीगर और दस्तकार, किसान और पढ़े-लिखे लोग—के बीच, या इनके बहुमत के बीच होती है। यह दोस्ती पूँजी के विरुद्ध उसे खत्म करने के ही लिए होती है। इसका लक्ष्य होता है पूँजीवादियों की ताकत को मिटा देना और फिर से पूँजीवाद को स्थापित करने के यत्न को मटियामेट कर देना। यह इसलिए भी होती है कि समाजवाद की स्थापना और उसकी मजबूती हो जाय। यह खास ढंग की दोस्ती विशेष परिस्थिति में ही होती है, जबकि गृह युद्ध चालू रहता है। यह मैत्री ऐसे दो दलों के बीच में होती है, जिनमें एक तो समाजवाद का पक्का समर्थक है और दूसरा है आगा-पीछा करनेवाला उसका साथी। (ऐसा भी हो सकता है कि कुछ साथी लोग तटस्थ रहना चाहें। ऐसी हालत में परस्पर मिल कर लड़ने का जो समझौता हुआ रहता है उसकी जगह तटस्थता कायम रखने का समझौता हो जाता है।) यह दोस्ती ऐसे वर्गों के बीच होती है जो एक-दूसरे से आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सैद्धान्तिक—इन सभी—बातों में भिन्न होते हैं।"

"जब तक दूसरे देशों में क्रान्ति नहीं हो जाती तब तक रूसी क्रान्ति को कोई चीज बचा नहीं सकती, सिवाय उस समझौते के जो सर्वहारा का किसानों के साथ हो जाता है।"

"सर्वहारा के एकतन्त्र का पहला सिद्धान्त यही है कि सर्वहारा और किसानों के बीच मैत्री सुरक्षित हो जाय। ताकि सरकारी शासन शक्ति को अपने हाथ में सर्वहारा-वर्ग रख सके।"

"अगर लैटिन भाषा की वैज्ञानिक, ऐतिहासिक और दार्शनिक परिस्थिति से अपनी सीधी-सादी भाषा में 'सर्वहारा के एकतन्त्र' का अनुवाद कर दिया जाय तो उसका अर्थ यही होता है कि शहरों या आमतौर से कल-कारखानों में काम करनेवालों का वर्ग समस्त श्रमजीवी लोगों का नेतृत्व करने योग्य है। ताकि पूँजीवाद का जुआ फेंका जा सके, विजय को कायम और मजबूत बनाया जाय, नयी सामाजिक व्यवस्था बनायी जाय और सदा के लिए मानव-समाज से वर्ग-विभेद मिटा दिया जाय।"

इसी बात को स्तालिन ने अपनी 'अक्टूबर रेवोल्यूशन' सम्बन्धी पुस्तिका में यों लिखा है—

"सर्वहारा का एकतन्त्र सिर्फ सरकारी कारबार चलाने के लिए अनुभवी लड़नेवालों के द्वारा चालाकी से चुने गये लोगों का एक गुट मात्र नहीं है, जो बुद्धिमानी



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से जनता के सभी आवश्यक दलों की सहायता पर निर्भर हो। यह तो श्रमजीवी किसानों के साथ सर्वहारा की वर्ग मैत्री है। यह इसलिए की गयी है कि पूँजीवाद को उखाड़ फेंका जाय और साम्यवाद की अन्तिम विजय प्राप्त की जा सके। इस मैत्री की बुनियाद इस पारस्परिक समझौते पर है कि इसके होते हुए भी हर बात में नेतृत्व सर्वहारा-वर्ग के ही हाथ में रहेगा।''

(स्तालिन के इस कथन से एक तो नेतृत्व का स्पष्टीकरण होई जाता है। मगर इसमें सबसे मार्के की बात यह है कि मजदूरों के साथ जो मैत्री होती है वह सभी किसानों के साथ नहीं, किन्तु अपने हाथ से काम करने वाले और कमानेवाले किसानों के ही साथ। इसका आशय साफ है कि धनी या कुलक किसानों के साथ यह मैत्री नहीं हो सकती। किन्तु साधारण या गरीबों के साथ ही, जो अपने हाथों खेती-गिरस्ती का काम करते हैं–खुद कमाते हैं।)

जो लोग ऐसा कहने की धृष्टता करते हैं कि यह तो कुछ चलते-पुर्जे कलाबाजों की गुटबन्दी है, जो होशियारी से अपने मन के ही लोगों को चुन के इसमें शामिल कर लेते हैं, जिनसे संघर्ष और दलबन्दी के समय काम निकाला जा सके, राजनीतिक चालबाजी ही इसका असली कारण है; किसानों की मैत्री की बात तो सिर्फ दूरंदेशी से ही होती है, क्योंकि यारों का काम उसके बिना निकल सकता ही नहीं; ऐसों का जवाब भी स्तालिन ने दे दिया है। वह तो कहता है कि इस एकतन्त्र का असली लक्ष्य है पूँजीवाद की जड़ खोदना और साम्यवाद की न सिर्फ स्थापना करना, बल्कि उसे स्थायी बना देना। किसानों की मैत्री के बिना देहातों में साम्यवाद की स्थापना गैरमुमकिन है। सम्मिलित खेती के लिए पहले सहयोगवाली या पंचायती खेती जरूरी है। इसके बाद ही किसान सम्मिलित खेती का महत्त्व समझ उस ओर झुकते हैं। और जब तक किसान सर्वहारा के साथ मैत्री न करें उन्हें इस ओर कैसे लाया जा सकता है? इसी तरह उस काम में बाधा होने पर किसानों की सहायता से ही पूँजीवाद को निर्मूल किया जा सकता है।

अब तक के निरूपण से यह भी साफ हो गया है कि एकतन्त्र शासन में बल प्रयोग, हिंसा या पशुबल (Brute Force) को एक खास स्थान प्राप्त है। पुरानी शासन व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करना ही जब सर्वहारा क्रान्ति का काम है तो फिर उसमें बल प्रयोग तो जरूरी है। लेनिन ने कहा भी है कि शान्तिपूर्वक काम करने से इनकार कर देने से ही काम नहीं चलता। किन्तु खुद क्रान्तिकारी फौज का नेतृत्व करना और उसके लिए खास ढंग की शिक्षा प्राप्त करना जरूरी है। उसने बेमुरव्वती करने का भी आदेश दिया है और 1905 में जो रूसी क्रान्ति विफल हो गयी उसका कारण उसने दया, मुरव्वत और शोषकों पर विश्वास करना ही बताया है। वह और भी कहता है कि केवल बल प्रयोग से ही सफलता नहीं मिलती। उससे भी जरूरी है प्रबल संगठन और जीती-जागती वर्ग चेतना। वह कहता है–



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"सर्वहारा के एकतन्त्र का अर्थ सिर्फ बल प्रयोग नहीं है, यद्यपि बलप्रयोग के बिना वह असम्भव है। बलप्रयोग की ही तरह यह श्रमिकों के ऊँचे दर्जे के संगठन का भी सूचक है, जैसा पहले कभी नहीं हुआ है।"

"यह एकतन्त्र शोषकों के विरुद्ध केवल बलप्रयोग नहीं है और दरअसल बलप्रयोग इसका प्रधान अंश भी नहीं है। यह तो क्रान्तिकारी शक्ति है और इसकी विजय की गारण्टी के रूप में जो चीज इसका मूलाधार है वह है आर्थिक बात और वह इस तरह है कि श्रमजीवियों का सामाजिक संगठन ऐसा ऊँचे दर्जे का हो जाता है जैसा कि पूँजीवादी व्यवस्था को भी मयस्सर न हो सका है। यही तो असली चीज है। साम्यवाद की शक्ति का आधार इसी बात में है और उसकी विजय का विश्वास भी हमें इसी बात से है।"

"कमानेवालों के अग्रदूत और उनके एकमात्र नेता सर्वहारा-वर्ग के सुन्दर संगठन और अनुशासन पालन में ही एकतन्त्र का निचोड़ आ जाता है। इस एकतन्त्र का लक्ष्य है समाजवाद की स्थापना, समाज के वर्ग-विभेद को मिटाना, समाज के सभी आदमियों से काम करवाना और एक आदमी के हाथों दूसरे के शोषण को असम्भव कर देना। एक ही कदम में यह लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता। पूँजीवाद और समाजवाद के बीच एक सन्धिकाल जरूर होगा, जो काफी लम्बा होगा। उत्पादन का नये सिरे से संगठन बहुत कठिन चीज है। जीवन के सभी विभागों में मौलिक परिवर्तन लाने के लिए समय की जरूरत है। साथ ही, रीति-रिवाजों की माया भी बहुत बड़ी है। लोगों को तो टटुपुँजिये बाबुओं तथा पूँजीपतियों की आर्थिक व्यवस्था की आदत हो गयी है और यह बदल सकती है केवल लम्बे और कष्टसाध्य संघर्ष के फलस्वरूप ही। इसीलिए तो मार्क्स ने भी पूँजीवाद और समाजवाद के बीच में सन्धिकाल की बात कही है और यही काल है सर्वहारा के एकतन्त्र शासन का समय।"

हमें यह समझ लेना होगा कि किसानों की दोस्ती पिछड़े देशों में ही जरूरी है। पूँजीवाद की चरम सीमा या काफी उन्नतिवाले देशों में तो वे होते ही नहीं हैं। इसलिए जहाँ पिछड़े देशों में लोकतन्त्रमूलक किसानों और मजदूरों का एकतन्त्र होता है तहाँ समुन्नत देशों में केवल मजदूरों का ही जिसे अँगरेजी में क्रमशः (democratic dictatorship of the workers and peasants तथा democratic dictatorship of the workers or proletariat) कहते हैं। इसी का दूसरा नाम सोवियट या पंचायती शासन है। इन्हीं सोवियटों के बारे में लेनिन ने अपने विदेश से भेजे पत्रों में कहा है कि "वे क्रान्ति को सफल बनाने के सफल साधन और क्रान्तिकारी शासन सूत्र के सूत्रधार हैं।" वह इन सोवियटों या पंचायतों के संगठन के बारे में बहुत जोर देकर उन्हीं विदेश के पत्रों में लिखता है कि—

"इस समय (मार्च क्रान्ति के बाद) हमें संगठन का नारा बुलन्द करना है। मगर केवल संगठन से कुछ ज्यादा काम होने का नहीं। क्योंकि एक तो संगठन हमेशा



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही जरूरी है। इसीलिए 'जनता के संगठन' पर केवल जोर देने से कोई बात साफ नहीं होती। दूसरी बात यह भी है कि जो केवल संगठन से अपना सन्तोष कर लेता है, वह तो सुधारवादियों की ही बात दुहराता है। क्योंकि सुधारक लोग भी अपने अधिकार को दृढ़ करने के लिए और कुछ नहीं चाहते सिवाय इसके कि कानूनी ढंग के संगठनों के आगे बढ़ने से श्रमजीवी लोग इनकार कर दें, जैसा कि पूँजीवादी समाज आमतौर से चाहता है—वे चाहते हैं कि श्रमिक लोग उनकी पार्टी, उनकी ट्रेड यूनियन और उनकी सहयोग समिति आदि के सिर्फ सदस्य बन जायँ।

"श्रमिकों ने अपनी वर्ग भावनाओं के बल से यह जान लिया है कि क्रान्तिकारी समय में उन्हें एक बिलकुल ही नये ढंग के संगठन की जरूरत है, जो आम संगठनों से ऊँचे दर्जे का हो। हमारी 1905 की क्रान्ति और पेरिसवाली 1871 की कम्यून के अनुभव के आधार पर उनने यह ठीक रुख अख्तियार किया है। उनने मजदूरों के प्रतिनिधियों की सोवियट (पंचायत या सभा) बनायी है। अब वे चाहते हैं कि उसे बढ़ावें, विकसित करें और मजबूत बनायें। एतदर्थ उसमें वे फौजी सिपाहियों के प्रतिनिधियों को और खेत-मजदूरों तथा किसी-न-किसी रूप में सभी गरीब किसानों के प्रतिनिधियों को भी बेशक खींच लाना चाहते हैं।

"किसी एक काम या स्थान को भी छोड़े बिना ही रूस के सभी स्थानों के सभी कारोबारों और सर्वहारा के दलों के लिए तथा अर्द्ध-सर्वहारा के लिए भी, सभी जगह उसी प्रकार की संस्थाएँ बनाना, या यों कहिये कि सभी मेहनतकशों और शोषितों (क्योंकि आर्थिक दृष्टि से उतना ठीक न होने पर भी यही शब्द ज्यादा प्रचलित है) की सोवियटें बनाना हमारा सबसे महान् और आवश्यक काम है। मैं इसी जगह यह भी कह देता हूँ कि अपनी पार्टी को सर्वहारा के लिए नये ढंग का संगठन बनाने के लिए क्या करना होगा यह तो मैं पीछे लिखूँगा; लेकिन किसान समुदाय के बारे में खासतौर से जोर देकर पार्टी को कहना चाहिए कि खेत-मजदूरों तथा टटुपुँजिये किसानों की जो अपना गल्ला बेचते नहीं, खास सोवियटें बनायी जायँ और इनका कुछ भी ताल्लुक धनी किसानों के साथ न रहे। नहीं तो मोटी तौर पर सर्वहारा सम्बन्धी नीति के अनुसार काम करना असम्भव हो जायगा। लोगों के जीवन-मरण से सम्बन्ध रखने वाले व्यावहारिक प्रश्नों पर भी ठीक ढंग से विचार करना गैर मुमकिन हो जायगा। ये प्रश्न हैं सबों को बराबर खाना पहुँचाना, उसकी उपज बढ़ाना आदि। अब तो देहातों में टटुपुँजिये तथा मध्यम किसानों के भी कुछ अंश को लेकर संघर्ष पैदा होगा। जमींदार लोग धनी किसानों की मदद से उनको पूँजीपतियों की ओर झुकाना और ले जाना चाहेंगे। हमारा काम है कि खेत-मजदूरों और गरीब किसानों की सहायता से उन्हें सर्वहारा के साथ घनिष्ठ मैत्री के लिए खींच ले जायँ।"

जिन सोवियटों, पंचायतों या सभाओं के संगठन पर लेनिन ने बहुत जोर दिया है वे क्रान्ति की सफलता के लिए कितनी जरूरी हैं और शोषितों के कितने काम



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की चीजें हैं यह तो 1871 वाली पेरिस कम्यून (साम्यवादी सरकार) और 1905 की रूसी सोवियटों के दृष्टान्त से ही स्पष्ट हो जाता है। उसके बाद 1917 की फरवरी और अक्टूबरवाली क्रान्तियों की सफलता में भी उनने जो कमाल किया वह सबों को मालूम ही है। ये सोवियटें ऐसी क्यों थीं इसके बारे में श्रीयुत् पेज आरनाट ने अपनी किताब के द्वितीय भाग के 9वें पृष्ठ में यों लिखा है—

"फरवरी क्रान्ति के बाद का शासन सोवियट के रूप में स्थापित किसानों तथा मजदूरों के क्रान्तिकारी प्रतिनिधिमूलक (लोकतन्त्र मूलक) एकतन्त्र शासन के निकट पहुँचने को मजबूर था। शहरों की ये सोवियटें प्रधानतया मजदूरों की ही होती थीं। कारखानों और फैक्टरियों में जो मजदूरों के स्वाभाविक दल थे उन्हीं के ही अधिकांश प्रतिनिधियों से ये बनती थीं। ये प्रतिनिधि सोवियटों में कुछ ही समय तक रहते (और फिर नये चुने जाते) थे। इसीलिए मजदूरों के समूह के रुख में जो भी परिवर्तन होते थे उन्हें ठीक-ठीक सीधे और जल्दी ही ये सोवियटें जाहिर कर देती थीं। किसान प्रतिनिधियों तथा फौजी सिपाहियों के प्रतिनिधियों की सोवियटें भी इसी तरह बनी थीं। 1905 की क्रान्ति के समय ये सोवियटें मजदूरों की प्रतिनिधि संस्थाओं के रूप में ही खड़ी हुई थीं। जब 1917 में ये पुनरपि बनीं, तो इनमें वही पहले जैसी ताकत और पुराना लचीलापन दीख पड़ा। इनके सभी कामों में परले दर्जे की काम लायक तात्कालिकता थी। यही कारण है कि बड़ी तेजी से बदलनेवाली परिस्थिति में भी ये सोवियटें महान् जनसमूह का ठीक प्रतिनिधित्व कर सकती थीं (क्योंकि परिस्थिति के अनुसार तत्काल नये प्रतिनिधि आ जाते थे)। इसीलिए किसी भी अपरिवर्तनशील और कसी-कसायी संस्था के लिए ऐसा होना असम्भव था।"

मगर खुद लेनिन ने इन सोवियटों का जो सर्वांग वर्णन और इनकी जो उपयोगिता बतायी है वह ऐसी आकर्षक है कि हम उसे यहाँ दिये बिना नहीं रह सकते। अक्टूबर रेवोल्यूशन के पहले सन् 1917 के सितम्बर में वह लिखता है—

"शासन के इस नये ढाँचे का पहला काम है किसानों और मजदूरों की सशस्त्र शक्ति को शासन पर बिठाना। गोकि यह नयी सशस्त्र शक्ति वैसी नहीं है जैसी कि पुरानी स्थायी सेना थी, जो जनता से जुदी चीज थी। यह तो जनता से मिली-जुली है। पहले की सेनाओं की अपेक्षा यह सेना फौजी दृष्टि से भी कहीं ज्यादा मजबूत है, जिससे दूसरी ताकत मुकाबिला कर नहीं सकती। इस ढाँचे की दूसरी बात यह है कि यह जनता के साथ, देशवासियों के बहुमत के साथ ऐसा निकट का और अष्ट सम्बन्ध जोड़ देता है तथा आसानी से बदली जाने और काबू में रखी जानेवाली ऐसी घनिष्ठता का श्रीगणेश कर देता है जो आज तक किसी भी शासन यन्त्र के साथ हो नहीं सकी है। तीसरी बात यह है कि यह ढाँचा ऐसा है कि बिना किसी नौकरशाही तरीके की पाबन्दी और रस्म अदाई के जनता की राय से जो भी हो बदला जा सकता है। क्योंकि इसके सभी आदमी चुने हुए होते हैं। इसीलिए अब



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तक जितनी सरकारें दुनिया में हो गयी हैं सबों की अपेक्षा यह कहीं ज्यादा लोकमतमूलक है। चौथी बात यह है कि मुख्तलिफ पेशों और कारोबारों के साथ यह अपनी दृढ़ श्रृंखला जोड़ देता है। इसका फल यह होता है बड़े-से-बड़े महत्त्वपूर्ण सुधार इसमें आसानी से बिना किसी पेचीदा रस्मअदाई और पाबन्दी के किए जा सकते हैं। दलित किसानों और मजदूरों के सर्वाधिक प्रगतिशील, अत्यन्त उत्साही एवं सर्वाधिक-वर्ग चेतनायुक्त भाग यानी उनके अग्रदूत के संगठन को एक निश्चित रूप में ला देना इस ढाँचे का पाँचवाँ काम है। इस तरह इसे एक ऐसे यन्त्र का रूप मिल जाता है जिसके द्वारा और जिसकी मदद से वह शोषितों का अग्रदूत अपने साथ ही इन वर्गों के विराट समूह को ऊपर उठाता, शिक्षित बनाता, अक्ल देता और खींच लाता है—उस विराट समूह को जो अब तक राजनीतिक जीवन के दायरे से बाहर ही रहा है, जो इतिहास की पहुँच से परे रहा है। छठी बात यह है कि इसके चलते इस बात की सम्भावना हो जाती है कि पार्लियामेण्टरी प्रणाली की सुविधा में प्रत्यक्ष और तात्कालिक लोकतन्त्र की सहूलियतों के साथ मिल जायँ। इसका सीधा अर्थ यह होता है कि जनता जिन लोगों को शासन कार्य के लिए चुने उन्हें कानून बनाने और उनके अनुसार काम करने—इन दोनों के अधिकार मिल जायँ—वही कानून बनायें और वही सरकार बन के उसे चलायें। पूँजीवादी पार्लिमेण्टरी जनतन्त्र के मुकाबिले में यह जनतन्त्र कहीं बढ़ा-चढ़ा है और इसका महत्त्व संसार भर के लिए होने के कारण इसकी कीमत बढ़ जाती है—यह वजनदार बन जाता है। यदि क्रान्तिकारी वर्ग की उत्पादक शक्ति के फलस्वरूप इस सोवियट की सृष्टि न हुई रहती तो रूस में सर्वहारा क्रान्ति की सफलता की कोई आशा न थी। क्योंकि उस दशा में सर्वहारा के लिए शासन अपने हाथ में रखना असम्भव हो जाता यदि उसे पुराने शासन के ढाँचे का आश्रय लेना पड़ता। एक ब एक नया ढाँचा खड़ा कर लेने का तो सवाल ही नहीं था।"

सर्वहारा के एकतन्त्र को जो सबसे ऊँचे दर्जे का लोकतन्त्र या प्रतिमूलक शासन कहा गया है उसका स्पष्टीकरण लेनिन के इस लम्बे अवतरण से अच्छी तरह हो जाता है। सोवियट या पंचायत की यही तो खूबी है कि इसमें कायदे-कानून और खर्च की वाहियात पाबन्दी करनी नहीं पड़ती। पेचीदगी तो यहाँ होती ही नहीं। स्थानीय जनता ने जब चाहा अपने एक प्रतिनिधि की जगह दूसरे को चुन दिया, यदि पहले को पसन्द न किया। जो लोग इस प्रकार चुने जाते हैं वही एक तरफ तो जनता के हित के कानून बनाते और दूसरी ओर उन्हीं कानूनों पर खुद ही अमल करते, करवाते हैं। सरकारी अफसर कोई दूसरे तो होते नहीं कि वही अमल करें, करायें। गाँव के किसानों का काम है वह अपने प्रतिनिधि चुनकर गाँव की पंचायत, किसान सभा या सोवियट बना लें। जहाँ किसान और मजदूर दोनों ही हों—जिस गाँव में कोई कारखाना भी हो वहाँ मजदूर-संघ और किसान सभाएँ अलग-अलग अपने प्रतिनिधि पंचायत के लिए चुन दें और सबों की एक पंचायत सोवियट बन जाय।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जहाँ केवल मजदूर या दूसरे श्रमजीवी हों वहाँ उनकी ही यूनियनें अपने-अपने प्रतिनिधियों को चुन के उन्हीं-सी सोवियट बना लेंगी। यही सोवियटें सभी स्थानीय शासन करेंगी, टैक्स लगायेंगी, खर्च करेंगी, लोगों के आराम वगैरह का पूरा प्रबन्ध करेंगी। जिले या अपने से ऊपर की सोवियट के लिए प्रतिनिधि चुनना भी इन्हीं का काम होगा। यदि कोई ऐसी बात हो जो उनके हाथ के बाहर की और उनसे ऊपरवाली किसी पंचायत के हाथ की हो और उसमें स्थानीय लोगों के हिताहित की दृष्टि से कोई सुधार या उज्र इष्ट हो, तो इस बात की सिफारिश भी स्थानीय सोवियटें ऊपरवालियों के पास करेंगी। उनसे ऊपर ऊपरवालियों के साथ उनका भी ऐसा ही व्यवहार होगा और यही बात होते-होते केन्द्रीय पंचायत तक पहुँचेगी जो समस्त देश का शासन करेगी। इस प्रकार साफ ही है कि सोवियट में पूर्ण लोकतन्त्र चलता है।

फौज और पुलिस भी बाहरी नहीं होती। किन्तु अस्त्र-शस्त्र चलाने योग्य समस्त जनता को ही इसकी शिक्षा दी जाती है और उसे अस्त्र-शस्त्र दे दिये जाते हैं। वही शान्ति रक्षा और शत्रुओं से भिड़ने का काम करती है। जो हाकिम या अफसर यानी सरकारी नौकर होते हैं वह भी जनता की राय से ही चुने जाते और वेतन भी उन्हें उतना ही मिलता है जितना किसी कारखाने के मजदूर को। जैसे मजदूर की योग्यता के अनुसार वेतन मिलता है वही हालत उनकी भी होती है। वह भी तो मजदूरी ही करते हैं। फिर हाईकोर्ट के जज को एक कुशल मजदूर से ज्यादा वेतन क्यों मिलने लगा? इस प्रकार समस्त जनता के साथ पंचायती सरकार गुँथ जाती है। सभी लोग शासन के हर काम में निडर होकर अपनी राय देते हैं जो सुनी जाती है और बहुमत से फैसला होता है। इसीलिए वह सरकार लोगों की अपनी—निजी—बन जाती है।

सोवियट की इन तथा इसी प्रकार की अनेक खूबियों को दिखला के लेनिन ने कहा है कि यदि 1905 की क्रान्ति के ही समय रूस में सोवियट बनी न होती और उसी का पुनर्जन्म 1917 में न हुआ रहता तो क्रान्ति को सफलता कभी नहीं मिलती—न तो फरवरीवाली को ही और न अक्टूबरवाली को। और सफलता के बाद सरकार उनके हाथ में टिकी भी नहीं रहती। अक्टूबरवाली में तो एकमात्र सोवियट के चलते ही सफलता मिली। हाँ, मार्च में दूसरी-दूसरी ताकतों ने भी मदद की, जैसा कि लेनिन ने सभी बातों का विश्लेषण अपने विदेशवाले पत्रों में करते हुए विस्तार के साथ यों लिखा है—

"परिस्थिति के चलते यह अनिवार्य था कि साम्राज्यवादी युद्ध पूँजीवादियों के विरुद्ध चलनेवाले सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष को अत्यधिक तेज और प्रभावशाली बना दे और इसे फिर परस्पर विरोधी वर्गों का घरेलू युद्ध का रूप दे दे। यह काम मार्चवाली क्रान्ति ने शुरू कर दिया है। उसकी पहली दौर ने हमें पहले से ही दिखा दिया है कि जारशाही के ऊपर दो ताकतें धावा बोल चुकी हैं—एक ओर तो रूस का समूचा पूँजीवादी और जमींदार वर्ग है जिसका साथ उसके नासमझ अनुयायी और बहुत ही



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

काइयाँ मैनेजर दोनों ही दे रहे हैं। ये मैनेजर हैं इंगलैंड और फ्रांस के रूसी राजदूत और पूँजीपति। दूसरी ओर है सिपाहियों और श्रमिकों के प्रतिनिधियों की सोवियट" (यही दोनों हमला कर चुके हैं)–

"यह तो स्वाभाविक है कि जारशाही रूस में, जहाँ बहुत ज्यादा तखड़-पखड़ हो गयी थी और जहाँ के मजदूर संसार में सबसे ज्यादा क्रान्तिकारी हैं (इसके लिए उनमें कोई खसूसियत नहीं है। किन्तु 1905 की ज्वलन्त स्मृतियों के करते ही ऐसा हो रहा है।) क्रान्तिकारी उथल-पुथल और देशों की अपेक्षा जल्द मच जाय। रूस और उसके दोस्तों की जो कई मार्कें की हारें लड़ाई में हो गयीं, उन्हीं के करते यह उथल-पुथल जल्द हो गयी। इन हारों के फलस्वरूप सरकार का पुराना ढाँचा छिन्न-भिन्न हो गया और पुरानी प्रणाली भी। इनके करते रूसियों के सभी वर्गों में सरकार के प्रति बड़ी नफरत जग उठी और समूची फौज क्रोध से जल उठी। फलतः पुराने सेनापतियों का दल, जो दकियानूस रईसों और खासकर पतित सरकारी कर्मचारियों के खानदानों का था, बिलकुल हटा दिया गया और उनकी जगह वे नौजवान और उत्साही लोग कायम किये गये जो प्रधानतः पूँजीवादियों तथा निम्न-मध्यमवर्गीयों में से थे या जिनने अपने वर्ग का संस्कार मिटा दिया था।

"लेकिन अगर फौजी हार के निषेधात्मक प्रभाव ने उथल-पुथल को जल्द लाने में मदद की तो रूस के अक्टूबरवाले दल (अक्टोबरिस्ट) तथा कान्स्टिट्यूशनल डेमोक्रेटिक दल के पूँजीपतियों के साथ इंगलैंड और फ्रांस के आर्थिक पूँजीवादियों और साम्राज्यवादियों का जो गँठजोड़ा हो गया उसके करते यह तूफान और तेज तथा द्रुतगामी हो गया। मार्च की क्रान्ति का सारा घटना चक्र इस बात का साफ सबूत है कि इंगलैंड और फ्रांस के राजदूत, उनके दलाल और दोस्तों ने, जिनने बहुत पहले से ही जी-जान से कोशिश की थी कि जार निकोलस द्वितीय और विलहेल्म कैसर द्वितीय का परस्पर समझौता तथा सुलह होने न पाये, अब साफ-साफ यह प्रयत्न किया कि रोमानोफवंशीय निकोलस गद्दी से हटा दिया जाय। (1905 के अक्टूबर में जार ने डूमा बनाने की जो घोषणा दूसरी बार की थी उसके समर्थक साम्राज्यवादियों और शाही घराने के समर्थकों का दल अक्टूबरवाला या अक्टोबरिस्ट कहा जाता था। इसका नेता था गचकोफ। केडेट या कान्स्टिट्यूशनल डेमोक्रेट पार्टी रूस के उदार जमींदारों, मध्यमवर्गीयों तथा पढ़े-लिखे पूँजीपतियों की पार्टी थी। इसे पार्टी ऑफ पीपुल्स फ्रीडम या जनता की आजादी की पार्टी भी कहते थे। इसका प्रधान नेता मिल्यूकोफ था। मार्च की क्रान्ति के बाद की तात्कालिक सरकार का अर्थ मन्त्री गचकोफ और वैदेशिक मन्त्री मिल्यूकोफ था)

"मार्च की क्रान्ति को जो इतनी जल्द सफलता मिली और सहसा ऊपर से देखने से जिसके बारे में यह भी धारणा होती है कि यह क्रान्ति मौलिक भी थी, इसका कारण है घटनाओं का ऐतिहासिक मिलन। हालत यों हो गयी कि सोलहों



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आने विभिन्न आन्दोलनों, बिलकुल मुख्तलिफ वर्ग-स्वार्थों और अत्यन्त परस्पर विरोधी राजनीतिक तथा सामाजिक विचारों का आश्चर्यजनक परस्पर अनुकूल सम्मिलन हो गया। एक तो उसमें इंगलैंड और फ्रांस के साम्राज्यवादियों का षड्यन्त्र था, जिनने मिल्यूकोफ और गचकोफ के दलवाले लोगों को उभाड़ा कि वे शासन-सूत्र हथिया लें। ताकि साम्राज्यवादी युद्ध जारी रहे, युद्ध अधिक निर्दयता और जिद के साथ चालू रहे और नये-नये लाखों किसानों तथा मजदूरों का कत्ल जारी रहे। ऐसा करने का उद्देश्य यही था कि रूस के गजकोफ और मिल्यूकोफ वगैरह पूँजीवादियों का कब्जा तुर्की की राजधानी कुस्तुन्तुनियाँ पर, फ्रांसीसी मालदारों का सीरिया (शाम) पर, और अँगरेज पूँजीपतियों का मेसोपोटामियाँ पर अधिकार हो जाय, आदि-आदि। यह बात तो एक ओर थी। दूसरी ओर थी रूस के सभी शहरों तथा गाँवों के गरीबों और पीड़ितों की सामूहिक हलचल और मजदूरों की गहरी उथल-पुथल, और यह थी क्रान्तिकारी ढंग की। इसका लक्ष्य था कि रोटी मिले, शान्ति मिले, आजादी मिले।''

क्रान्ति की सफलता का जो चित्र यहाँ लेनिन ने खींचा है उससे साफ हो जाता है कि अनेक परस्पर विरोधी शक्तियों और स्वार्थों का ऐसा अपूर्व मेल हो गया था कि ताज्जुब होता था। कभी-कभी ऐतिहासिक परिस्थिति ऐसी ही हो जाती है कि परम मित्र ही जानी दुश्मन हो जाते और घोर-शत्रुओं के साथ गठबन्धन करके मिटाने पर ही तुल जाते हैं। जो अँगरेजी और फ्रांसीसी मालदार जारशाही की निरन्तर स्तुति करते थे और रूस के जो जमींदार मालदार जयजयकार मनाते वही लोग जारशाही के शत्रु बन गये और उनने उसके परम शत्रु किसानों तथा मजदूरों से मिल के उसे मिटा ही दिया। क्योंकि जार की स्त्री जारिना थी कैसर की बहन और उसी के प्रभाव में पड़कर जार तुला बैठा था कि कैसर (जर्मनी के बादशाह) से मेल कर लें। यह बात फ्रांसीसी तथा अँगरेजी पूँजीपतियों को असह्य थी। इससे न सिर्फ उनकी नाक कटती थी, बल्कि बर्बादी भी थी। इसीलिए पहले तो सारी ताकत लगा के उनने जार को ऐसा करने से रोका। मगर जब उसका रंग-कुरंग देखा तो रूसी पूँजीपतियों के लीडरों मिल्यूकोफ, गचकोफ आदि को ललकार दिया कि देखते क्या हो, किसानों और मजदूरों से मिल के इसे खत्म करके शासन-सूत्र हथिया लो। हुआ भी यही। हार पर हार होने के कारण फौज भी नाखुश थी ही। इसीलिए पुराने दकियानूस सेनापतियों को अधिकांश हटा के उनकी जगह पर पूँजीवादियों के ही आदमी या कुछ किसान-मजदूरों से सहानुभूति रखनेवाले आ गये थे। बस, फौज भी साथ हो गयी। किसान-मजदूर तो चाहते ही थे और बाधक कोई रही नहीं गया। इसीलिए बात-बात में क्रान्ति सफल हो गयी।

रूस के किसानों और मजदूरों की सम्मिलित क्रान्तिकारी लड़ाई तो पुरानी चीज थी। उसमें फौज भी साथ देती थी ही। 1905 की क्रान्ति का वर्णन करते हुए लेनिन ने अपने ज्यूरिच के व्याख्यान में 1917 की 22 जनवरी को कहा था कि—



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"लेकिन शहरों में मजदूरों की सामूहिक हड़तालों का गाँवों में किसानों की हलचलों से मेल हो जाना ही जारशाही के सबसे मजबूत और आखिरी पाये को हिला देने के लिए काफी था। फौज की ही बात लीजिये। फौज और जहाजी बेड़े में लगातार बगावतें होती रहीं। जब-जब शहरों में नयी हड़तालें और गाँवों में किसानों की हलचलें उस क्रान्ति के समय होती थीं तब-तब ख़ामखाह रूस के हर भाग में हथियारबन्द सिपाही बगावत कर देते थे।"

इस प्रकार सोवियटों के ही जरिये क्रान्ति को सफल बनाकर पुरानी शासन व्यवस्था को मिटाना और नयी शासन-प्रणाली कायम करना जरूरी हो जाता है। यह नयी व्यवस्था सोवियट के हाथ में ही रहती है। इसका संक्षेप रूप पहले कहा जा चुका है। यह सोवियट ही सर्वहारा और किसानों का लोकतन्त्रमूलक एकतन्त्र शासन है। इसके बारे में लेनिन ने अपने विदेशवाले पत्रों में साफ ही लिखा है कि यदि ऐसा शासन न होगा तो हम सबसे हाथ धो बैठेंगे। वह लिखता है—

"यदि सर्वहारा (मजदूर) चाहते हैं कि इस मार्च की क्रान्ति के लाभों को कायम रखें और शान्ति, रोटी तथा आजादी की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ें, तो उन्हें मार्क्स के ही शब्दों में इस मौजूदा शासन-यन्त्र को नेस्तनाबूद करना और उसकी जगह नया बनाना होगा, जिसमें पुलिस, फौज और नौकरशाही (समस्त छोटे-बड़े सरकारी नौकरान) सशस्त्र जनता से जुदा न होंगे। 1871 वाली पेरिस की साम्यवादी सरकार तथा 1905 वाली क्रान्ति के अनुभवों के आधार आगे बढ़ने के लिए मजदूरों को सभी शोषितों और गरीबों को संगठित करके उन्हें सशस्त्र बनाना ही होगा। ताकि वे खुद-ब-खुद सरकारी अधिकार के सभी विभागों को अपने ही हाथों में ले सकें और वे खुद ही ये सभी विभाग बन जायँ।"

"लेकिन हम सभी मजदूरों और कमानेवालों के लिए किस तरह की अपनी फौज चाहिए? हमें तो जनता ही की फौज की जरूरत है। उसकी पहली बात यह होगी कि उसमें मुल्क के सभी स्त्री-पुरुष बालिग निवासी एक-एक करके शामिल होंगे। दूसरे वह जनता की अपनी फौज और पुलिस इन दोनों का ही काम करेगी और उसी का काम होगा कि शासन के ढाँचे के जितने बुनियादी तथा प्रधान विभाग हैं, प्रबन्ध के जितने महकमे हैं उन्हें भी खुद चलायें।"

"जब तक औरतें सामाजिक सेवा, फौज और राजनीतिक जीवन में नहीं खिंचेंगी और जब तक उन्हें कुन्द बनानेवाले घरेलू एवं रसोई के कारबार से अलग नहीं किया जायगा तब तक असली आजादी को हासिल करना और लोकमतमूलक शासन कायम करना मुमकिन नहीं। समाजवाद की तो बात ही जाने दीजिये।"

इस प्रकार जिस शासनयन्त्र के निर्माण का जिक्र यहाँ लेनिन ने किया जिसे सर्वहारा का एकतन्त्र कहने में लोग नाक-भौं सिकोड़ते हैं उसे ही उसने किसानों, मजदूरों और सिपाहियों की सोवियट या पंचायत नाम अपने अप्रैलवाले पाँचवें मन्तव्य



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में यों दिया है—

"पार्लियामेण्टरी प्रजातन्त्र नहीं चाहिए। क्योंकि सोवियट के स्थान पर उसे कायम करना पीछे जाना होगा। किन्तु मजदूरों, खेती में काम करनेवालों (गरीब किसानों) और सिपाहियों की सोवियट (पंचायत) का ही प्रजातन्त्र चाहिए।" (यहाँ किसान का अर्थ है किसानों में ही फौजी सिपाही होते जो हैं।)

"फौज, पुलिस और नौकरशाही को मिटाना होगा।"

"सरकारी काम करनेवाले तो लोगों की राय से ही चुने जायँगे और लोग जभी चाहेंगे उन्हें बर्खास्त कर देंगे। उनका वेतन एक कुशल मजदूर के औसत वेतन से ज्यादा नहीं होना चाहिए।"

इसी प्रकार की शासन-व्यवस्था को लेनिन ने एंगेल्स के ग्रन्थ 'सरकार की बुनियाद' पर टीका-टिप्पणी करते हुए कुछ ऐसा बताया है और उसे लोकमतमूलक प्रजातन्त्र नाम दिया है, जैसा कि लोग कहा करते हैं। मगर उसने चेतावनी भी दी है। वह कहता है—

"पूँजीवादी व्यवस्था के अन्दर मजदूरों के लिए सर्वोत्तम शासन-प्रणाली को लोकमतमूलक प्रजातन्त्र के रूप में स्वीकार करने को हम तैयार हैं। मगर हमें यह बात भूल जाने का कोई हक नहीं कि सर्वोत्कृष्ट पूँजीवादी प्रजातन्त्र में भी लोगों के लिए मजदूरी के वास्ते गुलामी करने के सिवाय दूसरा कोई चारा हई नहीं। एक बात और भी है। हरेक सरकार पीड़ित वर्गों के दमन के लिए खास ढंग की एक दमनकारी ताकत है। इसीलिए कोई भी सरकार न तो स्वतन्त्र हो सकती है और न सभी लोगों की।"

लेनिन के कहने का मतलब यह है कि एक तो लोकमतमूलक प्रजातन्त्र प्रणाली सिर्फ पूँजीवादी शासन के ही भीतर होती है और उस शासन के रहते हुए वही सबसे उत्तम प्रणाली श्रमजीवियों के लिए मानी जा सकती है। मगर पूँजीवादी प्रणाली के हटने पर तो सोवियट ही होगी। भले ही उस समय उसे उसी मानी में प्रजातन्त्र कहिये। दूसरी बात यह है कि सरकार जब कभी होगी तो वह सभी लोगों की होगी नहीं और न स्वतन्त्र होगी। क्योंकि सरकार का काम ही है एक वर्ग का दमन करना। फिर वह वर्ग चाहे किसान-मजदूरों का हो, जैसा कि पूँजीवादी युग में होता है, या पूँजीवादियों का, जैसा कि सोवियट के युग में होता है। हर हालत में कुछ न कुछ लोग सरकार के निर्माण और काम में सम्मति देने से वंचित रही जाते हैं। उन्हें आजादी होती ही नहीं। फलतः सरकार को स्वतन्त्र कहना या सब लोगों की कहना भ्रामक बात है। इससे लोग धोखे में पड़ जाते हैं। इसी बात की चेतावनी लेनिन ने दी है। गुलामों को स्वतन्त्रता कहाँ? और जब वेतन के लिए पूँजीवादियों के अधीन होना पड़ता है तो यह गुलामी नहीं तो और है क्या?

इस प्रकार सर्वहारा का एकतन्त्र या सोवियट शासन आवश्यक और सम्भव



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है यह तो सिद्ध हो गया। उसका मूलाधार संगठन ही बताया गया है, खासकर किसानों के साथ सर्वहारा की गाढ़ी मैत्री अत्यावश्यक मानी गयी है। इस पर बहुतों का कहना है कि यह बात गैरमुमकिन है। किसानों और मजदूरों के स्वार्थ परस्पर विरोधी हैं, इतने विरोधी, कि दोनों का मेल होई नहीं सकता। किसान स्वभावतः चाहता है कि उसकी पैदा की गयी गल्ला वगैरह चीजें काफी महँगी बिकें तो पूरा पैसा मिले। साथ ही मजदूरों के द्वारा कारखानों में बनी कपड़े आदि वस्तुएँ सस्ती मिलें तो कुछ पैसा बचे। नहीं तो सारी की सारी खेती की कमाई खर्च होई जायगी। विपरीत इसके मजदूर चाहते हैं कि कारखाने की बनी चीजें महँगी बिकें तो मालिकों को नफा काफी होगा। फिर तो मजदूरों की तनख्वाह उन्हें बढ़ाना ही पड़ेगा। मगर गल्ले आदि महँगी होने पर ज्यादा मिली तनख्वाह भी खाने-पीने में ही खर्च हो जायगी। इसीलिए किसान की उपज—गेहूँ, चावल आदि—को वे लोग सस्ते दाम में चाहते हैं। इस प्रकार दोनों उत्तर और दक्षिण ध्रुव पर खड़े हैं।

मजदूर तो स्वभावतः क्रान्तिकारी है। वह तो सर्वहारा ठहरा। उसके पास कोई निजी सम्पत्ति होती ही नहीं। विपरीत इसके किसान के पास कुछ-न-कुछ जमीन, झोंपड़ी, पशु आदि सम्पत्ति होती ही है। फलतः वह दकियानूस और पुराणपन्थी होता है। इसीलिए दोनों दो ढंग से सोचते हैं। यह सम्भव नहीं कि एक रास्ते पर आ के दोनों सोच सकें। किसान को जहाँ फिक्र होती है कि उसका छोटा खेत जाने न पाये, बना रहे, तहाँ मजदूर सभी छोटे खेतों को मिटा के बड़ा खेत बनाना और पैदावार बढ़ाना चाहता है। इसीलिए भी दोनों का विरोध जरूरी है।

मजदूरों के हाथ में शासन आने पर दमन के सिवाय टैक्स वगैरह लगाना जरूरी हो जाता है और किसान इससे ख़ामखाह बचना चाहते हैं। उन्हें जितना ही कम करा लो उतना ही अच्छा। मगर मजदूर सरकार या सर्वहारा का एकतन्त्र असम्भव हो जाय यदि कर वसूल न हो। पिछड़े मुल्कों में सरकार की आय का जरिया दूसरा होता ही नहीं सिवाय ऐसे करों के। इसलिए भी चखचुख मचती ही रहती है।

ऐसी हालत में सर्वहारा का एकतन्त्र कायम कैसे होगा? और जब तक सभी या अधिकांश देशों में क्रान्ति न हो जाय, तब तक तो पूँजीवादी देश गुटबन्दी करके सर्वहारा के एकतन्त्र को मिटाने के बाद पूँजीवादी प्रणाली उस देश में भी कायम करना चाहेंगे ही जिस इक्के-दुक्के देश में वह मिट सकी है। यह खसरा तो हमेशा बना रहेगा। जो सोवियट प्रणाली चारों ओर पूँजीवादी राष्ट्रों से घिरी हो वह एक-न-एक दिन खत्म होगी ही। आखिर बकरे की माँ कब तक खैर मनायेगी? इसलिए जब तक सभी या अधिकांश देशों में सर्वहारा क्रान्ति सफल होकर पूँजीवादी प्रणाली न मिटे तब तक साम्यवाद या समाजवाद की स्थापना का विचार, किसी इक्के-दुक्के मुल्क में सर्वहारा क्रान्ति के सफल होने पर भी, नहीं किया जा सकता।

हाँ, जब सर्वत्र या अधिकांश देशों में सर्वहारा क्रान्ति सफल हो जायगी तब



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तो पूँजीवादियों के हमले का खतरा रहेगा ही नहीं। और अगर किसी देश के किसान मजदूर आपस में लड़ें भी, तो उस लड़ाई से फायदा उठानेवाले पूँजीवादी राष्ट्र होंगे कहाँ कि 'दाल-भात में मूसरचन्द' बनेंगे? उस किसान-मजदूर संघर्ष से फायदा कौन उठायेगा? सर्वहारा के शासनवाले अधिकांश या सभी देश तो खुद यह विरोध न चाहेंगे। इसीलिए यह विरोध अपने आप मिट जायगा। फलतः किसी एकाध देश में सर्वहारा क्रान्ति की सफलता होने पर वहाँ समाजवाद की स्थापना की कोशिश बेकार है। उसमें सफलता नहीं मिल सकती। होना तो यह चाहिए कि वहाँ की सोवियट को कायम रखते हुए सारी शक्ति लगा के बाकी मुल्कों में क्रान्ति करने की कोशिश खूब ही की जाय। जब समाजवाद और मजदूरों की क्रान्ति अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु है तो उसे सबसे पहले अन्तर्राष्ट्रीय बनाने की ही कोशिश उचित भी है। उसी से सब झमेले भी तय हो जायँगे। यह सिद्धान्त कुछ लोगों का है।

मगर लेनिन तो बहुमत क्रान्ति का हामी है, यह पहले ही बताया जा चुका है। यदि अल्पमत क्रान्ति का सवाल होता तो अधिकांश देशों में गुप्त षड्यन्त्र आदि के जरिये वह सफल हो सकती थी। मगर बहुमत क्रान्ति में तो देश की अधिकांश जनता को पहले उसके लिए तैयार करना होगा। तभी बाहरी मदद से कुछ हो सकता है। जो मुल्क खुद तैयार नहीं उसे बाहरी मदद क्या मिलेगी और कैसे? उससे होगा भी क्या? ऐसी दशा में सब देशों में क्रान्ति कराने का ठेका लेना बेकार और नादानी है। इसीलिए चीन वगैरह देशों में रूस से ऐसी सहायता नहीं दी गयी कि फौरन क्रान्ति करायी जाय। क्योंकि वहाँ का बहुमत इसके लिए तैयार न था। यह भी निश्चय नहीं कि किसी के चाहने या यत्न से क्रान्ति होई जायगी। वह तो किसी के वश की नहीं। ऐसी दशा में यदि एक मुल्क में सर्वहारा क्रान्ति सफल हो गयी हो तो वहाँ समाजवाद के निर्माण की कोशिश न करके दूसरे देशों में क्रान्ति की कोशिश करते-करते मरना मुनासिब नहीं है। और अगर इसी दरम्यान सभी देश मिल के उस एक देश से भी सर्वहारा का शासन मिटा दें तो क्या हो? वह देश तो मुकाबिला भी नहीं कर सकता। क्योंकि तैयारी तो है नहीं। जब समाजवाद के प्रसार की कोशिश हो तभी तो कल-कारखाने बढ़ें और आधुनिक ढंग के हर्वा-हथियार से सजी फौज तैयार हो। और बिना समाजवाद के यत्न के तो खुद वहाँ के किसान-मजदूर ही ऊब जायँगे। क्योंकि सर्वहारा क्रान्ति से उन्हें कुछ हासिल तो होता नहीं, जब तक समाजवाद का प्रसार न हो। फलतः वे लोग खुद दुश्मन होकर सर्वहारा का शासन मिटा देंगे। इसीलिए सारी दूसरी फिक्रें छोड़ उस एक देश में ही समाजवाद के प्रसार की कोशिश होनी चाहिए।

यह भी नियम लेनिन ने बताया है कि पूँजीवाद की तरक्की सभी देशों में समरूप से नहीं होती। कोई देश इसमें आगे होता है तो कोई पीछे। जहाँ कोयला, लोहा, पेट्रोल, रबर, कच्चे माल वगैरह की आसानी होती है वह देश पूँजीवाद में आगे



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाता है। बाकी पीछे रहते हैं, उसी हिसाब से जिस हिसाब से उन्हें इन चीजों की सुविधाएँ कमबेश रहती हैं। मगर ऐसा भी होता है कि सबसे आगे बढ़ा देश पीछे चला जाता है और पीछे वाले आगे हो जाते हैं। क्योंकि आपस की चढ़ा-बढ़ी से ऊब के कुछ देश गुटबन्दी कर लेते और लड़ाई में उसे तबाह कर देते हैं। जैसे गत युद्ध में जर्मनी की दशा हुई थी। शुरू-शुरू में इंगलैंड सबसे आगे था। मगर अमेरिका उससे भी आगे चला गया और इधर जर्मनी तो सबों से बढ़ गया था। इसीलिए लेनिन ने यह माना है कि जैसे पूँजीवाद के प्रसार में विषमता है और उसमें सभी देश समान रूप से साथ नहीं चलते। ठीक उसी प्रकार समाजवाद का विकास भी विषम रूप से होगा। न कि सभी देशों में एक ही साथ। फलतः वह एक देश में भी हो सकता है। वह तो पूँजीवाद का ठीक विरोधी है। इसलिए वह भी विषम रूप से एके बाद दीगरे धीरे-धीरे सभी देशों में कायम होगा। न कि सभी देशों में एक ही साथ। सन् 1915 ई. के अगस्त में ही लेनिन ने यह बात इस तरह कही थी—

"पूँजीवाद का यह पक्का नियम है कि उसकी राजनीतिक तथा आर्थिक प्रगति असमान होती है—सर्वत्र एक-सी नहीं होती। इसीलिए बहुत सम्भव है कि शुरू-शुरू में थोड़े-से ही पूँजीवादी देशों में या सिर्फ एक में ही समाजवाद की विजय हो। इस प्रकार एक देश में विजयी होने पर सर्वहारा-वर्ग पूँजीवादियों को खत्म करने तथा समाजवादी ढंग से उत्पादन का संगठन कर लेने के बाद बचे-बचाये पूँजीवादी देशों के विरुद्ध खड़ा होगा, उन देशों के पीड़ितों को अपने पक्ष में करके पूँजीवादियों के विरुद्ध बगावत के लिए उन्हें उभाड़ेगा और अगर जरूरत होगी तो शोषक वर्गों तथा उनकी सरकार के विरुद्ध हथियार भी उठायेगा।"

एक देश में समाजवाद के प्रसार और निर्माण को देख के ही दूसरे देशों के शोषितों के दिल में सर्वहारा क्रान्ति के लिए उत्तेजना होगी और उसके लिए जितना वे तैयार होगे उसका शतांश भी सिर्फ लेक्चरों और गुटबन्दियों से न हो सकेंगे। क्योंकि "कह सुनाऊँ या कर दिखाऊँ?" में यह 'कर दिखाऊँ' की बात जो होगी, अमली उपदेश जो होगा। इसलिए "एक पंथ दो काज" हो जायगा। दूसरे देशों में क्रान्ति की तैयारी भी हो गयी और यहाँ समाजवाद का निर्माण भी हो गया। किसानों और मजदूरों में घबराहट और असन्तोष की भी गुंजाइश नहीं रहेगी। क्योंकि समाजवाद के प्रसार से उनके कष्ट दूर होई जायँगे। इसीलिए दूसरे पूँजीवादी देशों के हमले होने पर वे सोवियट की ओर से डट के लड़ेंगे। लड़ाई का सामान भी आधुनिक ढंग से तैयार होई जायगा।

रह गयी किसानों और मजदूरों के स्वार्थ-संघर्ष की बात। सो तो ठीक है। मगर उससे भी बड़ी एक बात है जो दोनों की मैत्री के लिए उन्हें विवश करती है। वे तो यह जानते ही हैं कि पूँजीवादी दोनों के ही शत्रु हैं और मौका पाते ही दोनों की छाती पर चढ़ बैठेंगे। इसका तो करारा अनुभव उन्हें पहले से है ही। क्रान्ति



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के पहले यदि दोनों न मिलते तो पूँजीवादी और जमींदार कभी हारते ही नहीं। उस हार का गुस्सा भी उनके दिल में है यह भी दोनों ही जानते हैं। इसलिए वे ख़ामखाह सोचेंगे कि यदि हम दोनों लड़ेंगे तो फिर दोनों को ही दबा के पूँजीवादी छाती पर चढ़ बैठेंगे। सर्वहारा की सरकार भी उन्हें यह बात समझायेगी। इसलिए दूरंदेशी से काम ले के वे लड़ना छोड़ देंगे और काम चला लेंगे। जब साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ने में परस्पर अत्यन्त विरोधी पूँजीपति और मजदूर या जमींदार और किसान समय पा के मिल सकते हैं, क्योंकि वह दोनों का ही शत्रु है, तो फिर किसान और मजदूर क्यों न मिलेंगे? आखिर उनका विरोध तो स्वाभाविक है नहीं। केवल परिस्थितिवश चन्दरोजा ही है। ज्यों ही समाजवाद का आरम्भ हुआ कि मिट जायगा।

टैक्स के बारे में भी यही बात होगी। मजदूरों की सरकार जानबूझकर ही ऐसा कम टैक्स लगायेगी या नहीं लगायेगी जिससे किसान ऊबें नहीं रंज न हों। और टैक्स भी तो गाँव की ही पंचायत या सोवियट लगा के अधिकांश या सब वहीं खर्च करेगी। फिर झमेला क्यों होगा? जैसे-जैसे समाजवाद का प्रसार होगा तैसे-तैसे सरकार की आय के हजारों दूसरे रास्ते होने के कारण किसानों का टैक्स कम होते-होते एकदम बन्द भी हो सकता है।

क्रान्तिकारी और दकियानूसीपन की बात के बारे में तो पहले ही बहुत कहा जा चुका है। किसानों को धीरे-धीरे मजदूर अपने साथ कर लेते हैं। उनमें जो सबसे नीचे दर्जे के या अत्यन्त गरीब हैं वे तो प्रायः मजदूरों जैसे ही हैं और उन्हीं की संख्या ज्यादे होती है भी। अतः थोड़ी ही कोशिश के बाद वे ठीक हो जाते हैं। बाद में उन्हीं के द्वारा उनसे ऊपरवाले भी धीरे-धीरे साथ हो जाते हैं। इसीलिए पहले उद्धृत एक वाक्य में लेनिन ने कहा है कि एक ओर धनी किसान और जमींदार साधारण और मध्य किसानों को मिलाना चाहेंगे और दूसरी ओर मजदूर तथा अत्यन्त गरीब और दुखिया किसान। इसमें दूसरा ही पक्ष विजयी होता है। जो लोग इसमें शक करते हैं वह मजदूरों की शक्ति नहीं जानते। किसानों को अपनी ओर खींचने की कितनी ताकत मजदूरों में है यह तो 1905 के दृष्टान्तों से ही लेनिन ने सिद्ध कर दिया है। मजदूरों का वर्ग-संघर्ष जितना ही तेज होता है किसान उतने ही उनकी ओर खिंच आते हैं। जो लोग इस सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते वे लेनिनवादी नहीं हो सकते। यह बात भी है कि ऐसा तो वही कहते हैं जो किसानों की क्रान्तिकारी योग्यता में विश्वास नहीं करते। मगर बात ऐसी नहीं है। वे तो क्रान्ति के लिए श्रमिकों का साथ देते ही हैं। इसीलिए स्तालिन ने 'लेनिनवाद की बुनियाद' (Foundation of Leninism) में लिखा है कि—

"इसीलिए लेनिन ने 'सार्वत्रिक क्रान्ति' के समर्थकों का विरोध किया था। इसका यह मतलब नहीं है कि वह क्रान्ति का बराबर जारी रहना नहीं मानता था। इस बात के समर्थन में तो वह कभी पीछे नहीं हटा। किन्तु उसके विरोध का यही



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कारण है कि सार्वत्रिक क्रान्तिवादी किसानों के क्रान्तिकारी महत्त्व को कम कर देते हैं। किसान तो श्रमिकों की संरक्षित, शस्त्रागार और सेना हैं।''

स्तालिन ने अपनी अक्टूबर-क्रान्ति के बारे में लिखी पुस्तिका में सन् 1924 ई. में इस बारे में और साफ लिखा है। वह कहता है–

''अब तक तो आमतौर से यही होता रहा है कि 'सार्वत्रिक क्रान्ति' के सिद्धान्त की केवल एक ही बात की ओर ध्यान दिलाया जाता रहा है और वह बात यह कि किसानों की हलचल में क्रान्तिकारी उथल-पुथल की बहुत ज्यादा गुंजाइश है, इस बात में वह सिद्धान्त विश्वास नहीं करता। मगर अब हमें इसमें एक दूसरी बात भी जोड़नी होगी। वह यह है कि 'सार्वत्रिक क्रान्तिवादियों' को रूसी मजदूरों की शक्ति और योग्यता में भी विश्वास नहीं है।''

यहाँ एक बात साफ कर देना जरूरी है। 'सार्वत्रिक क्रान्ति' के सिद्धान्त में लोगों को भ्रम हो जाता है। असल में क्रान्ति के बारे में दो पक्ष हैं। एक तो लेनिनवादियों का जो यह कहते हैं कि एक देश में भी सर्वहारा क्रान्ति सफल होने पर समाजवाद का निर्माण हो सकता है। हाँ, बाहर से उस पर आक्रमण का खतरा तब तक बना ही रहता है। जब तक सभी या अधिकांश देशों में सर्वहारा क्रान्ति सफल न हो जाय। दूसरा पक्ष है त्रात्स्की और उसके अनुयायियों का। वे कहते हैं कि जब तक अधिकांश या सभी देशों में सर्वहारा क्रान्ति सफल न हो जाय तब तक एक देश में समाजवाद का निर्माण हो नहीं सकता। दूसरे पूँजीवादी देश ऐसा होने न देंगे और वहाँ के सर्वहारा शासन या सोवियट सरकार को मिटा देंगे। इसी दूसरे पक्ष को परमानेंट रेवोल्यूशन या सार्वत्रिक क्रान्ति पक्ष कहा है। असल में इसे ही सार्वत्रिक क्रान्ति का पक्ष कहना चाहिए और परमानेंट रेवोल्यूशन का यही अर्थ मानना उचित भी है क्योंकि इस पक्षवाले सर्वत्र या सब देशों में क्रान्ति होने पर ही समाजवाद का निर्माण सम्भव मानते हैं। क्रान्ति का सदा जारी रहना जब तक कि साम्यवाद स्थापित न हो जाय, यह बात तो पहले पक्षवाले या लेनिनवादी भी मानते हैं। इसलिए उनके पक्ष को ही सतत क्रान्ति का पक्ष कहना उचित है। लेनिन तो एक देश में भी साम्यवाद की स्थापना को सम्भव मानता हुआ कहता है कि पूँजीवादी क्रान्ति के बाद क्रान्ति को जारी रखते हुए सर्वहारा क्रान्ति तक पहुँचना और उसके बाद समाजवाद तथा साम्यवाद का निर्माण करना होगा। यह बात पहले ही कही जा चुकी है। लेनिन ने सन् 1905 ई. में ही लिखा था कि–

''जहाँ तक वर्ग-चेतनायुक्त और संगठित सर्वहारा के वश की बात है हम लोग फौरन ही जनतन्त्र क्रान्ति से समाजवादी क्रान्ति की ओर बढ़ना शुरू कर देंगे। हम तो क्रान्ति को सदा जारी रखने के ही पक्ष में हैं। हम अधूरी बातों से तो तुष्ट हो सकते नहीं।''

''साहसिकता का सहारा लिये बिना ही, अपने वैज्ञानिक विचारों को धोखा



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

न देकर ही और सस्ती लोकप्रियता की कोशिश न करके ही, हम कह सकते हैं और कहते हैं सिर्फ एक बात। वह यह है कि हम अपनी सारी ताकत लगा के संगठित किसानों को इस बात में मदद देंगे कि वे जनतन्त्र क्रान्ति को सफल बनायें (अर्थात् जमीन वगैरह हासिल कर लें)। ताकि हमारी सर्वहारा की पार्टी के लिए यह आसानी हो जाय कि जल्द-से-जल्द एक नये और ऊँचे दर्जे के काम की ओर बढ़ें। वह काम है समाजवादी क्रान्ति।"

यहाँ एक बात और जान लेने की है। लेनिन के जो वचन पहले लिखे गये हैं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि मार्च क्रान्ति में सफलता के लिए काफी सामान थे। इसीलिए उसे सफलता भी मिली। फिर भी वह अप्रैलवाले अपने मन्तव्यों में लिखता है कि सर्वहारा का संगठन और उनकी वर्ग-चेतना इतनी काफी न थी कि वे शासन सूत्र अपने हाथ में ले सकें। इसीलिए मार्च और नवम्बर के बीच आठ मास का सन्धि काल जरूरी हो गया, जिसमें उसने अपनी तैयारी पूरी की। वह दूसरे मन्तव्य में लिखता है कि—

"रूस की वर्तमान स्थिति की विलक्षणता यह है कि क्रान्ति की पहली सीढ़ी या दौर के बाद यह सन्धिकाल है जिसमें, सर्वहारा का संगठन और उनकी वर्ग-चेतना परले दर्जे की न रहने के कारण शासन-सूत्र पूँजीवादियों के हाथ में चला गया है। इसके बाद क्रान्ति की दूसरी दौर आयेगी जिसमें शासन-सूत्र सर्वहारा और गरीब किसानों के हाथों में आयेगा ही।"

मगर इस सन्धिकाल में लेनिन और उसकी पार्टी ने, इस मुस्तैदी तथा दूरंदेशी से काम किया कि सारी हवा ही पलट गयी और वायुमण्डल इतना अनुकूल हो गया कि अक्टूबर (नवम्बर) की क्रान्ति के पहले,— (1) रूस के सबसे ज्यादा क्रियाशील और मुस्तैद सर्वहारा अपनी क्रान्ति के लिए तैयार थे। (2) अधिकांश-गरीब किसान और लड़ाई से ऊबे फौजी जवान साथ देने को तैयार थे। (3) दिन-रात मजदूरों और कमानेवाली जनता में काम करते-करते बोलशेविक पार्टी अत्यन्त अनुभवी तथा सख्त-से-सख्त अनुशासन (Iron discipline) माननेवाली बन चुकी थी जिसे सब बातों की पूरी जानकारी थी। (4) रूस के परेशान पूँजीवादी, किसानों की बगावतों से तबाह जमींदार और सोशल रेवोल्यूशनरी तथा मेनशेविक ये दोनों अवसरवादी दल जो अपने सिद्धान्त का दिवाला साम्राज्यवादी युद्ध के दौरान निकाल चुके थे—इन तीनों ही दुश्मनों को हराना आसान हो गया था। (5) देश इतना बड़ा था और आवा-जाही के साधनों की इतनी कमी थी कि मौका पड़ने पर बोलशेविक पार्टी कहीं भी निर्जन प्रदेश में जाकर बीच-बीच में अपनी तैयारी कर सकती तथा दुश्मनों की पहुँच से बाहर रह सकती थी। इसीलिए तो पीछे के गृह युद्ध में भी उसे विजय मिली। (6) जब क्रान्ति-विरोधियों से लड़ाई और गृह युद्ध हुआ तो उसके लिए काफी खाना वगैरह सभी सामान जुट सकते थे। दिक्कत यही थी कि रूस अकेला ही था।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चारों ओर शत्रु देश ही थे, जहाँ के पूँजीवादी क्रान्ति को निगलने पर तैयार बैठे थे। रूस की आबादी के अधिकांश सर्वहारा लोग न थे। देश पिछड़ा था। यह भी एक दिक्कत थी। क्योंकि अमेरिका, इंगलैंड आदि की तरह सर्वहारा का बहुमत होने पर बहुत आसानी हो जाती। यही बात लेनिन ने क्रान्ति के बाद यों लिखी है—

"साफ और बिलकुल ही खास ढंग की नयी परिस्थिति के चलते रूस में सर्वहारा क्रान्ति सहज हो गयी थी। मगर उसे कायम रखना और उसका काम पूरा करना रूस के लिए, पश्चिमीय यूरोप के दूसरे देशों की अपेक्षा, कहीं ज्यादा कठिन है। 1918 के आरम्भ में यही बात बताने का मौका मुझे मिला था। गत दो साल के अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि उस समय की मेरी बातें सही थीं। रूस में चार खास ढंग की परिस्थितियाँ थीं जिनके करते 1917 में वहाँ विलक्षण स्थिति हो गयी थी। वे ये हैं—(1) यह मुमकिन था कि सोवियट क्रान्ति के साथ ही साम्राज्यवादी युद्ध भी खत्म हो जाय—वह युद्ध जो सर्वहारा तथा किसान दोनों को ही समान रूप से घोर विपदा में डाले हुए था। (2) जो दो जबर्दस्त दल साम्राज्यवादी लुटेरों में बन चुके थे और जो एक-दूसरे का गला रेतने में इतने व्यस्त थे कि इस नये सोवियट रूपी शत्रु की ओर नजर फेरने की उन्हें फुर्सत ही न थी, उनकी इस जिन्दगी और मौतवाली लड़ाई से फायदा उठाने का मौका था। (3) देश का विस्तार बहुत ज्यादा होने तथा सड़क, रेल आदि यातायात के साधनों की बेमरम्मती (तथा कमी) के करते यह सम्भावना थी कि घरेलू युद्ध को देर तक चलाया जा सके। (4) किसानों में पूँजीवादी जनतन्त्र क्रान्ति का आन्दोलन इतना ज्यादा जड़ पकड़ गया था कि सर्वहारा की पार्टी (बोलशेविक पार्टी) किसानों की पार्टी (सोशल रेवोल्यूशनरी पार्टी जिसके अधिकांश मेम्बर बोलशेविकों के घोर विरोधी थे) की क्रान्तिकारी माँगों का समर्थन कर सकती थी और राजनीतिक ताकत हाथ में आते ही उन माँगों को पूरा कर सकती थी। (असल में बोलशेविकों का सिद्धान्त तो यह था नहीं कि किसानों में जमीन बाँटी जाय। वे तो जमीन को राष्ट्र की सम्पत्ति बनाने के पक्षपाती थे। मगर परिस्थिति ऐसी थी कि किसानों में जमीन बाँटने का अपने विरोधियों का सिद्धान्त स्वीकार करके ही उनने किसानों को अपना साथी बना लिया)। आज तो ये खास ढंग की बातें पश्चिमीय यूरोप में पायी नहीं जाती हैं। उन्हें फिर से पैदा करना या उन जैसी ही हालत में लाना टेढ़ी खीर है। और-और कारणों के साथ ही इस कारण से भी पश्चिमीय यूरोप में सचमुच क्रान्ति का श्रीगणेश करना रूस की अपेक्षा कहीं ज्यादा कठिन है।"

यहाँ यह जान लेना चाहिए कि पुराने जमाने में जो किसानों की पार्टी रूस में थी और जिसे सोशल रेवोल्यूशनरी पार्टी कहते थे, वह थी पुराणपन्थी लोगों की ही। जैसा कि पहले कह चुके हैं, जब जमींदारों और पूँजीवादियों की केडेट पार्टी तथा अक्टोबरिस्ट पार्टी भी किसानों को जमीनें यों ही देने के पक्ष में निश्चय करती



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

थी और आश्चर्यजनक बातें इस बारे में कहती थी, तो इस किसान पार्टी का क्या कहना? उसके प्रोग्राम और मन्तव्य तो इस सम्बन्ध में गरमा गरम थे ही। मगर ये सब बातें दरअसल दिखावटी थीं, हाथी का दाँत थीं। डूमा में चुने जाने के खयाल से किसानों के वोट हासिल करने के लिए यह महाजाल था, जिससे किसान उनकी ओर खिंच आये। ये अवसरवादी किसानों को कुछ देना-दिलाना ठीक-ठीक चाहते थे नहीं। इनका गँठजोड़ा था जमींदारों और पूँजीवादियों के साथ। बातों से ही यदि काम बन जाय तो काफी लम्बी बातें करने में हर्ज क्या? इसीलिए तो मार्च-क्रान्ति के बाद जब ये लोग सोवियट में थे तो कुछ न कर सके। इन्हीं के आदमी चरनोफ वगैरह सरकार चलाते थे। चरनोफ तो अक्टूबर क्रान्ति के पहले खुद कृषि-कमिसार या कृषि मन्त्री था। मगर सिर्फ बातें बनाता रहा। मार्क्स ने अठारहवें ब्रूमेयर के 61वें पृष्ठ में जो कुछ फ्रांसीसी जनतन्त्रवादियों के बारे में ऐसे मौके पर ही लिखा है वही हालत रूस के भी टटुपुँजिये जनतन्त्रवादियों की थी। वह लिखता है, "लेकिन टटुपुँजिये बाबुओं और उनके जनतन्त्रवादी प्रतिनिधियों की क्रान्तिकारी बातें (धमकियाँ) शत्रु को डराने के सिवाय और कुछ नहीं होतीं। जब वे ऐसी जगह जा पहुँचते, तब उनने अपनी हालत ऐसी कर दी कि बिना उन बातों के पूरे किये गुजर नहीं, तब आधे मन से कोशिश करते हैं। वे जानबूझ के सफलता का रास्ता नहीं पकड़ते और बहाने ढूँढ़ते रहते हैं।"

हाँ, इनमें जो वामपक्षी या लेफ्ट सोशल रेवोल्यूशनरी थे, वे कुछ करना चाहते थे। मगर दूर तक वे भी जा नहीं सकते। उनकी पार्टी का और खासकर उनका किसानों पर काफी असर था। क्योंकि किसानों में वे तब पहुँचे थे जब न तो बोलशेविक पार्टी थी और न कोई उनमें जाता था। जब बोलशेविक पार्टी बनी भी तो उसका ज्यादा काम मजदूरों में ही था। किसानों तक पहुँचने की फुर्सत उसे कम थी। इसीलिए अक्टूबर क्रान्ति के ऐन मौके पर लेनिन को लेफ्ट सोशल रेवोल्यूशनरियों से सुलह करनी पड़ी। ताकि किसानों को उनके द्वारा अपने साथ ले सकें। बात भी यही हुई। वे लोग पहले तो सोवियट की एक्जीक्यूटिव कमिटी (कार्यकारिणी) में शामिल हुए और पीछे सोवियट कमिसार में एक-दो जगहें भी उनने कबूल कीं। लेकिन वे लोग भी किसानों के अर्थ में धनी किसानों या कुलक लोगों को ही विशेष रूप से मानते थे। क्रान्ति का वह अर्थ उन्हें क्या मालूम जो लेनिन की पार्टी को मालूम था। नतीजा यह हुआ कि लेनिन ने फरमान जारी करके जमींदारों की सारी जमीनें किसानों को दे दी और कह दिया कि वे लोग अपनी स्थानीय सोवियटें बना के उन्हीं के जरिये बिना किसी से पूछे-पाछे सभी जमीनें बलात् हथिया लें। इससे उन लेफ्टों की आँखें कुछ-कुछ खुलीं। मगर जमीन लेने में कहीं-कहीं कुलक लोग भी शामिल थे। इससे पर्दा पड़ा रहा। परन्तु जब बोलशेविक लोग मजबूती से गरीब किसानों का एक ओर संगठन करने लगे और दूसरी ओर गृहयुद्ध के समय कुलक लोगों का गल्ला वगैरह



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

युद्ध के खर्च के लिए जबर्दस्ती लेने लगे तो कुलकों ने विरोध किया और लेफ्ट सोशल रेवोल्यूशनरी लोग उन्हीं का साथ खुल्लम खुल्ला देने लगे। सोवियट सरकार से तो वे पहले ही हट चुके थे। दक्षिण पंथी सोशल रेवोल्यूशनरी तो तब तक गृहयुद्ध में पक्के क्रान्ति विरोधी बन चुके थे। इस प्रकार इस किसान पार्टी का भी पर्दाफाश हो गया।

सवाल यह उठता है कि जो सोवियटें 1905 में काफी क्रान्तिकारी थीं, मास्को में उनने शासन भी कुछ समय तक हथिया लिया था और उसे पूर्ण क्रान्तिकारी ढंग से चलाती भी रहीं। न कि दकियानूसी ढंग से। वही 1917 के मार्च में दकियानूस कैसे बन गयीं? असल में शुरू में तो जो लोग पक्के क्रान्तिकारी और जान पर खेलनेवाले थे वही उनमें आये। बाकी लोग जो दकियानूस और बातें बनानेवाले थे वे तो सोते थे। फलतः उस समय सोवियट का क्रान्तिकारी होना ठीक ही था। क्रान्ति कहाँ तक जायगी और उसका क्या नतीजा होगा यह बात तो लोग समझते भी न थे। इसलिए सभी लोग उन बातों में शरीक थे। मगर 1917 आते-आते बहुतों की आँखें खुली थीं। वे सजग हो गये थे। लड़ाई ने उन्हें जगाया था और आशा भी दी थी। क्रान्ति दूर तक जायगी ऐसा समझकर छोटे-मोटे सम्पत्तिवाले फूँक-फूँक के पाँव देने लगे भी थे। इसी से यह हालत रही। पेज आरनाट ने रूसी क्रान्ति के संक्षिप्त इतिहास के द्वितीय भाग के 11वें पृष्ठ में इस बारे में यों लिखा है—

"यह खींच-तानवाली विशेषता का और सोशल रेवोल्यूशनरियों तथा मेनशेविकों के सोवियट वाले बहुमत का कारण यह था कि जार के गद्दी छोड़ देने के कारण, करोड़ों लोग जो बहुत दिनों से पीड़ित थे और जो राजनीतिक दृष्टि से सो रहे थे, एकाएक जग पड़े थे और उनमें जीवन आ गया था। सभी छोटे-मोटे कारोबारी, छोटे-मोटे सम्पत्तिशाली और किसान अर्थात् सभी निम्न-मध्यम श्रेणीवाले—जाग चुके थे और उनने दुःख निशा के प्रभात का स्वागत किया, यह समझकर कि विपत्ति के बादलों से रहित दिन शुरू हो गया है। आजादी प्राप्त निम्न-मध्यम वर्गीयों की भावनाओं तथा आजादी के बारे में निर्दोष और सीधे विश्वास करनेवाले विचारों की लहर बह चली जिसने रूस को छा लिया। इसी में मजदूरों का अधिकांश भी बह गया। लेकिन अब तक तो ये निम्न-मध्यमवर्गीय लोग पूँजीवादियों के ही आश्रित थे (क्योंकि उनका पथ दर्शक दूसरा था नहीं)। इसलिए विश्वासपूर्वक उन्हीं पूँजीपतियों की मातहती में अपने आपको सौंप देने को ये लोग तैयार थे। मार्च के बाद द्वैध शासन (सोवियट का और पूँजीपतियों का शासन) स्थापित होने पर उसमें जो ऐतिहासिक अभूतपूर्वता और विशेषता थी उसका असली कारण यही है।"

यहाँ यह जान लेने की बात है कि मार्च के बाद एक तो तात्कालिक सरकार बनी थी सिर्फ काम चलाने के लिए। वह पूँजीपतियों के ही हाथ में सोलह आने थी और कानूनी ढंग से वही शासन करती थी। मगर एक दूसरी गैरकानूनी सरकार



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

थी सोवियट के रूप में। इसे कानूनी हक शासन का प्राप्त न था। मगर पहली सरकार इसके विरुद्ध जा नहीं सकती थी। यही है द्वैध शासन का अर्थ। असली ताकत थी सोवियट के हाथों में। मगर उसके नेता थे दकियानूस, जैसा कि कह चुके हैं। इसीलिए उस शक्ति को पूरे तौर से काम में लाते न थे—पूँजीवादियों के सामने झुक जाते थे। काम में लाती थी ताकत को तात्कालिक सरकार। मगर उसमें पूरी ताकत थी नहीं। वह सोवियट के अधीन थी। उसी की बनायी हुई थी। इसीलिए देखने में उसकी छाया-जैसी थी। मगर दरअसल में पूँजीवादी मिल्यूकोफ, गचकोफ आदि की ही प्रधानता थी। इसलिए वह चलती थी, चलना चाहती बार-बार पूँजीवादी ढंग से ही। इसी से दोनों में संघर्ष होता रहता था। क्योंकि जनता तो सोवियट के द्वारा उस पर दबाव डालकर रोकना चाहती थी। फलतः सोवियट के नेता जनता से दबकर सरकार पर दबाव डालते थे। मगर ज्यों ही जनता ठण्डी होती त्यों ही वह फिर पूर्ववत् चलती थी। यही थी उसकी विशेषता और ज्यों-ज्यों सोवियट का नेतृत्व बदलता जाता था और आगे बढ़नेवाला होता जाता था त्यों-त्यों वह सरकार खत्म होती जाती थी। अन्त में खत्म भी इसी तरह हुई जब सोवियट पर लेनिन के दल का प्रभुत्व हो गया। कांग्रेस के मन्त्रिमण्डलों और किसान सभाओं की कुछ झाँकी इसमें आ जाती है।

पेज आरनाट ने उसी स्थान पर सोवियटों के निर्माण का जो ब्योरा उस समय के लिए दिया है वह मजेदार है और उससे यह बात पर पूरा प्रकाश पड़ता है। वह कहता है—

"यह बात भी याद रखने की है कि—(1) मेनशेविक लोगों को देश भक्त होने के कारण उस समय ज्यादा कानूनी हक हासिल थे (क्योंकि देश के नाम पर लड़ाई में मदद देने की बात वह कहते जो थे। फिर उन्हें सरकार क्यों छोड़ती? मगर बोलशेविक तो इसके विरोधी थे। इसीलिए सरकार ने उन्हें दबा दिया था)। इसीलिए बोलशेविकों की अपेक्षा लोगों में उनकी प्रसिद्धि ज्यादा थी। बोलशेविक तो फौज में बलात् भर्ती करके लड़ने को भेजे भी गये थे, जहाँ बहुतेरे मर गये। वे या तो जेलों या साइबेरिया के जंगलों में भी पड़े थे। फिर जनता उन्हें जानती कैसे? (2) देहातों के सीधे-सादे लोग कारखानों में भर्ती हुए थे (क्योंकि चतुर और अनुभवी मजदूर फौज में भेजे गये थे)। उनमें बहुतेरे कुलक भी थे, जिनने फौज में जाने की अपेक्षा अस्त्र-शस्त्र के कारखानों में काम करना ही पसन्द किया था। (3) पेट्रोग्राड की सोवियट में बड़े-बड़े कारखानों से प्रति हजार मजदूर पर एक प्रतिनिधि भेजने का नियम था, जबकि हर एक छोटे कारखाने में एक प्रतिनिधि भेज सकते थे। नतीजा यह हुआ कि यद्यपि 87 फीसदी मजदूर बड़े कारखानों में थे, तथापि सोवियट में उनके कुल सिर्फ 120 मत—120 प्रतिनिधि—थीं। विपरीत इसके शेष 13 फीसदी मजदूर जिन सभी छोटे कारखानों में काम करते थे उनके प्रतिनिधि थे 122। यह बात भी थी कि इन छोटे-छोटे कारखानों में ही निम्न-मध्यमवर्गीयों का असर सबसे ज्यादा था। यह भी याद रहे



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कि किसानों की भी सोवियटें थीं और फौजी वर्दीधारी किसानों (सिपाहियों) की भी, जिनमें क्रान्ति के शुरू के महीनों में निम्न-मध्यमवर्गीयों के ही सिद्धान्तों का जोर था और तब तक लोगों की आँखें खुल न सकी थीं।''

जारशाही ने कारखानों में बोलशेविकों का असर ज्यादा देखकर ऐसे मजदूरों को चुन-चुन के फौज में भेज दिया था और उनकी जगह गाँवों के किसानों को ताजा-ताजा भर्ती किया था। इससे उनमें बोलशेविकों का असर बहुत कम था और मेनशेविकों या सोशल रेवोल्यूशनरियों का ही ज्यादा था। क्योंकि किसानों में वही पहले से पहुँचे थे। मगर इसका एक उलटा असर भी हुआ। फौज में बोलशेविकों का असर बढ़ने लगा और सिपाही बागी होने लगे। इधर शहरों में लड़ाई के चलते उथल-पुथल तो थी ही। कारखानों से सभी पुराने मजदूर तो चले गये थे नहीं। फलतः नये-नये भर्ती हुए किसानों में गर्मी आने लगी और वे बोलशेविकों के असर में जाने लगे। उन्हीं के द्वारा गाँवों में भी वह असर पहुँचने लगा। इन्हीं सब कारणों से अक्टूबर आते न आते सर्वत्र लेनिन की पार्टी का पूरा असर और बहुमत हो गया और अन्त में उसे विजय मिली तथा सोवियट शासन पूर्ण रूप से कायम हो गया। त्रात्स्की ने रूसी क्रान्ति के इतिहास में यह भी लिखा है कि मार्च-क्रान्ति के समय एकाएक सोवियट की कार्यकारिणी ही बनी पीछे सोवियट बनायी गयी। कार्यकारिणी में भी नरमी से काम लिया गया। ठीक चुनाव न हो सका। बाहर से बहुतेरे लोग ले लिये गये इसीलिए वह कमजोर रही। यह बात पीछे अक्टूबर के पूर्व मिटी।

अब एक ही बात रह जाती है। सवाल होता है कि क्या सर्वहारा का एकतन्त्र या सोवियट शासन सदा रहेगा या आगे चलकर खत्म हो जायगा? जब उसका लक्ष्य है वर्ग-विहीन समाज बनाना ही, तो उसमें सफल तो वह होईगा। चाहे देर हो या अबेर हो यह बात होगी ही। और यह भी मानते हैं कि सभी सरकारें किसी एक वर्ग की ही होती हैं। ऐसी हालत में वर्ग विहीन समाज में वर्गों के मिट जाने पर सरकार के लिए गुंजाइश रही नहीं जाती। जब सर्वहारा नाम का कोई वर्ग रहेगा ही नहीं, तो फिर उसकी सरकार कैसी? उसका एकतन्त्र कैसा? यदि कहा जाय कि तब वह भी मिट जायगी, तो सवाल होता है कि कैसे? इस पर हम खुद न कहकर एंगेल्स की जो किताब 'सरकार की उत्पत्ति' (The origin of state) नाम वाली है उसी में जो कुछ कहा है उसे ही यहाँ उद्धृत कर देना उचित समझते हैं। वह लिखता है—

''सर्वहारा लोग शासन-सूत्र को हथियाने के बाद ही उत्पादन के साधनों (जमीन, कल-कारखानों आदि) को सरकार, राष्ट्र या समाज की सम्पत्ति बना डालते हैं। लेकिन ऐसा करके वे अपना सर्वहारा वाला रूप खुद ही मिटा देते हैं (कोई भी सर्वहारा रहने पाता नहीं), सभी वर्ग-विभेदों तथा वर्ग-विरोधों को भी खत्म कर देते हैं और अन्त में खुद सरकार को भी सरकार के रूप में मिटा देते हैं। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न समयों में अपने उत्पादन की बाहरी हालत को कायम रखने और इसीलिए खासतौर



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से शोषित वर्ग को जबर्दस्ती दबा रखने और गुलाम, शर्तबन्द या खेती के गुलाम और वेतन के गुलाम बना रखने के लिए—क्योंकि विभिन्न समयों की उत्पादन-प्रणाली इस बात का निश्चय करती है कि वे किस रूप में दबाकर रखें जायँ—जिस संगठन की जरूरत शोषकवर्ग को होती है अब उस रूप में सरकार रहने नहीं पाती। ऐसा माना जाता है कि समूचे समाज का सम्मिलित प्रतिनिधित्व कानूनी तौर पर सरकार ही करती है (वह समस्त समाज की चुनी हुई कही जाती है)—अर्थात् सरकार समाज का ही एक ठोस रूपान्तर कही जाती है लेकिन यह तो इसीलिए होता है कि अपने समय में वह शोषक वर्ग ही अपने आप को समूचे समाज का सम्मिलित प्रतिनिधि मानता है और सरकार उसी की अपनी होने से वह भी ऐसी ही कही जाती है। दृष्टान्तार्थ, पुराने समय में गुलाम रखनेवाले लोगों की सरकार थी। मध्ययुग में सामन्त सरदारों और रईसों की थी और हमारे समय में पूँजीपतियों की है। लेकिन जब आखिरकार यह सचमुच ही समूचे समाज का असली प्रतिनिधित्व करती है तब इसकी निरर्थकता स्वयं सिद्ध हो जाती है। ज्यों ही ऐसा हो गया कि समाज में कोई भी वर्ग ऐसा रही नहीं गया जिसे दबा रखा जाय, ज्यों ही किसी वर्ग का सबों पर प्रभुत्व और उसी के साथ पुराने समयवाली उत्पादन की अराजकता और गड़बड़ी के चलते होने वाले स्वकीय रक्षार्थ संघर्षों की जरूरत जाती रही और इन्हीं से होने वाली भिड़न्तों और ज्यादतियों का भी खात्मा हो गया, कि दबा रखने योग्य कोई भी चीज रही नहीं गयी। इसीलिए एक खास ढंग की दमनकारी शक्ति या सरकार की कोई जरूरत बचती ही नहीं। समाज की ओर से सभी उत्पादन के साधनों के हथिया लेने का जो पहला काम समाज की ओर से ही करने में सरकार की जरूरत होती है वही उसका, यानी उस सरकार का आखिरी स्वतन्त्र काम सरकार के रूप में समझा जाना चाहिए। इसके बाद तो धीरे-धीरे एके बाद दीगरे समाज के हर विभाग के सामाजिक सम्बन्ध में सरकार का कोई काम रही नहीं जाता (सब काम उसके बिना ही चलते रहते हैं) और वह खुद मुर्दा बन जाती है। जहाँ पहले लोगों पर शासन होता था वहाँ अब उसके बदले चीजों का प्रबन्ध और उत्पादन के तरीकों की हिदायतों की ही जरूरत रहती है (यही बात होती है)। (इस प्रकार देखते हैं कि) सरकार मिटायी नहीं जाती। वह तो खुद-ब-खुद मिट जाती है—विलीन हो जाती है। "जनता की स्वतन्त्र सरकार" से यही मतलब हमें समझना होगा, फिर चाहे ऐसा करने का मौका समय-समय पर आन्दोलन के औचित्य को सिद्ध करने के लिए आये, या यह बताने के लिए कि वैज्ञानिक रूप से आखिरकार यह बात अपूर्ण ही है क्योंकि सरकार स्वतन्त्र होई नहीं सकती—वह एक वर्ग के हाथ में जो होती है। अराजकतावादी जो कहते हैं कि बात-बात में सरकार को मिटा देना चाहिए उसका भी यही मतलब मानना चाहिए।"



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# संयुक्त मोर्चा

हमने जो किसानों के बारे में लिखते हुए लेनिन का वचन दिया था कि पूँजीवाद की पूर्ण प्रगति के युग में पूँजीवादी प्रधानतः—in the main—क्रान्ति-विरोधी हो जाते हैं उसका महत्त्व बहुत कुछ है। उसका स्पष्ट मतलब यही है कि साम्राज्यवादी युग में पूँजीवादियों से क्रान्तिकारी काम करने की आशा नहीं की जा सकती है। वह तो जमींदारी मिटाना नहीं चाहते। यदि यह बात हो भी तो दाम देके जमींदारी ख़रीद लेने के पक्षपाती वे लोग हैं। क्योंकि जमींदारी यदि यों ही छीनकर मिटा दी जाय तो खतरा यह है कि उनके कल-कारखाने भी छीन लिये जायँगे। इस प्रकार यम का रास्ता खुल जायगा यही डर उन्हें बना रहता है।

इसी तरह सर्वहारा के एकतन्त्र के सिलसिले में लेनिन का दूसरा वचन हमने दिया है, जिसमें यह बात कही गयी है कि एक ओर जमींदार और धनी किसान मिल के छोटे-छोटे किसानों को तथा मध्यम किसानों के कुछ अंश को भी अपनी ओर खींचना चाहते हैं। दूसरी ओर मजदूर (सर्वहारा) खेत-मजदूरों तथा गरीब किसानों के साथ मिल के उन्हें अपनी ओर खींचना चाहते हैं। अन्त में जिसका बल ज्यादा होता है उसी की तरफ छोटे किसान तथा मध्यम किसानों का वह भाग खिंच जाता है। रूस में किसानों को जमीन देने के बाद मध्यम किसानों की संख्या बहुत ज्यादा हो जाने के कारण स्तालिन ने उन्हें आखिर अपनी ओर मिलाया और इस प्रकार सम्मिलित खेती के जरिये समाजवाद को वहाँ मजबूत किया है। वहाँ के सभी मध्यम किसान, न कि उनका केवल एक ही भाग, स्तालिन के दल का—सर्वहारा का—साथी बन गया। खेत-मजदूर और गरीब किसान तो पहले से ही साथी थे। नयी आर्थिक-व्यवस्था के बाद धीरे-धीरे बाकियों को उसने अपने साथ कर लिया। देहात का बहुमत बिना उनके आये स्तालिन के पक्ष में हो नहीं सकता था। क्योंकि रूस उस समय मध्यम किसानों का ही देश हो गया था। भूखे, गरीब किसान या खेत मजदूर तो रहने नहीं पाये थे। वे तो जमीन मिलने के पहले ही वहाँ थे और उन्हीं को क्रान्ति के बाद जमीन मिली।

इतना कहने का हमारा कुछ खास मतलब है। इधर सन् 1934 ई. में नात्सीवाद



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और फासिज्म के बहुत ज्यादा जोर पकड़ने पर सभी मुल्कों के पूँजीवादियों में, जो एकतन्त्र को पसन्द नहीं करते और लोकमतमूलक शासन के हामी हैं, मजदूरों, किसानों और निम्न-मध्यमवर्गीयों में आतंक छा गया कि संसार में तानाशाही शासन की ही तूती बोलने लगेगी। इसीलिए सबों ने अपना विरोध तत्काल दबाकर नात्सियों एवं फासिस्टियों के विरुद्ध मिल के लड़ने का फैसला किया, करना शुरू किया। फ्रांस और स्पेन में यह बात कुछ हद तक अमल में भी लायी गयी। जब वे पूँजीवादी मजदूरों वगैरह के साथ मिल के लड़ते थे तो उसके लिए कोई आधार पहले ही तय कर लिया जाता था कि विजय होने पर फलाँ-फलाँ बातें की जायँगी। जिन बातों में सभी की राय मिल जाती उन्हीं पर समझौता होके उन्हीं के अनुसार अमल होने की बात तय हो जाती थी। बाकी बातों में सभी दलों को आजादी थी कि अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार प्रचार और काम करें। इसे ही यूनाइटेड फ्रण्ट या संयुक्त मोर्चा कहने की रिवाज चल पड़ी है। इसमें भी आगे चल के मतभेद हुए हैं कि यह संयुक्त मोर्चा हो तो किनमें हो। कुछ लोग कहते हैं यह तो समान स्वार्थवालों का ही हो सकता है। इसका मतलब यह है कि पूँजीवादियों के साथ मजदूरों का स्वार्थ मिल सकता नहीं। फिर संयुक्त मोर्चा कैसा? वे तो एक-दूसरे के जानी-दुश्मन हैं। फलतः मजदूरों का ही संयुक्त मोर्चा हो सकता है—यानी मजदूरों की जितनी पार्टियाँ हैं उनका संयुक्त मोर्चा इसे ही वे वर्कर्स फ्रण्ट कहते हैं। इसमें किसान भी आ सकते हैं। वे भी शोषित ही तो ठहरे।

दूसरे दल का कहना है कि समान शत्रु के विरुद्ध लड़ने में स्वार्थ का मेल तो होई जाता है। यदि और नहीं, तो उस शत्रु को पछाड़ना ही क्या कम बात है? वह तो दोनों को ही खत्म करना चाहता है। फिर दोनों मिलें क्यों नहीं? एक-एक करके दोनों को ही वह चट कर जायगा—दोनों ही खत्म हो जायँगे। चतुर शत्रु तो यही करता है कि विरोधियों में भेदनीति और फूट से काम लेके उन्हें मिलने नहीं देता। फिर एके बाद दीगरे सबों को मार गिराता है। कुशल लोगों का तो यही काम है कि पहले से ही मिल जायँ। विपत्तियाँ परस्पर विरोधियों को ख़ामखाह एक साथ कर देती हैं। इसके बिना फासिज्म या नात्सीवाद का मुकाबिला किया जा सकता ही नहीं। यह भी सम्भव है कि अनेक छोटी-मोटी स्वार्थ की और बातों में भी एक राय हो जाय, जैसा कि फ्रांस और स्पेन में हुआ था, जहाँ पूँजीवादी, किसान और मजदूर साथ मिल के लड़ते रहे। इसे ही जनता का, लोगों का या जनवादी सुयंक्त मोर्चा या पापुलर फ्रण्ट कहते हैं। इन दोनों के बारे में किताबें लिखी जा चुकी हैं। बड़े-बड़े खण्डन-मण्डन होते हैं।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि पहले इस संयुक्त-मोर्चे की चर्चा नहीं होती थी। खुद स्तालिन ने चीन के बारे में कहते हुए सन् 1927 के अगस्त में ही संयुक्त मोर्चे (United Front) की बात बार-बार कही है। लेनिन के लेखों में भी



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह बात स्पष्ट मिलती है। मेल, समझौता, दोस्ती—आदि की चर्चा पायी जाती है। खुद मार्क्स और एंगेल्स ने 1848 में कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो प्रकाशित करने के बाद जो व्याख्यान कम्युनिस्ट लीग में दिया था उसमें भी यह बात पायी जाती है। यह ठीक है कि इस बात को बार-बार दुहराना और तोते की तरह रटना जितना आजकल पाया जाता है उतना पहले मिलता न था। पहले तो वस्तुस्थिति को समझ तथा परिस्थिति को देख के अलग-अलग या मिलके काम करने की बात लोग कह दिया करते थे। न तो पहले पार्टियों की इतनी भरमार थी और न लीडरी की इतनी बीमारी, कि ग्रामोफोन की तरह ये बातें जपी जायँ। आज तो इसकी अति हो गयी है और बिना पूर्णतः परिस्थिति का अध्ययन किये ही लोग चटपट संयुक्त मोर्चा चिल्लाने लगते हैं। यह तो आज एक तरहं की गुलामी तथा पार्टी के प्रचार की चीज हो गयी है। यदि दूसरों को गाली देना हुआ तो भी इसी की ओट में वह काम आसानी से किया जाता है।

इस संयुक्त मोर्चे की असली बुनियाद तो यह है कि आजादी और क्रान्ति के लिए जो लड़ाई लड़ी जाय उसमें कौन-सी हिकमत की जाय कि लड़नेवालों की ताकत ज्यादा-से-ज्यादा हो जाय, उनके साथी अधिक से अधिक हो जायँ। इसी के साथ यह बात भी हो कि शत्रु अकेला—हो जाय और जो उससे मिलना चाहें वह भी भक्कू बन के हिम्मत ही हार जायँ तभी तो विजय आसानी से और जल्दी हो सकती है। अपने लक्ष्य का पूरा-पूरा खयाल रख के ही यह बात की जाती है। नहीं तो इसका कोई भी मतलब हो सकता नहीं। जब हमारा लक्ष्य ही नहीं रहा, या उसके सिद्ध होने का रास्ता ही साफ न हो सका, तो यह संयुक्त मोर्चा कैसा? तब तो यह दूसरों की गुलामी या पागलपन के सिवाय और कुछ हो सकता नहीं। हमें तो पद-पद पर यह सोचना होगा कि अपनी ताकत को कहाँ लगायें, किन-किन शक्तियों से इसमें मदद लें, किसे अपनी संरक्षित सेना—बनायें और समझें, लड़ाई के समय अपनी फौज को किस अनुकूल स्थान में कैसे खड़ा करें और दुश्मन की चालों से कैसे बचें कि जल्द-से-जल्द विजय प्राप्त हो। जिसे युद्ध विज्ञान में सेना-विन्यास-चातुरी कहते हैं उसी के भीतर यह संयुक्त मोर्चा भी आ जाता है।

इसीलिए संयुक्त मोर्चे की बात उठाने तथा सोचने के पहले हमें अपनी लड़ाई के सभी कदमों, सभी दौरानों, सभी शक्लों और सभी परिस्थितियों पर पूरा-पूरा गौर कर लेना होगा। इसका नेतृत्व कब किसके हाथ में रहेगा यह भी तय कर लेना पड़ेगा। यह सबसे पहली और बुनियादी बात इस संयुक्त मोर्चे के सिलसिले में समझ जानी चाहिए। तभी यह निश्चय किया जा सकेगा कि कौन कदम कब उठेगा, कौन सीढ़ी कब खत्म होगी और कब शुरू होगी, कौन दौर कब आयेगी और उसमें कहाँ तक किससे कितनी सहायता मिलेगी। फिर तो सब काम वैसे ही होगा और औरों के साथ मैत्री भी उसी तरह की जा सकेगी। दृष्टान्त के लिए रूसी क्रान्ति की बात ले सकते हैं। उस क्रान्ति की दो सीढ़ियाँ या दौरें थीं जिन्हें पूँजीवादी क्रान्ति और



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सर्वहारा क्रान्ति या जनतन्त्र-क्रान्ति और समाजवादी कहते हैं। पहली तो शुरू हुई सन् 1902 से ही जबकि छोटे रूस तथा केन्द्रीय कृषि प्रदेश के किसानों ने उस साल के वसन्त में ही उत्पात शुरू कर दी। और यह चालू रही ठेठ 1917 की फरवरी (आधुनिक मार्च) तक। दूसरी दौर का श्रीगणेश मार्च से ही शुरू होकर 1917 के अक्टूबर (आधुनिक नवम्बर) में पूरा हुआ। पहला समय जनतन्त्र क्रान्ति का और दूसरा सर्वहारा क्रान्ति का माना जाता है। नवम्बर के बाद तो सर्वहारा क्रान्ति के उद्देश्य को ही पूरा करने—समाजवाद तथा साम्यवाद के स्थापित करने—की तीसरी दौर मानी जाती है।

पहली दौर में जारशाही और जमींदारशाही के विरुद्ध लड़ना और उसे खत्म करना ही लक्ष्य था और यह था तात्कालिक। क्योंकि आखिरी लक्ष्य तो सदा यही था कि किसानों और मजदूरों के हाथ में शासन ला के समाजवाद एवं साम्यवाद की स्थापना करना, इस तरह वर्गभेद को मिटाकर वर्ग-विहीन समाज को स्थापित करना और मानव-जीवन को सुखमय एवं मंगलमय बनाना। सारांश यह कि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को अक्षरशः चरितार्थ करना यही अन्तिम ध्येय था। इस युद्ध का नेतृत्व किसे प्राप्त होना था यह भी बात जानने की है। यह खयाल रखना जरूरी है कि नेतृत्व के बारे में चरम लक्ष्य का खयाल करके ही उसे निश्चित किया जा सकता है। इस तरह वर्गविहीन समाज ही जब चरम लक्ष्य है और उसी ओर बढ़ना है तो शुरू से लेकर अन्त तक नेतृत्व तो सर्वहारा का ही होगा। क्योंकि उसे दूसरों के हाथ में जाने पर युद्ध की गाड़ी भटक जायगी और दूसरी ओर चली जायगी, जैसा कि फ्रांस वगैरह में हुआ। उन देशों में मध्यमवर्ग या पूँजीवादियों का ही नेतृत्व होने के कारण ही गड़बड़ी हुई और क्रान्ति का अन्तिम लक्ष्य खटाई में पड़ा ही रह गया। वे लोग समाजवाद से डरते जो थे। रूस में शुरू से ही सर्वहारा का ही नेतृत्व रहा और काम भी ठीक हो गया।

इस काम में सर्वहारा का साथ केवल रूसी किसान दे सकते थे। क्योंकि जमींदारी मिटाकर जमीनें लेने की इच्छा उन्हीं को थी। गरीब, धनी सभी किसानों को जमीन की चाह थी। इसीलिए सभी साथ दे सकते थे। निम्न-मध्यम श्रेणी के बाबुओं को भी साथ लिया जा सकता था। हालाँकि वे लोग थे कुछ आगा-पीछा करने वाले। मगर जारशाही और जमींदारशाही से ऊबे रहने के कारण वे उसके शत्रु थे। उनका खास स्वार्थ कोई था ही नहीं। मगर रूस के पूँजीवादी भरसक जार पर दबाव देकर अपने लिए अधिकार प्राप्त करना चाहते थे। क्रान्ति से वे स्वभावतः डरते थे। इसीलिए समझौते से ही काम निकालना चाहते थे। जार पर दबाव डालने के लिए जितने क्रान्तिकारी कामों की जरूरत थी उतना ही करने को वे लोग राजी थे। मगर वह भी दबे पाँव से। बराबर यह चाहते थे कि जो भी लड़ाई हो उसमें हमारा प्रभुत्व रहे, लड़ाई हमारे कब्जे से बाहर न जाय। लड़नेवालों को अपने कब्जे में रख के ही



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लड़ें और जभी समझौते का मौका देखें रोक दें। जब जार नहीं मानता था, तो ऊब के वे लोग भी लड़ने को तैयार हो जाते थे सही। मगर फिर इस डर से कि कहीं लड़नेवाली ताकतें हमारे हाथ से बाहर न चली जायं—क्रान्ति दूर तक न बढ़ जाय—वे लोग रुक जाते थे। इस प्रकार सदा 'राम खुदैया' (wavering) करते थे। इसीलिए किसानों को और मध्यमवर्ग को अपनी ओर मिलाना चाहते थे। ताकि जार पर दबाव डालकर सुलह करें। मगर उस समय मजदूरों ने पूँजीवादियों की एक भी न चलने दी और किसानों को अपनी ओर मिला के पूँजीवादियों को अकेला तथा भक्कू बना दिया। इन दोनों के मेल का यह नतीजा हुआ कि निम्न-मध्यम श्रेणी के बाबू लोग भी उधर न जा सके। इस प्रकार किसानों तथा मजदूरों का संयुक्त मोर्चा बना, जिसमें मजबूरन टटुपुँजिये बाबू भी शामिल हुए। यही बात लेनिन के निम्न वाक्य में कही गयी है, जिसका मतलब क्रान्ति निरूपण के अवसर पर लिख चुके हैं। वह लिखता है—

"The proletariat must push the democratic revolution through to an end inducing the mass of peasanry to join forces with the workers, in order to break the power of autocracy and to overcome the vacillation of the bourgeoisie."

यहाँ साफ नजर आता है कि सर्वहारा का नेतृत्व कायम रहा। इसीलिए समझौता न होकर क्रान्तिकारी ढंग से ही जारशाही और जमींदारशाही का खात्मा हुआ, जिससे क्रान्ति को आगे बढ़ने का मौका बना रहा। समझौता होने पर यह बात नहीं होती और क्रान्ति की गाड़ी कीचड़ में फँस जाती। इसलिए यही संयुक्त मोर्चा कहा जाता है। किसानों और मजदूरों को हड़ताल वगैरह करने की पूरी आजादी इसमें थी और यही तो ठीक था। किसान जबर्दस्ती जमीनें छीनते थे और इसमें उन्हें रोकने के बजाय प्रोत्साहन मिलता था। मगर हमारे यहाँ तो अजीब बात है। मजदूरों और किसानों को अपने हक के लिए हड़ताल, बकाश्त संघर्ष आदि के जरिये सीधी लड़ाई लड़ने से रोक के ही कांग्रेस के लीडर और उनके दोस्त निराले क्रान्तिकारी लोग संयुक्त मोर्चा कायम करना चाहते हैं। यह तो गुलामी है और क्रान्ति की गाड़ी को कीचड़ में फँसाना है। इसे संयुक्त मोर्चा क्यों कर कहा जाय?

रूस में पहली क्रान्ति के बाद मार्च में ही जब सर्वहारा क्रान्ति की दौर शुरू हो गयी तो अब जारशाही के बजाय रूसी पूँजीपतियों से ही युद्ध करना था। इससे पहले मजदूरों और किसानों का खूब अच्छा संगठन न होने तथा उनमें पूरी वर्ग-चेतना के अभाव के कारण ही शासन मालदारों के हाथ में चला गया। मगर वे काँपते थे और मजदूर किसानों की ताकत बनी थी। इसी में तो भविष्य की आशा थी, जब पूँजीपतियों के हटाने का यत्न चला, तो उनने निम्न-मध्यम श्रेणी के बाबुओं को मिला के अपनी हस्ती कायम रखनी चाही। इधर बड़े-बड़े किसानों (कुलकों) को भी अब



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भय हो गया कि कहीं हमारी जमीनें न छिन जायँ वे इस बात की कोशिश करने लगे कि गरीब किसानों को और खेत-मजदूरों को या तो जमीनें मिलें ही न, बहुत ही थोड़ी-थोड़ी मिलें। ज्यादा जमीनें वे खुद हथियाना चाहते थे। फलतः खेत-मजदूर, गरीब किसान और छोटे किसान घबराकर सर्वहारा के पास जाते और कहते कि बाबा, हमें भी जमीनें दिलाओ। असल में उनका संगठन न होने के कारण ही कुलकों से उनका पार पाना कठिन था। इस प्रकार किसानों में ही दो दल हो गये और गरीब किसानों या खेतहीनों को साथ लेके सर्वहारा ने उन्हें संगठित किया। इस समय खतरनाक थे निम्न-मध्यम श्रेणी के ही लोग। यही लोग दुतरफी करते थे। कभी मालदारों की ओर जाते और डर के कभी मजदूरों की ओर आते। मगर खेत-मजदूरों तथा छोटे और गरीब किसानों को अपने साथ मिला कर सर्वहारा ने इन्हें त्रस्त किया और दबाया। फलतः ये कुछ न कर सके और पूँजीवादी अकेले पड़ जाने से हार गये। तात्कालिक सरकार और सोवियट के साथ जो मार्च और नवम्बर के बीच कशमकश होती रही वह यही है और निम्न-मध्यम वर्ग की दुहरी नीति तथा दोमुहिया चाल के चलते ही आठ महीने लग गये, जब पूँजीपति हारे। यहाँ भी मजदूरों और गरीब किसानों का संयुक्त मोर्चा बहुत ही उचित था। यही बात लेनिन ने पहले के उद्धृत वचनों के बाद ही यों कही है—

इन दोनों दौरों में संयुक्त मोर्चा सर्वहारा के साथ हुआ वह उचित इसलिए था कि सर्वहारा का नेतृत्व कायम रहा। इसीलिए लेनिन ने यह कहा कि सर्वहारा-वर्ग अपने साथ मिलने के लिए किसानों और गरीबों तथा अर्द्ध-सर्वहारा को राजी करता है, प्रेरित करता है। मगर हमारे यहाँ तो कुछ क्रान्तिकारी नेता इस बात की जी-जान से कोशिश करते हैं कि पूँजीवादियों तथा निम्न-मध्यमवर्गीयों का ही नेतृत्व रहे और उन्हीं के साथ जाकर सर्वहारा और गरीब लोग दुःखी किसान वगैरह—मिलें। यह एक निराली बात है और हमें इस पर हँसी भी आती है और ताज्जुब भी होता है। क्रान्तिकारी बनने का दावा छोड़ के यदि यह बात वे लोग करें तो आश्चर्य नहीं होगा।

मगर ऐसी बात हमेशा होती आयी है। पूँजीवादियों ने और खासकर टटपुँजिये बाबुओं ने सदा यह कोशिश की है कि किसानों तथा मजदूरों का न तो जुदा और स्वतन्त्र संगठन हो और न उनके आन्दोलन की अलग कोई हस्ती हो। वे तो अपनी दुम बनाकर ही किसान-मजदूरों तथा उनके आन्दोलनों को रखना चाहते हैं। क्योंकि इसी से उनकी ताकत बनती है। कम्युनिस्ट लीग के सामने जो लेक्चर मार्क्स का तथा एंगेल्स का पहली बार हुआ था और जिसमें कम्युनिस्ट लीग का कार्यक्रम बताया गया था उसमें यह कहा गया है कि—

"इस वक्त जबकि जनतन्त्रवादी निम्न-मध्यमवर्गीयों का सर्वत्र विरोध हो रहा है, वे सर्वहारा को उपदेश देते हैं और प्रोत्साहित करते हैं कि उनके साथ वे लोग (सर्वहारा) मेल-जोल और एकता स्थापित करें। वे चाहते हैं सबों को मिला के एक



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऐसी विरोधी पार्टी बनायें, जिसके भीतर लोकतन्त्र चाहनेवाले सभी दलों के लोग शामिल हों। इसका साफ अर्थ यह है कि वे लोग सर्वहारा को फँसा के एक ऐसी पार्टी के संगठन में डालना चाहते हैं जिसमें आमतौर से आजादी, स्वतन्त्रता, समानाधिकार, समाजवाद आदि के सूचक शब्दों का जाल फैला के उन्हीं के पर्दे में उन निम्न-मध्यमवर्गीयों के अपने स्वार्थ छिपे रहें और शान्ति, तथा आपसी एकता के बहानें, उसमें सर्वहारा की अपनी खास माँगों का जिक्र होने न पाये। मगर ऐसी एकता तो एकमात्र उन निम्न-मध्यमवर्गीय लोगों के ही फायदे की होगी और सर्वहारा के लिए जहर का काम करेगी। ऐसा होने पर तो संगठित मजदूर वर्ग अपने कठिन त्याग बल से प्राप्त आजादी को खो के उन बाबुओं के ही स्वार्थों और संगठनों का पुछल्ला बन जायगा। इसलिए ऐसी एकता और मेलजोल का विरोध दृढ़ता के साथ करना ही होगा।

"मालदारों के संगठनों और चालबाजियों का गुणगान करने में पड़ जाने के बजाय मजदूरवर्ग और खासकर कम्युनिस्ट लीग को चाहिए कि उन मध्यमवर्गीयों की संस्थाओं से जुदा अपनी स्वतन्त्र तथा गुप्त एवं कानूनी मजदूर पार्टी संगठित करें। मजदूरों के हर समुदाय में श्रमिक समाज का अपना केन्द्र और अड्डा बनायें और वहीं पर मालदारों के प्रभाव से बच के स्वतन्त्र रूप से मजदूर दल के स्वार्थों और रुखों पर बहस-मुबाहसा करें ! मजदूरों के साथ की जानेवाली उस दोस्ती और एकता की कितनी कम परवाह ये जनतन्त्रवादी मालदार और उनके दोस्त करते हैं, जिस दोस्ती में मजदूर लोग उनके बराबर के साझीदार हों और उन्हें उन्हीं के समान हक तथा दर्जा हासिल हो, इस बात का पता ब्रेसला के निवासी उन लोकतन्त्रवादियों के रुख से लग जाता है, जो अपने समाचार-पत्र 'ओदरजीतंग' के जरिये हमारे उन मजदूरों पर हमला करते हैं जिनका अपना स्वतन्त्र संगठन है और जिन्हें वे मखौल के रूप में सोशलिस्ट हक के बहुत ही बुरी तरह सताते हैं।"

आजकल के नकली और धोखेबाज संयुक्त मोर्चे का, जिसकी हद से ज्यादा चर्चा हमारे अभागे देश में होती है, कितना नग्न वर्णन इन वाक्यों में है ! मार्क्सवाद के प्रवर्त्तकों ने इस बात का भंडाफोड़ इसमें बड़ी बेरहमी से करने के साथ ही शोषितों—किसान-मजदूरों—के कर्त्तव्यों का भी सफाई से करने के साथ निर्देश किया है। यदि हम इण्डियन नेशनल कांग्रेस और उसके नेतृत्व की ओर नजर दौड़ायें और इस बात का भी खयाल करें कि क्रान्ति, साम्यवाद और समाजवाद की पुकार मचानेवाले निम्न-मध्यमवर्ग के बाबू लोग उस कांग्रेस के भीतर रहने तथा उसके साथ संयुक्त मोर्चा कायम करने पर जोर देते हैं, तो ऊपर लिखी सारी बातें अक्षरशः घट जाती हैं। केवल आजादी, स्वतन्त्रता आदि मधुर एवं मोहक शब्दों के जाल के पीछे मालदारों तथा उनके दोस्तों का कितना गहरा स्वार्थ भरा है और उसका पर्दा किस बेरहमी से ऊपर के वाक्य करते हैं ! जो लोग कांग्रेस को ही संयुक्त मोर्चा कहने की हिम्मत करते हैं उनकी इस चालबाजी की कलई ये वचन बखूबी खोल देते हैं ! सहसा यही



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतीत होता है कि हमारे देश की ही आज की हालत को मद्देनजर रख के मार्क्स और एंगेल्स बोल रहे हैं ! मगर आज के सौ साल पूर्व के ये वचन आज भी इसीलिए सही उतरते हैं कि इतिहास की पुनरावृत्ति हुआ ही करती है। उनने कमानेवालों की स्वतन्त्र संस्थाएँ और उनके स्वतन्त्र संगठन बनाने पर जो हद से ज्यादा जोर दिया है और इस नकली एवं खतरनाक संयुक्त मोर्चे का दृढ़ता के साथ विरोध करने का जो आदेश दिया है वह हमारे लिए पथप्रदर्शक और बड़े काम की बात है। हम इसे भूल कर ही धक्के खा रहे हैं ! अब भी चेतें तो काम चले !

हमें इस संयुक्त मोर्चे के सम्बन्ध में एक खास बात याद रखनी चाहिए। संयुक्त मोर्चे और तत्काल काम चलाने के लिए कोई बातचीत या समझौता इन दोनों में फर्क है। तत्काल काम की बात को ही अँगरेजी 'अण्डरस्टैंडिंग' कहा है। उसे ही 'ब्लॉक' कह के भी पुकारा है। यदि 'एलायन्स' शब्द कहीं-कहीं आया है तो वह भी इसी मानी में समझा जाना चाहिए। 'यूनिटी' और 'यूनिफिकेशन' शब्द जिस एकता और मेलजोल के मानी में बोले जाते हैं उसी अर्थ में 'यूनाइटेडफ्रण्ट' या संयुक्त मोर्चा बोला जाता है। यूनाइटेड फ्रण्ट या संयुक्त मोर्चे में सभी दलों की सारी ताकतें मिल के एक ही संचालक, सेनापति या कमाण्डर की मातहती में लड़ती हैं। वहाँ भिन्न-भिन्न नेतृत्व और संचालन नहीं होता। जैसे गत महासमर में फ्रांस तथा इंगलैंड की सेनाओं को अन्त में मिला के एक ही प्रधान सेनापति फील्ड मार्शल कोश का नेतृत्व स्थापित किया गया था। आज भी चीन में चियांग कै शेक या क्यूमिटांग तथा कम्युनिस्ट पार्टी की सेनाओं को मिला के केवल चियांग कै शेक के ही हाथ में नेतृत्व दिया गया है। वहाँ दो स्वतन्त्र सेनापति हैं नहीं। यही तो यथार्थ में संयुक्त मोर्चा है।

मगर जहाँ पहली बात है और कुछ देर के ही लिए तत्काल कामचलाऊ मेल-जोल कर लिया गया है, 'अण्डरस्टैंडिंग' हो गयी है, वहाँ तो कोई बात है नहीं। वहाँ दोनों दलों की स्वतन्त्र हस्ती, उनके स्वतन्त्र संगठन, स्वतन्त्र कार्यक्रम वगैरह ज्यों के त्यों बने रहते हैं। कोई किसी के बारे में चूँ तक नहीं करता, किसी को कुछ भी बोलने का हक नहीं रहता। सिर्फ इतना ही तय रहता है कि लड़ाई के लम्बे मोर्चे पर कहाँ और कैसे कौन-कौन दल रह के लड़ेंगे। ताकि दोनों की शक्तियों का पूरा-पूरा प्रयोग हो और किसी की भी शक्ति का जरा भी दुरुपयोग या उसकी व्यर्थता न हो। आपस में बात तय न होने पर एक ही स्थान पर दोनों की ताकतें व्यर्थ में लग सकती हैं और, उनकी बेकार क्षीणता हो सकती है इसी बात को लक्ष्य करके मार्क्स और एंगेल्स ने ऊपर लिखे वाक्यों के बाद ही यों कहा है–

"सारांश यह है कि सर्वसाधारण शत्रु पर हमला करने की बात अगर आ जाय तो इसके लिए किसी खास ढंग की एकता जरूरी नहीं है। उस समय तो ऐसे शत्रु से लड़ने में मध्यमवर्ग और मजदूर वर्ग–दोनों ही–के स्वार्थ मिल जाते हैं। फलतः तत्काल कामचलाऊ राय-मशविरा करके दोनों ही दल इस लड़ाई को चलायेंगे ही।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पहले भी ऐसा ही होता आया है और आगे भी होगा। यह बात पक्की है कि आगे की भयंकर भिड़न्तों में भी पहले की ही तरह, अपनी हिम्मत, दृढ़ संकल्प और त्याग के बल पर, मजदूर लोग ही विजय प्राप्त करने में प्रधान लड़नेवाले होंगे। जैसा कि अब तक हुआ है वैसा ही आगे भी निम्न-मध्यम श्रेणी के लोग आमतौर से कादरता, आगा-पीछा और अकर्मण्यता का रुख तब तक अख्तियार करेंगे जब तक सम्भव होगा (ताकि लड़ाई का सामूहिक रूप हो जाने से वह उनके कब्जे के बाहर न हो जाय), जिससे विजय के निश्चित होते ही वह यह दावा कर सके कि इसे उनने प्राप्त किया है और मजदूरों को यह आदेश दे सकें कि शान्त रहें, अपने कामों पर चले जायँ, तथाकथित ज्यादतियों (अत्याचारियों के घर-बार को जलाना आदि) से बाज आयें और इस प्रकार वे (श्रमिक) लोग विजय के फल से महरूम रहें। मजदूरों की शक्ति के बाहर की यह बात है कि लोकतन्त्रवादी निम्न-मध्यमवर्गीयों को ऐसा करने में उस समय रोक सकें। लेकिन वे इतना तो अवश्य कर सकते हैं कि सशस्त्र मजदूरों के माथे पर यों ही चढ़ बैठना इन बाबुओं को कठिन हो जाय। श्रमिक लोग इन बाबुओं को ऐसी शर्तें मानने के लिए विवश भी कर सकते हैं जिनके चलते उनका लोकतन्त्र शासन शुरू से ही अपने विनाश के कीटाणुओं को अपने भीतर पैदा कर लें, जिससे अन्त में उसकी जगह सर्वहारा के शासन का स्थापित हो जाना बहुत कुछ आसान हो जाय।

"लड़ाई के समय में और फौरन ही उसके बाद मजदूरों का सबसे बड़ा कर्त्तव्य यह है कि जहाँ तक हो सके इस बात की कोशिश जरूर करें, ताकि मध्यमवर्गीयों के द्वारा समझौते की कोशिश सफल न हो सके और इन लोकतन्त्रवादियों को विवश करें कि जो आतंकवाद फैलाने की धमकियाँ देते हैं उन्हें पूरा करें। (अर्थात् उनकी धमकियों से डरें नहीं)। उन्हें इस तरह काम करना होगा कि विजय के बाद ही फौरन क्रान्तिकारी सरगर्मी खत्म न हो जाय। विपरीत इसके ज्यादा-से-ज्यादा देर तक इसे कायम रखने की कोशिश उन्हें करनी होगी। पूर्वोक्त तथाकथित ज्यादतियों का विरोध करना तो दूर रहे और जिन मकानों या आदमियों के बारे में लोग घृणा से याद करते हैं उन्हें सार्वजनिक प्रतिशोध का शिकार बनने से रोकने की बात कौन चलाये, ऐसे कामों को न केवल होने ही देना चाहिए, प्रत्युत उनका संचालन खुद अपने हाथों में लेना होगा। युद्ध के समय तथा उसके बाद भी मजदूरों को हर मौके से लाभ उठा के पूँजीवादी लोकतन्त्रवादियों की माँगों के अलावे अपनी खास माँगों को भी लोगों के सामने रखना होगा। ज्योंही ये लोकतन्त्रवादी शासन अपने हाथ में ले लें, उनसे मजदूरों के सम्बन्ध की हर तरह की गारण्टी तलब करनी होगी। जरूरत होने पर ये गारण्टियाँ उनसे कबूल करायी जायँ। आमतौर से मजदूरों को यह खयाल भी रखना होगा कि नये शासक अपने आपको तरह-तरह की सुविधाओं के लिए वादे करके उसी में बाँध दे। क्योंकि वही सबसे पक्का उपाय है जिससे उनकी कलई



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

खुलेगी। क्रान्तिकारी लड़ाई की सफलता के बाद जो उत्साह और आनन्द का स्रोत नये शासन के लिए उमड़ता है उसमें मजदूर लोग बह न जायँ यह खयाल रहे। नयी परिस्थितियों का ठण्डे दिल से गम्भीर विचार करके उन्हें अपने इस उमंग को मिटा देना होगा और नयी सरकार के प्रति अपने अविश्वास को खुल्लम खुल्ला प्रदर्शित करना होगा। नियमित रूप से बनी सरकार के अलावे उन्हें स्थानीय कार्यकारिणियों या सार्वजनिक कौंसिलों, मजदूर क्लबों या मजदूर कमिटियों के रूप में अपनी क्रान्तिकारी सरकार भी कायम करनी होगी। ताकि सिर्फ यही न हो कि फौरन ही पूँजीवादियों की लोकतन्त्र सरकार मजदूरों के सारे समर्थन से हाथ धो बैठे। बल्कि अपने जन्म के ही समय से वह अपने को ऐसे अधिकारियों की देख-रेख और धमकियों के नीचे पाये, जिनके पीछे मजदूर वर्ग का विराट समूह खड़ा हो। संक्षेप में विजय के क्षण से ही हमें अपने पुराने पराजित दकियानूस दुश्मनों के ऊपर अविश्वास का प्रदर्शन करना छोड़के अपने पुराने साथियों पर ही उसे प्रकट करना होगा—उस पार्टी के खिलाफ हमें अपना अविश्वास जाहिर करना होगा जो अब सार्वजनिक विजय का उपयोग केवल अपने ही स्वार्थ साधन के लिए करना चाहती है।"

हमें यहाँ यह बात याद दिला देना जरूरी है कि मार्क्स और एंगेल्स का यह और इससे पहले का समूचा उपदेश संसार के मजदूरों के भावी कार्यक्रम के रूप में ही उसी सिलसिले में है। न कि यह किसी खास देश, समय, या मौके के लिए है। मजदूरों के ही द्वारा यह समस्त शोषितों तथा पीड़ितों के सम्बन्ध में भी अक्षरशः लागू है, फिर चाहे वह मजदूर हों, किसान हों या दूसरे ही कोई। जैसे कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो उन्हीं दो महानुभावों के द्वारा समस्त संसार के मजदूरों के नाम में शोषितों एवं पीड़ितों के लिए भविष्य के लिए पथदर्शक सिद्धान्त के रूप में तैयार किया गया है, तैसे ही फौरन उसके बाद उन्हीं सिद्धान्तों को अमली तथा व्यावहारिक रूप देने के लिए यह कार्यक्रम बताया गया है। लेकिन अफसोस तो यह है कि जहाँ बहुतेरे लोग मैनिफेस्टों को मन्त्र की तरह जपते रहते हैं, तहाँ उसके व्यावहारिक स्वरूप इस कार्यक्रम को या तो जानते ही नहीं, या भूल जाते हैं। इसी से सारी गड़बड़ियाँ और दिक्कतें पेश आती हैं।

अब अगर हम इस कार्यक्रम को गौर से देखते हैं तो हमारी आँखों का पर्दा खुल जाता है। जो लोग संयुक्त मोर्चा और आजादी की लड़ाई के नाम पर किसानों के संघर्षों, प्रदर्शनों और मजदूरों की हड़तालों, सीधी लड़ाइयों को फूटी आँखों भी न देख सकने के कारण चाहे जैसे हो बन्द करवाना चाहते हैं उनकी असली सूरत का पता इस आईने में चल जाता है। इसके बाद यह कहने की तो जरूरत रही नहीं जाती कि वे लोग किनके दोस्त हैं, किनके आदमी हैं। शोषितों एवं पीड़ितों के तो हर्गिज-हर्गिज हो नहीं सकते, चाहे और किसी के भले ही हों। जब हमने—किसानों तथा मजदूरों ने—कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के बनने पर प्रदर्शन शुरू किये और साफ-साफ



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अपने रुखों से हमने बता दिया कि उन पर हमारा विश्वास नहीं होता और इसके लिए अनेक ज्वलन्त उदाहरण भी ताजे-ताजे ही पेश किये, तो हम पर देश द्रोह का इल्जाम लगाया गया और कहा गया कि हम तो आजादी की लड़ाई को कमजोर करते हैं। हम देश में दुश्मनों से जा मिले हैं यह इलजाम भी हम पर थोपा गया। कांग्रेस को हम कमजोर करते हैं यह आरोप मामूली था। हालाँकि हमने मन्त्रिमण्डल के ही विरुद्ध ऐसा किया था। और अगर अप्रत्यक्ष रूप से कांग्रेस भी उसमें खिंच आती थी, तो हम लाचार थे। उसने मन्त्रियों को ठीक-ठीक चलाया क्यों नहीं? कांग्रेस की चुनाव घोषणा और फैजपुर के प्रोग्राम को वह एक प्रकार से भूल क्यों गयी, जहाँ तक किसानों और मजदूरों का ताल्लुक था? और अगर भूली तो शिकायत उसकी न होती तो और किसकी होती? हमने तो उस पर रहम की, जो प्रत्यक्ष आरोप नहीं लगाया। अभी जो कुछ मार्क्स और एंगेल्स का उपदेश बताया गया है उसके मुताबिक तो कांग्रेस की ही शिकायत होनी जरूरी थी—अनिवार्य थी। इससे तो उसने साफ सिद्ध कर दिया कि वह शोषितों और पीड़ितों की अपनी संस्था हर्गिज नहीं है। किन्तु लोकतन्त्रवादी पूँजीपतियों की ही है। उसके जो लक्षण अभी-अभी मार्क्स और एंगेल्स ने बताये हैं वे अक्षरशः घट गये। यों तो उसके नेता ऐसा दिखाने की कोशिश करते ही हैं कि गोया शोषितों एवं पीड़ितों के ही लिए मरे जा रहे हैं।

इन वचनों में यह भी कहा गया है कि सर्वसाधारण शत्रु के साथ लड़ने में तात्कालिक समझौता या बातचीत और परामर्श हो जाने से ही काम चल जायगा। एकता या संयुक्त मोर्चे की जरूरत नहीं है। यदि यहाँ राष्ट्रवादी नेताओं को इसकी जरूरत है कि साम्राज्यशाही से लड़ा जाय तो यहाँ भी संयुक्त मोर्चे का क्या सवाल है? क्या राय परामर्श से काम नहीं चलेगा? उन्हें यकीन रखना चाहिए कि हमें—शोषितों और पीड़ितों को—तो हर हालत में लड़ना ही है। चाहे वे लड़ें या न लड़ें। और अगर उन्हें भी यही करना है तो फिर घबराने की क्या बात है? यहाँ तो दोनों ही एकमत हो जायँगे और लड़ेंगे ही। असल में तो वही लड़ना नहीं चाहते।

मार्क्स और एंगेल्स ने तो यह भी कहा है कि हमें सारी शक्ति लगाकर समझौते को रोकना होगा। जब कांग्रेसी मन्त्रियों ने बिहार में जमींदारों के साथ खुलेआम समझौता कर लिया और बम्बई में मिलवालों के साथ भी यही किया, तो फिर हमारा काम तो यह ख़ामख़ाह हो गया कि उनका पर्दाफाश करें। इसमें मुरव्वत या आगा-पीछा की गुंजाइश कहाँ थी? और यह करके हमने गलत किया क्या? संयुक्त मोर्चे के टूटने का सवाल ही वहाँ कहाँ था? वह वो चाहते ही थे कि हम किसानों और मजदूरों की लड़ाई छोड़ के उनकी ही हाँ में हाँ मिलायें। मगर यही तो खतरनाक चीज थी जिसे हमने खूब समझा। हम उनकी स्तुति और तारीफ के पुल क्यों बाँधते?

इस कार्यक्रम में जो यह कहा गया है कि हमेशा तो मजदूर या कमानेवाले ही लड़ते रहे हैं और आगे भी वही लड़ेंगे; दृढ़ता, त्याग और हिम्मत तो वही रखते



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं; इसलिए लड़ाई में सफलता दरअसल उन्हीं के करते मिलती है; मध्यवर्गीय लोग तो बगलें झाँकते, आगा-पीछा करते और लड़ाई से दुबकते हैं; सो तो ठीक ही है। हम तो यहाँ यह नज़ारा इधर बराबर देख रहे हैं। इस समय अच्छे से अच्छा मौका मिला था कि जमकर लड़ें। मगर उनको हिम्मत कहाँ? उन्हें तो रह-रह के सुलह, अहिंसा और शत्रु को परेशान न करने की हूक उठती रहती है और हमें है आजादी न मिलने की हूक; भूख, गरीबी, पामाली की हूक। फिर संयुक्त मोर्चे का सवाल ही कहाँ? यहाँ तो "कहु रहीम कैसे बनै केर-बेर को संग। वे सुख झूमै आपने इनके काटत अंग" वाली बात है। मार्क्स एंगेल्स ने ठीक ही कहा है कि लड़ाई तेज होने में उन्हें खतरा रहता है कि कहीं उनके काबू से बाहर न चली जाय, जरूरत से ज्यादा आगे बढ़ न जाय। क्योंकि तब कब्जे में रह जो न जायगी। फिर यह दावा ये मालदार और उनके दोस्त कैसे कर बैठेंगे कि विजय उनने प्राप्त की है? उनकी तब सुनेगा कौन? यही बात तो यहाँ भी है। अब तो हमारे नेता जनता से ही, किसानों और मजदूरों से ही डरने लगे हैं। ये लोग जाग जो गये हैं। फलतः आँखें मूँद के तेली के बैल की तरह निश्चित दायरे के भीतर चलाये जा नहीं सकते।

इस नकली संयुक्त मोर्चे की बात से हमें चीन की बात याद हो आती है। 1927 के पहले ही वहाँ की कांग्रेस जिसे क्यूमिनटांग कहते हैं, की नीयत खराब हो चली थी। क्योंकि वहाँ के जबर्दस्त किसान आन्दोलन तथा मजदूरों के संगठन से उसके लीडरों को अपने नेतृत्व पर खतरा नजर आता था। उसी समय रूस से कम्युनिस्टों के केंद्रीय संघ, कोमिन्टर्न ने वहाँ के किसानों तथा मजदूरों के लिए हिदायतें भेजीं। असल में 1925 के मध्य में जून से लेकर सितम्बर तक शंघाई और हांगकांग में मजदूरों की ऐसी जबर्दस्त राजनीतिक हड़तालें हुईं कि साम्राज्यवादियों में आतंक छा गया था। इसकी सम्भावना पहले तो थी नहीं। बात यों हुई कि जैसे भारत में कांग्रेसी नेताओं ने 1921 और 1930 में आम जनता को उभाड़ के अपना काम निकालना चाहा। ठीक वैसे ही चियांग ने भी वहाँ मजदूरों की हड़तालें करवा के साम्राज्यवादियों पर धाक जमायी। मगर जब देखा कि अब बात बेढंगी हो रही है, मजदूर आगे बढ़ रहे हैं तो वह घबराया जैसे यहाँ हो रहा है। इसीलिए क्यूमिनटांग के नेता चियांग कै शेक और उसके दोस्त घबराये। बाद में भी इसी तरह की और भी घटनाओं ने उनके कान खड़े कर दिये। नतीजा यह हुआ कि उनने 1927 के मार्च-अप्रैल में मजदूरों और किसानों तथा उनके नेताओं का कत्लेआम शुरू किया और जून आते-आते उन्हें क्यूमिनटांग से निकाल के शासन हथिया लिया। क्यूमिनटांग के केन्द्र-स्थान कैन्टन में ही यह बात हुई। हैंकाऊ में भी आतंक राज्य स्थापित हो गया। इसे ही चियांग कै शेक का 'कूदिताह' कहते हैं। वह चीन का सर्वेसर्वा (तानाशाह) बन बैठा। इस तूफानी घटना-चक्र के पहले ही लक्षण-कुलक्षण देख के कोमिन्टर्न ने चीन के कम्युनिस्टों के पास यह हिदायत भेजी थी कि—



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"क्यूमिनटांग की और फौजवाली कम्युनिस्ट शाखाओं को भी क्रियाशील बनाना जरूरी है। जहाँ ये न हों वहाँ संगठित की जायँ, जहाँ भी ऐसा करना सम्भव हो। जहाँ ऐसा न हो सके वहाँ गुप्त कम्युनिस्टों की ही मदद से हलचल तेज करना जरूरी है।

"यह जरूरी है कि हम मजदूरों और किसानों को शस्त्रास्त्र से सज्जित करने की ओर बढ़ें; स्थानीय किसान सभाओं को ही वास्तविक शासन संस्था बनाने में लग जायँ और एतदर्थ उन्हें आत्मरक्षा के लिए संगठित करें।

"सभी जगह खुद कम्युनिस्ट पार्टी का ही यह काम करना होगा। अपने आपको स्वयं अर्द्ध-कानूनी बनाना ठीक नहीं। जनता के सामूहिक आन्दोलनों को रोकना कम्युनिस्ट पार्टी का कर्त्तव्य नहीं है। क्यूमिनटांग के दक्षिण पन्थियों की क्रान्तिविरोधी और धोखेबाज नीति पर पर्दा डालना इस पार्टी का फर्ज नहीं है। किन्तु इस नीति का भण्डाफोड़ करने के लिए यह जरूरी है कि क्यूमिनटांग और कम्युनिस्ट पार्टी के इर्द-गिर्द जनता को सामूहिक रूप से तैयार किया जाय।

"जो मजदूर क्रान्ति में ईमानदारी से विश्वास करते और तदर्थ काम करते हैं उनका ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट करना जरूरी है कि इस समय विभिन्न वर्गों की ताकतों की नयी गुटबन्दी होने तथा साम्राज्यवादी फौजों के जमाव के करते चीन की क्रान्ति खतरे के समय से गुजर रही है और इसकी प्रगति तभी सम्भव है जबकि जन-आन्दोलन को तेज करने और बढ़ाने के लिए निश्चित ढंग से काम किया जाय। नहीं तो क्रान्ति के ऊपर भयंकर तबाही के शनिचरी नजर पड़ी है। इसीलिए जो नीति निर्धारित की गयी है उस पर अमल करना आज और समयों की अपेक्षा कहीं ज्यादा आवश्यक है।"

यहाँ यह जान लेना चाहिए कि क्यूमिनटांग में तो सभी दल के लोग थे और जनता के नाम पर ही काम करते थे, जैसा कि यहाँ कांग्रेस करती है। और उन्हीं पर विश्वास करके जनता चुपचाप अपने काम-धन्धों में लगी रहती थी। इसमें उसके लिए खतरा था। क्योंकि अधिकांश नेता लोग तो पूँजीवादी थे और मनोवृत्ति भी उनकी ऐसी ही थी। इसलिए आदेश दिया गया है कि क्यूमिनटांग के इर्द-गिर्द जनता तैयार की जाय। इसका मतलब यह है कि जनता को उसके स्वार्थ समझाये जायँ और वह हर घड़ी तैयार रह के क्यूमिनटांग की हरकतों तथा उसके नेताओं की चालों पर कड़ी नजर रखे। वह विश्वास में सोयी न रहे। एतदर्थ उसके प्रदर्शन, जुलूस और सभाएँ की जायँ, जहाँ उसकी माँग बराबर दुहरायी जाय। यह काम वहाँ कम्युनिस्ट पार्टी ही करवा सकती थी। क्योंकि किसानों और मजदूरों की अपनी पार्टी वहाँ वही थी। क्यूमिनटांग तो सबकी खिचड़ी थी। इसीलिए यह भी कहा गया है कि कम्युनिस्ट पार्टी के भी इर्द-गिर्द जनता तैयार की जाय। पार्टी अपने ही नाम में खुल के यह काम करे और इस प्रकार किसानों तथा मजदूरों का नेतृत्व हासिल करे, यही इस



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आदेश का मतलब है।

इसीलिए यह भी कहा गया है कि जब तक पार्टी गैर-कानूनी करार न दे दी जाय तब तक लुक-छिप के काम करना नाम या अर्द्ध कानूनी होगा और यह बात ठीक नहीं है। चीनी क्रान्ति के लिए जो बहुत बड़ा खतरा 1927 के फरवरी-मार्च महीनों में नजर आ रहा था उसके लिए एक ही उपाय बताया गया है। वह यह है कि दक्षिणपन्थी नेताओं की धोखेबाजी और प्रतिगामी कार्यों की पोल खोली जाय और इसके लिए सामूहिक आन्दोलन को रोकने के बजाय कम्युनिस्ट लोग खुद इसे संगठित करें और चलायें। दक्षिण पन्थियों के साथ जो संयुक्त मोर्चा या समझौता कई साल से चला आ रहा था उसके करते कहीं वे लोग इस काम में आगा-पीछा न करें, इसीलिए जन-आन्दोलन को बढ़ने की बात कही गयी है। जब तक यह आन्दोलन खूब विस्तृत न हो क्रान्ति बच नहीं सकती। यह बात स्पष्ट रूप से कही गयी है।

यहाँ एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। क्रान्ति के रक्षार्थ यह कहा गया है कि क्यूमिनटांग की सरकार और शासन-व्यवस्था के बावजूद गाँवों की किसान सभाओं को स्वतन्त्र शासन संस्थाओं का रूप दिया जाय और किसानों को आत्म रक्षार्थ अस्त्र-शस्त्र से सज्जित किया जाय। इसका मतलब यह है कि सोवियटों की जगह ये किसान सभाएँ हो जायँ और वही क्रान्ति के लिए लड़ें तथा शासन भी चलायें। इस बात की तैयारी करने की बात कही गयी है। जिस संयुक्त मोर्चे की दुहाई दी जाती है उसी के समय में यह बात करने को कही गयी है। इस बात पर और प्रकाश आगे डाला जायगा। मगर यह तो साफ है कि अभी-अभी बताये मार्क्स एंगेल्स के उपदेशों की ही पाबन्दी पर इसमें जोर दिया गया है कि स्वतन्त्र सरकार बनाओ।

आगे बढ़ने के पूर्व चीन की उस समय की परिस्थिति पर थोड़ा संक्षिप्त प्रकाश डालना जरूरी है। तभी ये और आगे बातें समझ में आ सकेंगी। यह जान लेना चाहिए कि बीसवीं सदी में भी चीन छोटे-छोटे किसानों का ही देश रहा है। वहाँ के 80 फीसदी किसानों के खेतों की यह हालत रही है कि उनके ये नन्हे-नन्हे खेत इतने छोटे हैं कि 5 से लेकर 40 तक टुकड़ों को एक किसान जोतता है। खूबी तो यह है कि ये टुकड़े कभी-कभी एक-दूसरे से मीलों दूर होते हैं। यह बात कैसी है यह हम तब समझ पाते हैं जब जान जाते हैं कि चीन के गरीब किसानों के पास कितनी जमीन होती है। यहाँ के वर्तमान कम्युनिस्ट लीडर मावसेतुंग ने अपनी जीवनी के सिलसिले में बताया है कि उनका बाप जब मध्यमवर्गीय किसान था तो उसके घर के कुल पाँच आदमियों के लिए पन्द्रह माऊ जमीन थी। एक माऊ प्रायः एक एकड़ के छठे भाग के बराबर होता है। इसके साफ मानी हैं कि मुश्किल से ढाई-तीन एकड़ जमीन होने पर ही वे मध्यम किसान कहे जाते थे। और जब उनने सात माऊ और खरीद ली तो उनकी गिनती धनी किसानों में हो गयी। धान ही तो वहाँ की प्रधान उपज है और एक माऊ में मोटा-मोटी चार तान या साढ़े छः मन धान होता है और



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हर आदमी के लिए प्रायः सात तान धान साल भर के खाने के लिए चाहिए। इससे साफ है कि गरीबों के पास तो एक ही डेढ़ एकड़ जमीन होगी और अगर उसी के तीस-चालीस टुकड़े मीलों में जहाँ-तहाँ फैले हैं या एक-दूसरे से कभी-कभी मीलों दूर हैं तो उसकी कैसी दशा होगी। लेकिन खेती की बड़ी इज्जत होने के कारण वे उसमें लगे रहते हैं। दूसरा उपाय भी तो जीविका का नहीं है। कहा जाता है कि संसार में इतने छोटे खेत किसी देश के किसानों के पास नहीं हैं। पैदावार भी सबसे कम वहीं होती है।

उद्योग-धन्धों की यह हालत है यांगसी नदी या पीली नदी के तट पर और प्रधान बन्दरगाहों के शहरों में—चीन के प्रधान व्यापारिक केन्द्रों में—अँग्रेजों, फ्रांसीसियों, जर्मनों, अमेरिकनों और जापानियों के अड्डे, उनकी मिल, बस्तियाँ और जहाजी बेड़े रहते हैं। 1914 की लड़ाई में केवल जर्मन बेदखल हो गये और उनकी जगह जापानी या दूसरे आ गये। इन सबने मंचूराज वंश के ही समय असाधारण सुविधाएँ प्राप्त कर ली थीं। इनके अपने मुकदमे इन्हीं की अदालतें करती थीं। चीनी सरकार कुछ न कर सकती थी। इन असाधारण अधिकारों को ही अँगरेजी में एक्स्ट्रा टेरिटोरियल राइट्स कहते हैं। इनमें कुछ तो अब खत्म हो गये हैं। मगर कुछ हईं। व्यापार तो अधिकांश उन्हीं के हाथ में है। चीनी मध्यमवर्ग के ही लोग वहाँ इन्हीं विदेशियों की दलाली और एजेन्सी करते रहे हैं। इन्हें अँगरेजी में कम्प्रादर कहते हैं। यही लोग उन व्यापारियों तथा जनता के बीच काम करते हैं। 1920 और 1930 के बीच चीन में कपड़े या रूई की मिलें 58 से 127 हो गयीं और दूसरी फैक्टरियों की तादाद भी 673 से 1975 हो गयी थी। फिर भी 1930 में भी चीन की चौथाई रेलों, तीन चौथाई लोहे की खानों तथा कोयले की आधी खानों पर विदेशियों का ही कब्जा था। कपड़े की मिलों की आधी से ज्यादा पूँजी, उससे कुछ कम ऊनी मिलों की पूँजी तथा आटे की मिलों, तम्बाकू की फैक्टरियों और बैंकों की पूँजी विदेशियों की ही थी।

खानों और मिलों में काम की यह हालत है कि बारह से पन्द्रह घण्टे तक रोजाना काम मजदूरों से लिया जाता है। कोयले की खानों में भी बारह घण्टे रहना होता है। बीच में दो-तीन बार थोड़ी-थोड़ी देर के लिए मजदूर खाने-पीने निकलते हैं। बच्चों और औरतों से भी आम तौर से काम लिया जाता है। शंघाई की मिलों आदि में 70 फीसदी औरतें ही काम करती हैं ! ज्यादे से ज्यादा मजदूरी जो खानों में ही दी जाती है और वह है चालीस सेण्ट या प्रायः डेढ़ रुपये रोज। मजदूरों की ट्रेड यूनियनें बनने नहीं पाती हैं कि उनके लिए लड़ें। 1918 से ही कुछ-कुछ ट्रेड यूनियनें बनने लगी थीं। 1925-26 में वे काफी मजबूत थीं जब हांगकांग, शंघाई, हैंकाऊ आदि में उनने विदेशियों के छक्के छुड़ा दिये और चियांग को विजयी बनाया। मगर चियांग कैशेक ने उन्हें 1927 के बाद मिटा दिया। बेशक जहाँ तक सोवियट



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शासन था, मजदूरों को पूरा आराम था। लेकिन व्यापारिक केन्द्रों पर तो कम्युनिस्टों का शासन था ही नहीं। फलतः मजदूरों की बुरी गति थी। केवल क्यांगसी प्रान्त में 1934 तक सोवियट शासन रहा। यदि शंघाई आदि में मजदूरों की हड़तालें होती थीं तो विदेशी साम्राज्यवादियों की फौजों और जहाजी बेड़ों के सिपाही उन पर गोलियाँ दाग के उन्हें ठण्डे कर देते थे। उनको कोई रोक सकता न था।

सन् 1911 ई. की पहली चीनी क्रान्ति के बाद मंचू राजवंश का तो अन्त हो गया और शासन सूत्र सनयात सेन की क्यूमिनटांग पार्टी के हाथ में आ गया। मगर उनके पास संगठित सेना न होने तथा भीतरी मतभेदों के कारण वह शासन फिर उनके हाथ से निकल के मालदारों, डाकू सरदारों और उनके दोस्तों के हाथ में 1915 में चला गया। युआन शिहकाई नामक फौजी सेना नायक प्रेसिडेण्ट बन बैठा। सनयात सेन परेशान थे। कोई उपाय न सूझने पर उनने 1921 में अमेरिका, इंगलैंड और जापान से आर्थिक सहायता चाही। ताकि अपने क्यूमिनटांग दल का पूरा संगठन करें। मगर किसी ने उन पर विश्वास नहीं किया। क्योंकि वे तो किसानों और मजदूरों के हाथ में शासन देना चाहते थे। इसी से उन्हें सहायता नहीं मिली। अँगरेजों की ज्यादा कोठियाँ यांग्सी नदी के किनारे और शंघाई वगैरह में मध्य चीन में थीं। वहाँ के डाकू सरदार और विद्वान् वूपेईफू को रुपये-पैसे देके उन लोगों ने अपने पक्ष में रखा। उसी का शासन उस अंचल में था भी। उसी पैसे से उसकी फौजें अँग्रेजों की पीठ पर तैयार रहती थीं। उधर उत्तर में मंचूरिया के डाकू सरदार चांगसोलिन को जापान ने मिला लिया था। रुपये-पैसे उसी को वह देता था। 1918 से 1922 तक चांगसोलिन का वहाँ बड़ा ही दबदबा था। 1904-5 वाले रूस-जापान युद्ध में उसने जापान को काफी मदद की थी। पीछे चीन सरकार के मातहत होने पर भी जापान से उसे घूस मिलता ही रहा। मुकदन में उसकी राजधानी थी और वहीं अस्त्र-शस्त्र का एक बड़ा कारखाना उसने बना लिया था, जिससे अपना काम लड़ाई में चलाता था।

चीन के उत्तरी प्रान्तों पर जिनकी राजधानी पेकिंग (आज का पीपिंग) है, अधिकार जमाने के लिए वूपेईफू और चांगसोलिन की लड़ाई बराबर रहती थी। वूपेई का कब्जा हैंकाऊ से पेकिंग जाने वाली रेल तथा यांग्सी की लम्बी घाटी पर था। चांगसोलिन की तरह उसके पास भी हानयांग में अस्त्र-शस्त्र बनाने का कारखाना था। पहली बार 1920 में दोनों के युद्ध में चांग जीता और पेकिंग पर उसने दखल जमाया। मगर जब 1920 में फिर लड़ाई हुई तो चांग हार के मंचूरिया भाग गया। इसमें वूपेई की जीत का कारण उसका ईसाई जनरल फेंगहूसियांग था। इसलिए वू ने उसे ही पेकिंग को गद्दी दे दी। 1924 में पुनरपि चांगसोलिन ने पेकिंग पर धावा किया। उधर वूपेई भी पहुँचा। फिर भी चांग हारा। मगर इस बार फेंग ने अपने सरदार वूपेई को भी धकिया के पेकिंग पर निष्कंटक शासन जमाया। वूपेई हैंकाऊ



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भाग गया। फेंगहूसियांग ने पेकिंग में वैसा ही शासन जारी किया जैसा कि कैन्टन में क्यूमिनटांग पार्टी का था। वह शुद्ध डाकू सरदार नहीं था। उसने धीरे-धीरे सोवियट रूस से दोस्ती भी की और जब 1926 में चांगसोलिन और वूपेईफू दोनों ने गुटबन्दी करके पेकिंग पर धावा किया तो फेंगहूसियांग तो मास्को भाग गया और उसकी सेना बड़ी दिक्कत से उत्तर पश्चिमीय चीन के भाग में जैसे-तैसे जा पहुँची और वहीं रही।

उधर जब सनयातरेन को किसी ने मदद न दी तो 1921 में ही सोवियट रूस से उनने मदद माँगी। यह जान लेना चाहिए कि पहले से ही डॉ. सनयान सेन ने अपनी राष्ट्रीय सभा या पार्टी बना ली थी जिसका नाम क्यूमिनटांग था। इस चीनी शब्द का अर्थ है राष्ट्रीय जनसंघ या पार्टी। ठीक यह वैसी ही है जैसी कि भारतीय कांग्रेस। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी भी बाकायदा 1921 में ही बनी, जिसे कुंग चांग टांग या भाग-उत्पादन-दल कहते हैं। लेनिन के साथ डॉ. सनयात सेन की बातचीत बराबर चालू रही और 1924 में दोनों की रजामन्दी से क्यूमिनटांग का नये सिरे से संगठन हुआ, जिसमें कम्युनिस्ट लोग भी शामिल हुए। कैन्टन में ही राजधानी रही। कैन्टन के पास ही हम्पोआ में फौजी कॉलेज खोल के किसानों और मजदूरों को सैनिक शिक्षा दी जाने लगी। उसी कॉलेज का प्रिंसिपल चियांग कैशेक था। कॉलेज ने काफी फौजी जवान तैयार करके क्यूमिनटांग की सेना खड़ी कर दी और क्वांगटुंग प्रान्त में, जिसकी राजधानी कैन्टन थी, अमन शान्ति स्थापित हो गयी। इस तरह चीन के दक्षिणी भाग में क्यूमिनटांग का प्रभाव था, मध्य में वूपेईफू का और उत्तर में फेंगहूसियांग या यांगस्टोलिन का। बिचले भाग में ही यांग्सी के इलाके में अँगरेजों का और पोली नदी के अंचल में फ्रांसीसियों का ज्यादा प्रभाव था। जापान का तो उत्तर में ही था। शुरू-शुरू में जब क्यूमिनटांग का पुनः संगठन हुआ तो प्रायः रूस की कम्युनिस्ट पार्टी की ही लाइन पर ही हुआ। मगर पीछे ढीला हो गया। कम्युनिस्टों का पहले उसमें काफी असर भी इसीलिए था।

मगर लेनिन और सोवियट रूस की मदद से क्यूमिनटांग का जो नया संगठन हो रहा था उससे उसके सभी मेम्बर खुश न थे। यह ठीक है कि रूस से जो संगठन लीडर बोरोडिन वहाँ आया था वह चाहता था कि उसे किसानों तथा कैन्टन के मजदूरों के बल पर उन्हीं की पार्टी बना लें। तभी वह जनता की पार्टी होगी। उन मजदूरों और किसानों का संगठन भी कम्युनिस्टों ने बोरोडिन के नेतृत्व में बहुत सुन्दर किया था। मगर क्यूमिनटांग में जो व्यापारी और मध्यमवर्ग के सदस्य थे वह तो सिर्फ इस फिक्र में थे कि विदेशियों के साथ उनका व्यापार ठिकाने से फायदे के साथ चलता रहे। उन्हें सर्वहारा क्रान्ति की तो जरा भी चिन्ता न थी। बल्कि उसके वे विरोधी थे। इसी से संगठित किसानों तथा मजदूरों की पार्टी वह बने ऐसा वे चाहते न थे। 1925 के शुरू में ही क्यूमिनटांग के भीतर का यह मतभेद जाहिर होने लगा था। मगर उसी साल पेकिंग में मार्च के महीने में चीन तथा क्यूमिनटांग के सबसे



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बड़े और धुनी नेता एवं मसीहा डॉ. सनयात सेन की मौत हो जाने के कारण सभी मेम्बर शोकाकुल हो गये और कुछ समय के लिए वह मतभेद दब गया।

इतने में 1925 की मई में शंघाई की ब्रिटिश फैक्टरी के कुछ मजदूर बर्खास्त कर दिये गये। इस पर बड़ा जबर्दस्त प्रदर्शन हो गया। साम्राज्यवादियों के विरुद्ध इस प्रदर्शन में ज्यादातर विद्यार्थी ही थे और थे वे निरस्त्र। वहाँ की अन्तर्राष्ट्रीय वाली की विदेशी पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर गोली दाग दी। इस पर आम हड़ताल और अँगरेजी माल का बहिष्कार शुरू हुआ। समूचे चीन में ब्रिटेन के विरुद्ध क्रोध की आग भड़क उठी। क्यूमिनटांग के अड्डे कैन्टन के पास ही हांगकांग में अँगरेजों का बड़ा अड्डा है। कैन्टनवालों ने शंघाई की घटना से पैदा हुई उत्तेजना से लाभ उठाकर हांगकांग वाले अँगरेजों के विरुद्ध भारी प्रदर्शन जून में करवाया। इस पर अँगरेजी और कैन्टन की फौजों में मुठभेड़ हो गयी और गोली चलने से 52 चीनी मरे तथा 117 जख्मी हुए, ऐसी बात कैन्टन-पक्ष की ओर से कही गयी। फिर तो क्यूमिनटांग दल ने हांगकांग का बायकाट करके वहाँ के तीस हजार चीनी मजदूरों को अपने बाल-बच्चों के साथ कैन्टन वापस कर लिया। इससे अँगरेजों की फैक्टरियों में वहाँ ताले लग गये।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हैंकाऊ में जो डाकू सरदार वूपेईफू था उसका झमेला बराबर ही 1920 से 1926 तक बना रहा। इधर 1925 के उत्तरार्द्ध में सारे चीन में साम्राज्यवादियों के विरुद्ध घोर तूफान मचा था और चारों ओर हड़तालें हो रही थीं। इसी मौके से फायदा उठा के कैन्टन की क्यूमिनटांग पार्टी की सरकार ने 1926 के जून में निश्चय किया कि यही मौका है कि हैंकाऊ पर कब्जा कर लिया जाय। वह मध्य में पड़ता है। वहाँ से पेकिंग और शंघाई, नानकिंग वगैरह जाने की रेलें भी हैं। वहीं से कैन्टन को भी रेल जाती है। फलतः वहाँ कब्जा होने पर उत्तरी प्रान्त पर आसानी से अधिकार हो सकता है। यांग्सी नदी भी इसमें खूब मददगार होगी। हाम्पोआ कालेज ने फौजी जवानों को लाखों की तादाद में तैयार कर दिया था ही। रूस से शस्त्रास्त्र भी काफी आये थे।

चियांग कैशेक के नेतृत्व में उनकी फौजों ने हैंकाऊ पर धावा बोल दिया। वूपेईफू तो पेकिंग की लड़ाई में फँसा था। हैंकाऊ वाली उसकी फौज हार गयी और हैंकाऊ में ही क्यूमिनटांग की राजधानी बनी। हान और यांग्सी का वहीं संगम है। चीन का वह वक्षस्थल है। हैंकाऊ के पास वृहान में वे लोग जमे। वहीं से उनकी फौजें पूर्व में शंघाई और नानकिंग की ओर बढ़ीं और सर्वत्र कब्जा हो गया। इधर हैकाऊ में राष्ट्रीयता का केन्द्र कायम हो जाने से मजदूरों का जबर्दस्त संगठन हो गया। दो ही मास के भीतर हड़तालों का ऐसा ताँता बँधा कि मिलवालों ने हार कर मजदूरों के वेतन ड्योढ़े कर दिये। चालाकी से जापानी कारखानों ने ही ऐसा किया। मगर अँगरेजों की जो सबसे बड़ी सिगरेट फैक्टरी थी उसने ऐसा न मान के कारबार



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बन्द कर दिया।

यांग्सी के किनारे हैंकाऊ, नानकिंग आदि जितने बड़े शहर थे और जहाँ कारखाने थे सर्वत्र बड़ी उथल-पुथल थी। जगह-जगह चीनियों के दल के दल गलियों में प्रदर्शन करते और लाल झण्डों के साथ साम्राज्यवाद विरोधी नारे लगाते फिरते थे। मालूम पड़ता था कि किसी भी क्षण दंगा हो के सभी यूरोपीय विदेशियों की जान खतरे में पड़ सकती है। यदि अँगरेजी जहाजों और फौजों से गोलियाँ दागी जातीं तो और भी आफत होने का खतरा था। शंघाई के अँगरेजी समाचार पत्र अपनी सरकार पर जोर दे रहे थे कि क्रान्तिकारियों के विरुद्ध घोषणा कर दी जाय। मगर अँगरेजी सरकार ने देखा कि चीन की समस्त जनता क्यूमिनटांग के साथ है। फलतः हैंकाऊ में क्यूमिनटांग के राष्ट्रवादी विदेश-मन्त्री यूजेनचेन से सुलह की बातें करने के लिए अपने दूत ओमाली को ब्रिटिश सरकार ने भेजा। 1927 के शुरू के दिन थे। सम्भवतः मार्च का महीना था। यूजेनचेन ने समझ लिया कि जब अँगरेज लोग समझौते पर तैयार हैं तो चलो आधा साझा ही सही। सुलह हो गयी। हैंकाऊ, क्यूकियांग आदि स्थानों की सभी विशेष सुविधाएँ अँगरेजों ने छोड़ दीं। चीनी राष्ट्रवादियों का पूरा अधिकार समूची यांग्सी की घाटी पर हो गया और ऐसा प्रतीत होता था कि सभी विदेशी राष्ट्र चीन से सुलह कर लेंगे। उधर फेंगहूसियांग भी मास्को से लौट कर क्यूमिनटांग से आ मिला। ताकि पेकिंग को हथियाने में पूरी मदद दे सके।

इस सफलता के बाद ही चियांग कैशेक का दिमाग आसमान पर चढ़ गया। क्यूमिनटांग में दो पक्ष—दक्षिण और वाम—तो थे ही। दक्षिण पक्ष में व्यापारी, मध्यवर्गीय विदेशियों के एजेण्ट और पढ़े-लिखे लोग थे, जो चाहते थे कि पूँजीवादी प्रणाली के अनुसार शासन चला के विदेशों से व्यापार में फायदा उठाया जाय। दूसरी ओर वाम पक्ष में बोरोडिन, यूजेनचेन और डॉ. सेन की युवती विधवा थी। ये सभी क्रान्ति चाहते थे। ताकि जमींदारी मिटा के सबको खाना कपड़ा दिया जाय और उद्योग-धन्धे स्वतन्त्र रूप से जारी हों। चियांग कैशेक था दक्षिण पक्षियों की ओर फौज भी उसी के हाथ में थी। मगर हैंकाऊं की क्यूमिनटांग में बहुमत था वामपक्षियों का। इसलिए मार्च वाली शंघाई आदि स्थानों की विजय के बाद वह क्यूमिनटांग के दक्षिणपक्षियों से मिल गया और नानकिंग में एक स्वतन्त्र सरकार अप्रैल, 1927 में स्थापित करके हैंकाऊ की सरकार को गैरकानूनी करार दे दिया।

ठीक उसी समय, कहा जाता है, मास्को से एम.एन. राय भेजे गये कि मामले को सुलझायें। मगर इनके आने के बाद और भी गड़बड़ हो गयी। वामपक्षियों में एकता नहीं रही। कम्युनिस्टों के साथ जो शुरू में समझौता हुआ था उसके अनुसार ही साम्यवाद की बात छोड़ के पूँजीवाद क्रान्ति के ही लिए वे लोग यत्न करते थे। मगर दुर्भाग्य से वहाँ जो मास्को की आज्ञा के नाम पर सर्वहारा क्रान्ति की निराधार पुकार मचायी गयी उसके करते कम्युनिस्टों के भीतर मतभेद हो गया। इसी से लाभ



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उठा के चियांग कैशेक ने हैंकाऊ में अपनी फौज भेज दी। बोरोडिन, यूजेनचेन, श्रीमती सनयात सेन ने तो मास्को का रास्ता लिया। बाकी में बहुत से क्यूमिनटांग के सदस्यों ने चियांग का साथ दे दिया। जो विरोधी थे उनका कत्लेआम जुलाई में हो गया। किसानों और मजदूरों की संस्थाओं पर आफत आ गयी। ऐसी निर्दयता से कम्युनिस्ट पार्टी पर प्रहार किया गया कि कुछ कहिये मत। हैंकाऊ से कम्युनिस्टों का सफाया हो गया। रह गया कैन्टन। वहीं पर अपनी सरकार की घोषणा कम्युनिस्टों ने पेरिस कम्यून के ढंग पर 14 दिसम्बर को उसी साल की। मगर चियांग ने वहाँ भी चढ़ाई की और तीन दिन की घोर लड़ाई के बाद वे भी पस्त कर दिये गये।

सन् 1927 के जून में ही चियांग ने पेकिंग पर भी कब्जा करके उसका नाम पीपिंग रख दिया, जिसका अर्थ है उत्तर की शान्ति। मगर निश्चित तौर पर चियांग की राजधानी नानकिंग ही रही। चियांग के मददगार व्यापारी और जमींदार वर्ग थे। उन्हें खुश करने के ही लिए उसने ट्रेड यूनियनों को खत्म कर दिया और जो किसान जमींदारों की जमीनों पर धावा बोलते थे उन्हें तबाह करके वह काम भी बन्द कर दिया। वह कहता था कि अब तो जमींदारों तथा पूँजीपतियों का जुल्म किसानों और मजदूरों पर होने के बजाय किसान और मजदूर ही उलटे जमींदारों तथा पूँजीपतियों पर अत्याचार करते हैं ! इन्हीं सब काले कारनामों को, जिनके द्वारा चियांग ने अपनी तानाशाही कायम कर ली, चियांग का 'कूदिताह' कहा जाता है।

मगर कम्युनिस्टों के साथ चियांग का झगड़ा यहीं खत्म न हो के 1937 के उत्तरार्द्ध तक गया, जबकि पुनरपि उन दोनों का संयुक्त मोर्चा जापान से लड़ने के लिए स्थापित हुआ। इस बीच कम्युनिस्टों ने अपना काम जारी रखा और विदेशी यात्रियों तथा लेखकों ने इस बात को आँखों देख के लिखा है कि 1931 ई. में यांग्सी के उत्तरी किनारे पर हैंकाऊ से 60 मील पश्चिम से ही सोवियट शासन शुरू होता था और डेढ़ सौ मील तक चला जाता था। यांग्सी के दक्षिण तो कैन्टन तक उन्हीं का शासन था। यहाँ सोवियट का सिक्का, नोट वगैरह चालू था। अपने ही तार, डाक, टेलीफोन, स्कूल, अस्पताल थे और फौज भी थी। इसीलिए चियांग ने एके बाद दीगरे उन पर प्रधानतया पाँच बार धावे बोले जिनमें कुल मिला के उसकी अट्ठारह से बीस लाख तक फौजें शामिल हुईं और बड़ी तबाही हुई। पहला हमला 1930 के दिसम्बर से 1931 की जनवरी तक एक लाख फौजों से हुआ। दूसरा 1931 के मई-जून में, दो लाख फौजों से; तीसरा उसी साल जुलाई से अक्टूबर तक तीन लाख से; चौथा 1933 के अक्टूबर से 1934 के अक्टूबर तक दस लाख फौजों से किया गया। बीच में पाँच लाख फौजें 1932 में भी चियांग ने भेजीं। मगर इस बार हमला न करके कम्युनिस्टों के हमलों से अपने इलाके की रक्षा का ही काम उन्हें करना पड़ा। इसी को कोई-कोई चौथा हमला कहते हैं। इस प्रकार तो पचीस लाख फौजों ने हमलों में भाग लिया। आखिरी हमले के समय तंग आके कम्युनिस्टों ने 16/10/34 को



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उत्तर-पश्चिम का ऐतिहासिक महाप्रस्थान किया, जो पूरे एक साल के बाद 20/10/35 में उत्तर शेन्सी प्रान्त में पीली नदी के पश्चिम खत्म हुआ और वहीं पर उत्तर-पश्चिमी चीन में उनने पावआन में अपना शासन जमाया। इस एक साल में उनने पाँच से छः हजार मील तक की भयंकर यात्रा की और ऐसी बहादुरी से कई बार चियांग के घेरों को रास्ते के विकट स्थानों में पार किया कि आश्चर्य होता है और उनकी बहादुरी एवं तत्परता से दिल बाग-बाग हो जाता है। यह तो ऐतिहासिक घटना है। यह भी नहीं भूलना होगा कि चियांग के सभी हमलों का मुकाबिला उनने आमतौर पर ज्यादे से ज्यादा तीस-चालीस हजार सैनिकों से ही सफलतापूर्वक किया। इस तरह चियांग के नाकों चने चबवा दिये।

हमने संक्षेप में जो चीन की परिस्थिति बतायी है उससे साफ है कि 1924 से लेकर 1927 के मार्च तक का समय वहाँ राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे का समय माना गया है। इसी दरम्यान में कम्युनिस्टों तथा चांग कैशेक के पक्षवालों के साथ मिल के सामन्तशाही, जमींदारी और साम्राज्यशाही के विरुद्ध लड़ने की बात तय पायी थी और क्यूमिनटांग में सभी दल मिल के काम करते थे। इसे सनयात-जाफ़े समझौता कहते हैं, जो 1924 में ही डॉ. सनयात सेन और लेनिन के प्रतिनिधि एडोल्फ जाफे के बीच हुआ था। मगर इस समय के पूरा होने के पहले ही कोमिन्टर्न ने वहाँ के कम्युनिस्टों को हिदायत भेजी कि दक्षिणपक्षियों का भंडाफोड़ करो। क्योंकि वे गड़बड़ी करना चाहते हैं। चियांग वगैरह साम्राज्यवादियों से मिल रहे जो थे। आखिर संयुक्त मोर्चे की कुछ शर्तें होती हैं और कोई लक्ष्य होता है। जब उसकी पूर्ति न हो, पूर्ति होने की आशा न हो और एक पक्ष शर्तें तोड़ने को उतारू दीखे तो दूसरा क्यों माने? और जब हमारा लक्ष्य ही पूरा होता न दिखे तो, हम उस संयुक्त मोर्चे को जहन्नुम क्यों न भेजें?

जिन हिदायतों का वर्णन पहले आया है वह तो च्यांग की शैतानियत खुल्लम-खुल्ला शुरू होने के दोई मास पहले भेजी गयी थी। मगर पूरा एक साल पहले ही यह अन्देशा मालूम हुआ था कि गड़बड़ी हो रही है, होनेवाली है। इसीलिए 1926 के अप्रैल में ही कोमिन्टर्न ने यह ताकीद की थी कि, "क्यूमिनटांग से दक्षिण पन्थी जिस तरह निकाले जा सकें या वे खुद हट जायँ वैसा ही काम करना होगा"। इससे और भी साफ हो जाता है कि संयुक्त मोर्चा कोई प्रतिज्ञा या शपथ कसम की बात नहीं है। यह तो अपने लक्ष्य की सफलता के लिए एक चाल जिसे अँगरेजी में मैनुवर कहते हैं। फलतः यदि सफलता में कोई गड़बड़ी दीखे तो संयुक्त मोर्चे की दरम्यान में ऐसा उपाय किया जाना चाहिए जिससे दूसरा दल अंटा चित्त गिरे। आखिर चालों का तो मतलब ही होता है कि विरोधी मात हो। और जब वह उस लक्ष्य की ओर नहीं बढ़ रहा है जिसकी सिद्धि के लिए संयुक्त मोर्चा बना था तो उस बीच में ही, पता पाते ही, ऐसा गिराना चाहिए कि लक्ष्य सिद्धि में बाधा देने की उसे ताकत ही न



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation; Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रह जाय। खास कर सर्वहारा के नेतृत्व को कायम रखने और सफल बनाने का काम जिसने उठाया है उनकी तो जवाबदेही इस मामले में और भी बढ़ जाती है। उन्हें बराबर ही आँख खोल रखना है और आगे-पीछे, दायें-बायें, नीचे-ऊपर देखते रहना है कि उनके उस नेतृत्व में कहीं बाधा तो नहीं खड़ी हो रही है, कहीं धोखा तो नहीं हो रहा है। ऐसा पता चलते ही फौरन उन्हें लड़ने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। यदि सभी माया-मोह और वादों को छोड़कर बेदर्दी और मुस्तैदी से वे ऐसा न करेंगे तो धोखा खा जायँगे।

चीन के ही दृष्टान्त से यह बात भी मानी जाती है कि उपनिवेशों और गुलाम देशों में क्रान्ति की तीन सीढ़ियाँ, तीन दौरें होती हैं। या यों कहिये कि पूँजीवादी, किसान-क्रान्ति या जनतन्त्र क्रान्ति के ही दो हिस्से हो जाते हैं। सर्वहारा क्रान्ति तो ज्यों की त्यों रहती है। उन हिस्सों को सार्वजनिक राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे का समय और किसान या जनतन्त्र क्रान्ति का समय कहते हैं। जहाँ तक पूँजीवादी या मध्यम वर्ग के लोग मजदूरों और किसानों के संगठन के साथ मिल के लड़ना और काम करना चाहते हैं, तहाँ तक ऐसा होता है। ऐसा होने की जहाँ तक सम्भावना और गुंजाइश होती है वहीं तक संयुक्त मोर्चे की दौर या सीढ़ी मानी जाती है। उसके बाद संयुक्त मोर्चे का सवाल जाता रहता है। सभी लोग अलग-अलग लड़ते हैं। हाँ, ऐसा भी होता है कि कभी-कभी मार्क्स और एंगेल्स के शब्दों में तात्कालिक राय परामर्श करके एक साथ भी लड़ते हैं। मगर यह जरूरी नहीं है और न इसके होने पर भी कोई खास ढंग की शर्तें इसमें किसी को करनी पड़ती हैं। दोनों पक्षों का नेतृत्व भी अलग-अलग होता है। न कि संयुक्त मोर्चे की तरह एक ही नेतृत्व होता है। क्योंकि एक नेतृत्व मानने में जैसे क्यूमिनटांग में शामिल होने और उसी के नेतृत्व में लड़ने के समय शर्तें तय पायी थीं, ठीक वैसी शर्तें यहाँ होती हैं नहीं। इसी से यह दूसरी दौर होती है और चीनी क्रान्ति की इस समय यही दूसरी दौर मानी जाती है। वह इसी दौर से गुजर रही है। 1927 की पहली अगस्त को चीन के बारे में रूसी कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय (सेण्ट्रल) कमिटी के सामने जो भाषण स्तालिन ने दिया था उसमें कहा था कि—

"लेनिन के अप्रैल वाले मन्तव्यों को लीजिये और आप देखेंगे कि लेनिन ने हमारे (रूसी) रेवोल्यूशन की दो सीढ़ियाँ (दौरें) मानी हैं। पहली पीढ़ी तो पूँजीवादी जनतन्त्र क्रान्ति की थी, जिसका प्रधान धूरा थी किसानों की हलचल—अर्थात् वह क्रान्ति किसानों की हलचलों और जमीनें छीनने आदि के ही इर्द-गिर्द घूमती थी और उसका यही प्रधान काम था। दूसरी सीढ़ी थी अक्टोबर क्रान्ति की, जिसमें प्रधान धूरा—प्रधान काम था— सर्वहारा के द्वारा शासन-सूत्र को हथियाया जाना। चीनी क्रान्ति की कितनी सीढ़ियाँ हैं? मेरे जानते वहाँ तीन सीढ़ियाँ होनी चाहिए। पहली तो सार्वजनिक राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे वाली थी, जिसे कैन्टन-युग भी कहते हैं (क्योंकि कैन्टन ही



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उस समय राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे का केन्द्र था)। इस समय क्रान्ति ने अपना प्रधान धक्का विदेशी साम्राज्यवाद पर लगाया और उस समय चीन के राष्ट्रीय पूँजीवादी और मध्यमवर्ग वाले क्रान्तिकारी आन्दोलन का समर्थन करते रहे। दूसरी दौर तो पूँजीवादी जनतन्त्र क्रान्ति की थी, जो उस समय से शुरू हुई जब कि राष्ट्रीय फौजें यांग्सी नदी के इर्द-गिर्द विजयी हो गयीं और जबकि राष्ट्रवादी पूँजीपतियों ने क्रान्ति से मुँह मोड़ लिया। मगर किसानों की हलचल उस समय बड़ी जबर्दस्त हो गयी और करोड़ों किसान उसमें खिंच आये। इस समय चीनी क्रान्ति इसी दूसरी दौर से ही गुजर रही है जो (अप्रैल 1927 में शुरू हुई थी)। चीनी क्रान्ति की तीसरी दौर होगी सोवियट क्रान्ति की, जो अभी तक आयी नहीं है और पीछे आयेगी।''

यहाँ एक बात जान लेने की है कि आमतौर से पूँजीवाद की पूर्ण उन्नति के समय यद्यपि पूँजीवादी लोग क्रान्ति विरोधी हो जाते हैं, जैसा कि लेनिन का वचन पहले दिखाया जा चुका है। फिर भी अपवादस्वरूप कहीं-कहीं कुछ पूँजीवादी कुछ समय के लिए परिस्थितिवश क्रान्तिकारी भी बन जाते हैं। लेनिन ने भी 'प्रधानतया' लिखा है, जिसका मतलब यही है कि आमतौर से तो वही होता है। मगर अपवाद -स्वरूप कहीं कुछ लोग कुछ ही समय के लिए क्रान्तिकारी काम करते हैं। सो भी अब तो साम्राज्यवाद और आर्थिक पूँजी तथा फासिज्म के युग में खत्म हो रहा है। इसीलिए स्तालिन ने उसी भाषण में कहा है कि—

''साम्राज्यवादी देशों की क्रान्ति निराली होती है। वहाँ का पूँजीवादी दूसरे देशों को सताने वाला होता है। इसीलिए वह क्रान्ति की सभी दौरों में प्रतिगामी होता है। वहाँ राष्ट्रीयता का भी सवाल नहीं होता, जिसके करते आजादी की लड़ाई चलती है। लेकिन उपनिवेशों और पराधीन देशों की क्रान्ति की तो हालत ही जुदी है। साम्राज्यवादी देशों का जुआ वहाँ क्रान्ति के लिए प्रेरक होता है। वहाँ यह गुलामी राष्ट्रवादी पूँजीपतियों को भी खलती है। इसीलिए वहाँ का राष्ट्रवादी पूँजीपति क्रान्ति की किसी दौर में कुछ समय तक साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलनेवाली अपने देश की क्रान्तिकारी लड़ाई का समर्थन करे यह सम्भव है। वहाँ आजादी की लड़ाई का प्रेरक जो राष्ट्रीयता की भावना है वही क्रान्ति का प्रेरक बन जाती है।''

स्तालिन ने जो गुलाम देश के पूँजीवादियों के सम्बन्ध में अत्यन्त दबी जबान से दशा विशेष में सिर्फ कुछी समय के लिए क्रान्तिकारी बन जाने की सम्भावना बतायी है वह अपवादस्वरूप ही है, जैसा कि पहले कह चुके हैं। लेनिन के पूर्व उद्धृत वचन में जहाँ यह लिखा है वहीं पर यह भी लिखा है कि पूँजीवाद की पूर्ण उन्नति के युग में आमूल परिवर्तनवादी मध्यमवर्गीय सिर्फ एक ही दल है, जिसे किसान कहते हैं। किसान भी तो आखिर निम्न-मध्यमवर्गीय या पेट्टी बूर्ज्वा है और पूँजीवादी भी उच्च-मध्यमवर्गीय है। किसान को तो जमीन की भूख होती है। और वह बिना पैसा-कौड़ी के ही जमीन चाहता है। यह भी नहीं कि सिर्फ भुक्खड़ किसान ही चाहता



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। सुखी, धनी और खाते-पीते किसान भी इसी तरह जमीन चाहते हैं जो बिना छीना-झपटी के हासिल हो नहीं सकती और यही है क्रान्तिकारी तरीका। दरअसल गुलाम देश के पूँजीवादी भी यही चाहते हैं कि हम भी साम्राज्यवादी देशों के पूँजीपतियों के समकक्ष हर बात में हो जायँ। यही वजह है कि उन जैसे ही शासक बनना चाहते हैं और ऐसा न हो सकने पर लड़ते हैं। मगर ज्यों ही शासन हाथ में आया, या आने पर भी किसान-मजदूरों का रुख बुरा देखा कि दकियानूस बन गये। नहीं तो लेने के देने जो पड़े।

इससे सिद्ध है कि गुलाम देशों में जब क्रान्ति की दूसरी सीढ़ी (दौर) शुरू होती है तो संयुक्त मोर्चे का सवाल रही नहीं जाता। क्योंकि पूँजीवादी क्रान्ति के विरोधी बन जाते हैं। आज यही दशा है चीन की और भारत की भी आज की स्थिति ठीक वैसी ही है। क्योंकि किसान क्रान्ति के बिना हमारे देश का भी निस्तार हो नहीं सकता, जैसा कि चीन की बात है। मगर यहाँ के पूँजीवादी राष्ट्रवादी यही चीज नहीं चाहते। वे तो इससे डरते हैं। असल में उनका तथा जमींदारों का स्वार्थ एक-दूसरे से मिला है। फिर उनके साथ संयुक्त मोर्चा कैसा? वे तो चियांग कैशेक की तरह क्रान्ति से मुँह मोड़ चुके हैं। यही बात पामेदत्त ने अपनी ताजी पुस्तक 'आज का भारत' में यों लिखी है—

"किसान क्रान्ति को अब टाला नहीं जा सकता। नवीन भारत के निर्माण की बुनियाद एवं तदनुकूल परिवर्तन को लानेवाली यही क्रान्ति ही प्रधान आकर्षण शक्ति है।"

"भारतीय पूँजीवादियों की जो अनिच्छा जमींदारी प्रथा मिटाने की जरूरत को कबूल करने में देखी जाती है उसका केवल यही कारण नहीं है कि जमींदारों के साथ उसका गहरा गठबन्धन है और दोनों के स्वार्थ एक ही हैं। किन्तु उन्हें इस बात का डर भी है कि किसान क्रान्ति के फलस्वरूप जो ताकतें निकल पड़ेंगी वह उनके वर्ग की खास सुविधाओं तथा पूँजीवादी सम्पत्ति के आधिपत्य एवं शोषण की सारी बुनियाद को ही मिटा देंगी।"

"हमने भारतीय पूँजीवादियों की आगा-पीछा वाली तथा अविश्वसनीय चालें देखी हैं। उनने जहाँ एक ओर राष्ट्रीय आन्दोलन की सेवा की है, तहाँ दूसरी ओर उसे आगे बढ़ने से रोका है और साम्राज्यवादी प्रभाव को यहाँ फैलाने का काम किया है। राष्ट्रीय युद्ध में मजदूरों और किसानों ने जितना ही अधिक भाग लिया है, लड़ाई उतनी ही मजबूत हुई है, उसका लक्ष्य उतना ही पक्का तथा समझौता विरोधी सिद्ध हुआ है, लड़ाई में उसके दाँव-पेंच उतने ही जबर्दस्त हुए हैं और हमारी माँगों की ओर जबर्दस्ती लोगों का ध्यान खींच लाने की शक्ति उसमें उतनी ही ज्यादा हुई है। किसानों और मजदूरों की तरफ से यह काम और भी जितना ही ज्यादा किया जायगा, सार्वजनिक राष्ट्रीय आन्दोलन में समाजवाद और मजदूरों का नेतृत्व और जोर जितना



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही अधिक होगा, किसान आदि दलों में जितना ही ज्यादा एकता होगी, राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रोग्राम तथा आधार क्रमशः जितना ही ज्यादा शोषित जनता के निजी स्वार्थों की तरफ बढ़ता जायगा और उसे ही प्रगट करेगा, राष्ट्रीय संग्राम की विजय उतनी ही ध्रुव होती जायगी। राष्ट्रीय युद्ध को केवल सफलतापूर्वक चलाने के लिए ही यह बात जरूरी नहीं है। किन्तु पूर्ण स्वतन्त्रता की पक्का-पक्की प्राप्ति के लिए भी यह अनिवार्य है।"

"पचास लाख मैंबरों वाली भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने विस्तृत राष्ट्रीय मोर्चे की सिद्धि के लिए एक ऐतिहासिक प्रगति की दौर को अब तक पूरा कर लिया है। मगर राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे की सिद्धि को पूरा कर देने के लिए अभी इस मामले में बहुत ज्यादा प्रगति अपेक्षित है। ताकि भारत की जनता को एक सूत्र में बाँध के संगठित रूप से इस संग्राम में सफलतापूर्वक लगाया जाय।"

पामेदत्त के कथन के अन्तिम वाक्यों से साफ हो जाता है कि कांग्रेस और उसके नेतृत्व ने राष्ट्रीय संग्राम का मोर्चा काफी विस्तृत किया है सही और यह इसीलिए हो सका है कि जनता की बातें और उसके स्वार्थों का प्रतिबिम्ब कांग्रेस में दीखा है, जनता–किसान, मजदूर वगैरह–की लड़ाई शुरू की करायी गयी है, उसे प्रोत्साहन दिया गया है और उस लड़ाई का रूप बहुत कुछ क्रान्तिकारी रहा है। लेकिन इतने से राष्ट्र का पूरा संयुक्त मोर्चा नहीं बन सका। वह विस्तृत मोर्चा सभी शोषितों और पीड़ितों का सच्चा संयुक्त मोर्चा बने इसके लिए और इस बात के लिए भी कि विराट् जनसमूह ऐक्य सूत्र में बाँध के संगठित किया जाय और सफलता के साथ आजादी की लड़ाई में उसे भिड़ाया जाय, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को और भी आगे बढ़ना होगा, अपनी लड़ाई को बहुत ज्यादा क्रान्तिकारी ढंग से चलाना होगा, किसान-मजदूर संगठनों को अपनी सीधी लड़ाई के लिए अधिकाधिक प्रोत्साहित करना होगा, कांग्रेस के प्रोग्राम में किसान मजदूर आदि शोषित जनता के स्वार्थ और उनकी माँगें अच्छी तरह आ जायँ, उन्हीं के आधार पर वह प्रोग्राम बने और उन्हें साफ प्रकाशित करें। यह काम करना होगा। संयुक्त मोर्चे की यह कम से कम शर्तें हैं, यदि हम उसे वास्तविक चीज बनाना तथा सच्ची स्वतन्त्रता–पूर्ण स्वराज्य–प्राप्त करना चाहते हैं। केवल मोर्चे को लम्बा और विस्तृत करने से काम नहीं चलेगा। क्योंकि उस दशा में जो लोग इसमें आयेंगे वह विशृंखलित होंगे, एक सूत्र में बँधे न होंगे और उनका नेतृत्व भी ठीक-ठीक किया जा न सकेगा। उस मोर्चे को संयुक्त रूप में बनाये बिना काम नहीं चलने का।

मगर क्या कांग्रेस यह काम कर रही है? क्या वह यह काम कर सकती है? वह तो उल्टी बात कर रही है। किसानों और मजदूरों की सीधी लड़ाइयों को उसने बन्द कर दिया है और जो ऐसा करते हैं उन्हें कांग्रेस में जगह है ही नहीं ! उन पर अनुशासन की कार्यवाही की जाने लगी है। वे मुल्क के बागी और कांग्रेस के



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शत्रु करार दिये जाने लगे हैं। मालूम होता है, उसे अपनी ही परछाईं से डर लगने लगा है। कांग्रेस ने जो ताकत पैदा की, उसकी लड़ाई के चलते जो ताकतें ऊपर आयीं उन्हीं से अब उसे भय होने लगा है ! ऐसा प्रतीत होता है, उसे अपने ही किये पर पश्चात्ताप होने लगा है ! ठीक उसी तरह जिस तरह 1927 में चियांग कैशेक को चीन में हुआ था।

इसका कारण है और पामेदत्त ने उसे साफ बता दिया है। जहाँ एक ओर वह यह कहते हैं कि कांग्रेस का मध्यमवर्गीय तथा पूँजीवादी नेतृत्व अब जनता की लड़ाई की प्रगति को रोकने लगा है, उसके लिए ब्रेक का काम करने लगा है और उसी के साथ साम्राज्यवादी प्रभाव को इस देश में बढ़ाने का जरिया खुद बन रहा है, जहाँ दूसरी ओर वह यह भी साफ बताते हैं कि एक तो जमींदारों और पूँजीपतियों के स्वार्थ एक-दूसरे के साथ झोल मट्ठा बने हुए हैं, गुँथे हैं। दूसरे उन्हें यह भय है कि कहीं-ऐसी शक्तियाँ जाग न जायँ जो पूँजीवाद, तनमूलक शोषण या व्यक्तिगत सम्पत्ति को ही इस मुल्क से बहा लें जायँ—मिटा दें। ऐसी दशा में संयुक्त मोर्चे का सवाल ही कहाँ उठता है जबकि यहाँ उलटी ही गंगा बहती है? उसके लिए समाजवादी विचारों और मजदूर-वर्ग का नेतृत्व चाहिए, जिसमें किसान पूरा-पूरा हाथ बँटाते हों। यही उनका कहना है। मगर यहाँ तो कांग्रेस के मध्यमवर्गीय नेता अपना नेतृत्व अक्षुण्ण रखने पर तुले बैठे हैं। फिर संयुक्त मोर्चे की आशा ही क्यों कर हो? हम इस मृगमरीचिका के पीछे मरें क्यों?

जैसे कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के बनने के पूर्व यहाँ की दशा से चीन की उस दशा का मेल था जो 1924 और 1927 के मार्च के बीच में थी, उसी प्रकार यहाँ भी एक प्रकार की संयुक्त मोर्चे जैसी चीज थी। कांग्रेस में उस समय किसान, मजदूर और अन्य वर्गों का संयुक्त मोर्चा पक्का और सही था यह तो कहा नहीं जा सकता। क्योंकि चीन के जाफे सनयात सेन समझौते जैसी कोई चीज यहाँ न थी। यहाँ के किसान-मजदूर नेताओं ने मध्यमवर्गीय नेताओं के साथ ऐसी कोई भी शर्त करके कांग्रेस में अपने को शामिल नहीं किया था। याद रहे कि जाफे सनयात सेन ऐग्रीमेण्ट में अन्यान्य शर्तों के साथ यह शर्त भी थी कि क्यूमिनटांग का संगठन कम्युनिस्ट पार्टी के ही ढंग का होगा, जिसमें किसानों और मजदूरों के पूर्ण प्रतिनिधित्व के लिए भरपूर गुंजाइश हो और उनकी लड़ाइयाँ ठिकाने से चलायी जा सकें। आज जो कम्युनिस्टों के चीनी नेता मावसेतुंग वगैरह हैं उन्हीं के जिम्मे किसानों और मजदूरों के संगठन का डिपार्टमेण्ट क्यूमिनटांग सरकार ने खोला भी था। मगर कांग्रेस में क्या कभी भी ऐसा हुआ है, होने दिया गया है? क्या क्यूमिनटांग जैसा कांग्रेस का विधान बन सका है, बना है? पहले तो ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। मगर जब हमारी किसान सभा ने 1935 में फंक्शनल रेप्रेजेण्टेशन या कामों तथा पेशों के अनुसार कांग्रेस में प्रतिनिधित्व की अत्यन्त सीमित योजना रखी, तो साफ-साफ इनकार किया गया



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कि ऐसा नहीं हो सकता है !

मुख्य दलील यह दी गयी कि किसान और मजदूर सभाएँ कांग्रेस पर कब्जा कर लेंगी। हालाँकि इस खतरे की गुंजाइश ही नहीं रखी गयी थी। पीछे क्या होता यह दूसरी बात थी। मगर तत्काल तो ऐसी बात नहीं थी। मगर उन लीडरों को तो दूर तक की चिन्ता थी। वे तो सोचते थे और आज भी सोचते हैं कि कांग्रेस पर कभी भी किसानों और मजदूरों का नेतृत्व होई नहीं। गोया मुल्क में बहुमत जमींदार, मालदारों और उनके दोस्तों का ही है। यदि किसान सभा और मजदूर सभी का प्रभुत्व कांग्रेस में रोकना था और है और कांग्रेसी लीडर यह दावा करते हैं कि किसानों का प्रतिनिधित्व वही करते हैं, तो फिर उन्हें खतरा क्या है? तब तो किसान सभाएँ और मजदूर सभाएँ ताकती ही रह जायँगी। मगर बात दरअसल यह है कि यही सभाएँ सचमुच किसान-मजदूरों का प्रतिनिधित्व करती हैं, कर सकती हैं। इसीलिए वे डरते हैं और कांग्रेस में चवनियाँ मेम्बरों का नकली प्रतिनिधित्व बराबर कायम रखना चाहते हैं।

इस बात को पामेदत्त ने यों लिखा है—

"सबसे बड़ी बात यह है कि आम जनता का राष्ट्रीय संग्राम में पूरा भाग लेना अभी बाकी ही है। इसीलिए तदनुकूल ही उसके संगठन का राजनीतिक स्पष्टीकरण भी नहीं हुआ है। मौजूदा कांग्रेस का आधार तो व्यक्तिगत सदस्यता है, जिसके लिए सालाना चार आना चन्दा देना पड़ता है (पश्चिमीय घटकों को यह चन्दा बहुत ही थोड़ा लगता होगा। लेकिन वास्तव में यह किसान समूह की शक्ति के बाहर है। यही कारण है कि प्रारम्भिक (प्राइमरी) कांग्रेस कमिटियों के चुनाव में गाँवों के गरीब किसानों तथा चुनाव के असली मतदाताओं में कोई मेल नहीं होता। गाँववाले बेचारे अकसर चुनावों में आते और चाहते भी हैं कि फलाँ आदमी चुना जाय। मगर मत तो वे दे सकते नहीं—फलतः जिन्हें वे नहीं चाहते वही चुने जाते हैं !) देखने के लिए जो कांग्रेस के पचास लाख मेम्बर कहे जाते हैं। इससे लोगों को यह धोखा हो जाता है कि सचमुच अँगरेजी भारत के सत्ताईस करोड़ लोगों में जो नीचे दबा हुआ जनसमूह है उसके बहुत ही निकट कांग्रेस है। प्रान्तीय कांग्रेसों (कॉन्फ्रेंसों) तथा राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधियों और प्रान्तीय कांग्रेस कमिटियों, आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी एवं वर्किंग कमिटी के मेम्बरों की सामाजिक स्थिति (कि कौन किस वर्ग का वास्तव में है) का यदि विश्लेषण किया जाय तो इस बात पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ेगा कि जोतने-बोनेवाले किसानों और कल-कारखानों के मजदूरों—जो देश की जनसंख्या का बहुत बड़ा हिस्सा है—को कांग्रेस की प्रमुख संस्थाओं के निर्माण में अमली तौर पर कितना अधिकार मिला है। बेशक कांग्रेस इसी माने में जनता के निकट है कि उसे राष्ट्रीय संस्था माना जाता है जो उनके नाम पर बोलती है और जिसकी संस्थाएँ जनता के भीतर दूर तक फैली हुई हैं। लेकिन किसी संस्था



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में, जिसके क्रियाशील कार्यकर्ता, जो जनता में काम करते हैं, प्रधानतया एक-दूसरे ही वर्ग के हैं और उस संस्था में जिसके कार्यकर्ता सीधे ही जनता की अपनी संस्थाओं के द्वारा चुने जायँ, सचमुच ही महान् अन्तर अवश्यम्भावी है। कांग्रेस के बड़े नेताओं में, जो पूँजीवादी असर के नीचे अच्छी तरह दबे हैं, और जनता के सामूहिक (किसान-मजदूर) आन्दोलनों में जो खाई अकसर देखी जाती है उसे समझने के लिए वह असली कुंजी है।"

संक्षेप में जो चित्रण ऊपर किया गया है वह वर्तमान कांग्रेस की असली दशा का पता बता देता है। जो लोग संयुक्त मोर्चे की रट बराबर लगाते रहते हैं और उसमें तथा तात्कालिक राय सलाह में कोई अन्तर नहीं देखते, उन्हें इस पर पूरा गौर करना चाहिए। लेकिन इतना तो साफ होई जाता है कि मन्त्रिमण्डल बनने के पूर्व भी वास्तविक संयुक्त मोर्चे की बात कांग्रेस में नहीं थी। क्योंकि दोनों के बीच कोई ऐसी शर्त नहीं थी कि क्या-क्या करना होगा। क्यूमिनटांग की तरह उसका संगठन नये सिरे से न तो बनाया गया और न उस पर जोर दिया गया। पुराना संगठन तो वैसा था ही नहीं।

उसके बाद तो कांग्रेस की वही हालत हो गयी है जो क्यूमिनटांग की 1927 के मार्च के बाद हो गयी। फलतः अगर वहाँ संयुक्त मोर्चे व तात्कालिक परामर्श का सवाल न पैदा हुआ तो फिर यहाँ क्या कहना? हाँ, आज चीन में फिर संयुक्त मोर्चा बना है, जो 1937 के आखिर में बना और अब तक चालू है। जिस परिस्थिति में वहाँ यह कायम हुआ है उसी परिस्थिति में उसी तरह यहाँ भी हो सकता है। इस बात पर विशेष प्रकाश तो आगे डाला जायगा। मगर इतना तो यहाँ जान ही लेना होगा कि चियांग कैशेक और कम्युनिस्ट पार्टी के बीच 1936 के अन्त में 12/12/36 के बाद कुछ शर्तें तय पायी गयी थीं और उनके फलस्वरूप यह संयुक्त मोर्चा जापान से लड़ने के लिए 1937 में कायम हुआ है। जिस प्रकार पहले दोनों की गर्ज से संयुक्त मोर्चा बना था, इसीलिए दोनों ने मिल कर शर्तें तय की थीं, ठीक उसी प्रकार इस बार भी दोनों की गर्ज से ही यह बात हुई थी। यदि पहले सनयात सेन को मजबूरन वैसा करना पड़ा तो इस बार चियांग कैशेक को ही वैसी बात करनी पड़ी है। उसके लिए दूसरा रास्ता रह ही नहीं गया था। अगर कम्युनिस्टों से वह मेल नहीं करता तो न तो खुद बच पाता और न उसकी पार्टी (क्यूमिनटांग) की ही खैरियत थी। वह खुद तो कम्युनिस्टों के हाथ में कैद हो चुका था और साफ ही उसने कहा था कि मुझे फौरन मार डालो। मगर उनने ऐसा नहीं किया। उसकी पार्टी और सरकार को तो जापान मिटाने पर तुला बैठा था। आज भी वह ऐसा ही चाहता है। इसीलिए मजबूरन उसने कम्युनिस्टों से सुलह की। यदि इस महायुद्ध के बाद कहीं वैसी ही स्थिति यहाँ भी आ गयी, तो शायद यहाँ भी वही बात हो, हालाँकि इसकी बहुत ही कम आशा है। यदि विजयी ब्रिटिश साम्राज्यशाही ने जापान की ही



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तरह भारत पर अपना खूनी पंजा कस के जमाना चाहा, तो इसका मौका यहाँ भी आ सकता है। मगर मौके से क्या होगा? कांग्रेस के नेतृत्व में हिम्मत शेष रही तभी न? इसके लिए और भी बातें जरूरी हैं, जिन पर आगे प्रकाश डाला जायगा जहाँ चीन के वर्तमान संयुक्त मोर्चे पर विचार करेंगे और उसकी हकीकत का ब्योरा बतायेंगे।

यहाँ तो इतना ही कह देना काफी है कि हम यहाँ क्रान्ति की दूसरी दौर से, जिसे किसान क्रान्ति का दौर कहते हैं, गुजर रहे हैं और इसमें कांग्रेस का नेतृत्व न तो किसान क्रान्ति का समर्थन करेगा और न संयुक्त मोर्चा बनेगा। क्योंकि हम उस क्रान्ति को तो छोड़ सकते हैं नहीं। चाहे संयुक्त मोर्चा हो या तात्कालिक राय परामर्श और समझौता। हर हालत में हम अपना असली लक्ष्य और उसके साधनों को छोड़ कर कुछ भी नहीं कर सकते हैं। उपनिवेशों के बारे में इस सम्बन्ध में लेनिन ने जो कुछ कहा है उससे हमारे लिए गुंजाइश रही नहीं जाती कि हम भारतीय कांग्रेस से संयुक्त मोर्चा, या तात्कालिक समझौता कर सकें। हाँ, वह साम्राज्यवाद पर जो भी धक्के लगायेगा, फिर चाहे वे कितने ही कमजोर हों, उनमें हम बाधा डाल नहीं सकते। वह चाहे तो हमसे तात्कालिक कामचलाऊ समझौता भी कर ले। मगर हम अपना आन्दोलन और कार्यक्रम छोड़ के यह बात न करेंगे, यही लेनिन का आदेश है। वह कहता है—

"कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल (कम्युनिस्टों की अन्तर्राष्ट्रीय संस्था या थर्ड (तीसरा) इण्टरनेशनल) को चाहिए कि उपनिवेशों तथा पिछड़े मुल्कों के पूँजीवादियों की जनतन्त्रवादी संस्थाओं के साथ तात्कालिक समझौता, या दोस्ती भी, कर लें। मगर उनमें घुल-मिल तो हर्गिज न जाय। किन्तु बिना किसी बन्धन और शर्त के क्रान्तिकारी (सर्वहारा का) आन्दोलन, चाहे अत्यन्त सूक्ष्म, बीज या प्रारम्भिक रूप में ही क्यों न हो, की स्वतन्त्रता कायम रखे। हम कम्युनिस्ट लोग उपनिवेशों में होने वाले पूँजीवादियों के द्वारा संचालित आजादी या जनतन्त्र-शासन के आन्दोलनों का समर्थन तभी करेंगे जबकि वे सचमुच क्रान्तिकारी हों और जब उनके प्रतिनिधि (नेता) हमें किसानों तथा बहुसंख्य शोषितों को क्रान्तिकारी ढंग से संगठित क़रने एवं शिक्षित करने में बाधा न डालें।"

इतना ही नहीं, 1926 में रूस स्थित कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल (कोमिण्टन) ने चीन के बारे में नवम्बर में जो निर्णय किया था वह भारत जैसे सभी उपनिवेशों तथा गुलाम या अर्ध-गुलाम देशों में लागू है। चीन को भी अर्द्ध-उपनिवेश या अर्द्ध-गुलाम कहते हैं। वहाँ भी साम्राज्यवाद के विरुद्ध ही संग्राम चालू है और किसान क्रान्ति की सीढ़ी से ही वह देश गुजर भी रहा है। वह निर्णय यों है—

"वर्तमान स्थिति का जो निरालापन है वह यही है कि यह सन्धिकाल है, जिसमें सर्वहारा को दो में से एक को पसन्द करना होगा। यह या तो पूँजीवादियों के एक खासे दल के साथ गुटबन्दी कर ले, या किसानों के साथ वाली अपनी मैत्री और



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भी मजबूत बना डाले। यदि इस समय सर्वहारा (कम्युनिस्ट लोग) किसानों के सम्बन्ध के आमूल परिवर्तन लानेवाले कार्यक्रम के अनुसार काम करने में चूके, तो उनके लिए गैरमुमकिन होगा कि किसानों को अपनी क्रान्तिकारी लड़ाई में खींच सकें। फलतः राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन में वे अपना नेतृत्व खो बैठेंगे।"

"कैन्टन की राष्ट्रीय सरकार अपने हाथों में शासन-सूत्र रख न सकेगी, विदेशी साम्राज्यवाद पर पूरी विजय पाने के लिए क्रान्ति अग्रसर हो न सकेगी, और स्वदेशी प्रतिगामियों पर भी उसकी पूरी जीत हो न सकेगी जब तक राष्ट्रीय आजादी के आन्दोलन को किसान क्रान्ति का रूप नहीं दिया जायगा।"

इसी वक्तव्य पर जो भाषण स्तालिन ने दिया था वह और भी मार्के का है। वह कहता है कि—

"मैं जानता हूँ कि क्यूमिनटांग में और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी में भी ऐसे आदमी हैं जिनको यह विश्वास नहीं है कि क्रान्ति की लहर गाँवों में ले जाना सम्भव है। उन्हें डर है कि इस प्रकार किसानों को क्रान्तिकारी उथल-पुथल में खींच लाने पर साम्राज्यवाद विरोधी संयुक्त मोर्चा टूट जायगा। लेकिन, साथियो, यह भारी भूल है। जितनी ही तेजी और जितना ही पूर्ण रूप से किसानों को क्रान्ति में लाया जायगा चीन में साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चा उतना ही बलवान और शक्तिशाली बनेगा।

"मुझे मालूम है कि चीनी कम्युनिस्टों में ऐसे भी साथी हैं जिनका विश्वास है कि भौतिक सुखों और कानूनी सुविधाओं के लिए इस समय मजदूरों की हड़ताल का होना अवांछनीय है। इसीलिए वे मजदूरों को हड़ताल करने से रोकते हैं।

"साथियो, यह बड़ी भारी भूल है। इसका तो यह मतलब है कि चीन के मजदूरों के खास महत्त्व और कर्त्तव्य की कीमत हम समझ नहीं रहे हैं। मन्तव्यों में इस बात को अत्यन्त निषेधात्मक दृश्य के रूप में रखना होगा। वर्तमान अनुकूल परिस्थिति से फायदा उठा के यदि चीनी कम्युनिस्ट मजदूरों की सहायता नहीं करते, ताकि वे अपनी खान-पान आदि और कानूनी (सभा वगैरह करने की) सुविधाएँ, यदि जरूरत हो तो, हड़ताल के जरिये भी प्राप्त करें, तो यह बहुत बड़ी भूल होगी। तब चीन में क्रान्ति से फायदा ही क्या?"

इसके एक महीने बाद जब दिसम्बर में चीन से कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल के पास तार-पर-तार, पत्र-पर-पत्र और संवाद पर संवाद आने लगे थे और बड़ी सनसनी थी, बड़ा अन्देशा था कि हड़तालों आदि के चलते बहुत-सी मिलें बन्द हो रही हैं, बहुतेरे मजदूर बेकार हो रहे हैं और इस तरह मजदूरों के संघर्ष से स्थिति संगीन होती जा रही है, तब इण्टरनेशनल ने जो उत्तर भेजा था वह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। संवाद भेजने वाले चाहते थे कि हड़ताल और प्रदर्शन वगैरह बन्द हो जाय। मगर इण्टरनेशनल ने साफ लिखा कि ऐसा नहीं हो सकता है। साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ी जानेवाली लड़ाई का दूसरा रूप तो हो सकता ही नहीं और अगर इसके करते



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संयुक्त मोर्चा टूटता है तो टूटे। तब तो वह मोर्चा निरा नकली ही माना जाना चाहिए। इण्टरनेशनल का उत्तर सुनिये—

"शहरों में आमतौर से लड़ाई से पीछे हट जाना और मजदूरों के लिए सुविधाएँ दिलाने की लड़ाइयाँ बन्द कर देना, यह नीति गलत है। गाँवों में भी संघर्षों को बढ़ाना चाहिए। लेकिन साथ ही अनुकूल समय से फायदा उठा के मजदूरों की भौतिक और कानूनी दशा को सुधारना चाहिए। मगर हर तरह से यह कोशिश होनी चाहिए कि मजदूरों की लड़ाई संगठित ढंग से हो, जिससे ज्यादतियाँ होने न पायें और जल्दबाजी में कोई काम न हो। विशेष ध्यान इस बात पर रहे कि शहरों के संघर्ष बड़े साम्राज्यवादियों के विरुद्ध चलाये जायँ। ताकि चीन के टटुपुँजिये और मध्यमवर्गीय सम्पत्तिजीवियों को जहाँ तक हो सके सर्वसाधारण शत्रु के विरुद्ध वाले संयुक्त मोर्चे में साथ रखा जा सके। (शुरू में जो आमतौर से पीछे हटना मना किया है उसका मतलब यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि टटुपुँजिये और मध्यमवर्गीयों के विरुद्ध जहाँ तक हो, संघर्ष रोका जा सकता है। वह बड़ों के विरुद्ध चलाया जाना चाहिए)। समझौता संघ, पंचायती अदालतें आदि कायम करना हम ठीक मानते हैं, बशर्ते कि इनकी उचित नीति मजदूरों के बारे में ठीक की जा सके। लेकिन इसी के साथ हम यह कह देना जरूरी मानते हैं कि हड़तालों और मजदूरों की मीटिंगों को रोकने के लिए फरमान जारी कर देना बिलकुल ही अनुचित है। यह प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसलिए हमारा आपसे कहना है कि नियमित खबरें भेजते रहें।"

आगे बढ़ने के पहले यहाँ कुछ विचार कर लेना जरूरी है। हमने कई उद्धरण दिये हैं जो निहायत ही अहम हैं। सबसे पहले 1926 वाले कामिग्टर्न के वक्तव्य को लीजिये। चियांग कैशेक के 'कूदिताह' के एक वर्ष पूर्व ही उसने चीनवालों को आगाह कर दिया था कि आसार अच्छे नहीं हैं, सजग रहो। मालदारों से साथ भी रहे और किसानों तथा मजदूरों की आपसी मैत्री भी कायम रहे, यह होने का नहीं। दोनों में एक ही बात हो सकती है। इसीलिए साफ आदेश दिया गया है कि यदि आजादी के युद्ध में कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व—मजदूरों की लीडरी—कायम रखनी है, तो हमें किसानों के जमीन वगैरह छीनने का मौलिक कार्यक्रम अपनाना ही होगा। दूसरा चारा नहीं। इससे तो फिसड्डी संयुक्त मोर्चे को धता बताना स्पष्ट हो जाता है। यहाँ तो राष्ट्रीय सरकार के कायम रखने और साम्राज्यवाद पर विजय पाने के लिए भी किसान क्रान्ति पर जोर देना तथा उसे ही अपनाना जरूरी माना गया है। यदि कांग्रेसी मन्त्री लोग भी ऐसा ही करते तो संयुक्त मोर्चे की बात का कुछ मतलब समझ में आता। हालाँकि फिर भी यह खतरा तो रही जाता कि नेतृत्व मध्यमवर्गीयों का ही होगा और वे मौके पर आगे धोखा दे सकेंगे। मगर यहाँ तो उतना भी नहीं किया गया। फिर भी संयुक्त मोर्चे का दमामा हमारे कुछ क्रान्तिकारी दोस्त बजाते फिरते हैं।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस पर जो स्तालिन का भाषण है वह कबूल करता है कि चीनी कम्युनिस्टों में कुछ लोग ऐसे हैं और क्यूमिनटांग के वामपक्षियों में भी ऐसे लोग हैं जो मानते हैं कि गाँवों में क्रान्ति की हवा फैलाने से जमींदार मालदार रुष्ट हो जायँगे और संयुक्त मोर्चे की कमर टूट जायगी ! मगर स्तालिन उन्हें मीठे-मीठे शब्दों में फटकारता हुआ कहता है कि किसानों में यह बात जितनी ही तेजी और मुस्तैदी से फैलेगी यह मोर्चा उतना ही मजबूत और ताकतवर होगा ! यह उल्टी बात है ! मगर असलियत तो यही है, बेशक, इससे मालदारों की पाँचों घी में न रहेंगी और यही कारण है उनके तोबातिल्ला मचाने का। उन्हें तो अपना उल्लू सीधा करनां है। इसीलिए मोर्चा टूटने का शोर-शराबा मचा के क्रान्तिकारियों को भी भ्रम में डाल देते हैं। मगर सिर्फ किसानों की ही बात से यह हाय-तोबा नहीं मची है। ये भलेमानस तो मजदूरों की हड़तालों और लड़ाइयों को भी इसी नकली संयुक्त मोर्चे की वेदी पर बलिदान कर देना चाहते हैं। अतः उन पर भी करारी डाँट पड़ी है। स्तालिन कहता है कि यही तो करारा मौका है कि जैसे-तैसे लड़-झगड़ के मजदूरों को आराम दिलाया जाय। सारांश यह है कि किसानों और मजदूरों दोनों की ही लड़ाइयाँ जारी रख के और समय-समय पर खड़ी करके ही असली संयुक्त मोर्चा बनाया जा सकता है, जो क्रान्ति की ओर देश को ले चलेगा। स्तालिन तो यहाँ तक कहता है कि यदि हमने यह नहीं किया तो चीनी क्रान्ति का कुछ मतलब हुई नहीं।

जो अन्तिम उद्धरण है उसमें इसी बात पर जोर दिया गया है। मगर उसका महत्त्व और भी ज्यादा इसीलिए है कि जब चीनी कम्युनिस्टों तक में घबराहट हो गयी कि मजदूरों की हड़तालों से क्यूमिनटांग पार्टी में दलबन्दी हो जायगी और संयुक्त मोर्चा टूट जायगा। इसलिए वे बन्द कर दी जाय तो, उन्हें फटकार मिली कि खबरदार, ऐसा नहीं कर सकते हो। इस उद्धरण से यह भी झलकता है कि घबरा के वे लोग यह करना चाहते थे कि गाँवों में हम कोमिन्टर्न की आज्ञानुसार काम करें। मगर शहरों में हड़ताल वगैरह रोक दें। इस पर जवाब मिला कि नहीं, ऐसा नहीं होने का। गाँवों में भी यह काम जारी करो सही और मुस्तैदी से करो। मगर शहरों में भी ढीलापन हर्गिज न हो। आमतौर से हड़ताल, प्रदर्शन वगैरह का रोका जाना तो खतरनाक है, बुरा है। हाँ, छोटे-मोटे और मध्यम दर्जे के कल-कारखानेदारों के खिलाफ यह काम रोका जा सकता है, बशर्ते कि वह हमारी लड़ाई में साथ देने को राजी हों। लेकिन यदि उनसे या उनमें जिनसे यह आशा न हो उनके साथ कोई रिआयत नहीं होनी चाहिए। बड़े-बड़े कारखानेवालों और साम्राज्यवादियों के साथ तो किसी भी हालत में भी कोई रिआयत की जा सकती नहीं। उनसे तो लड़ना ही होगा।

किसानों और मजदूरों की क्रान्तिकारी लड़ाइयों को साथ चलाने की बात कहने और किसानों को इसमें खींचे बिना तथा किसान क्रान्ति को प्रसार दिये बिना राष्ट्रीय आजादी के आन्दोलन का नेतृत्व मजदूरों के हाथ से छिन जाने की बात कहने का



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भीतरी आशय यह है कि जब तक वामपक्ष की सारी शक्तियाँ सम्मिलित न हों, जब तक पहले उन्हीं का संयुक्त मोर्चा न बन जाय और जब तक किसान, मजदूर आदि पीड़ितों का संयुक्त मोर्चा कायम न हो जाय, जिसे वर्कर्स फ्रण्ट कहिये, या शोषितों का फ्रण्ट कहिये, तब तक बाकियों के साथ—पूँजीपतियों और दूसरे मध्यमवर्गीयों के साथ—संयुक्त मोर्चा होई नहीं सकता, और अगर कहने के लिए बन भी जाय तो क्रान्ति की दृष्टि से उसका कोई मतलब होई नहीं सकता। क्योंकि उसकी शर्तें चाहे कितनी भी सुन्दर क्यों न हों, उनका उपयोग क्रान्ति के लिए हर्गिज हो नहीं सकता। कारण, मालदार और उनके दोस्त वामपक्षियों में ही किसी न किसी को अपनी ओर मिला के वे शर्तें तोड़ भी देंगे और हमें चूँ तक करने भी न देंगे। हमीं में एक-दूसरे को आपस में ही लड़ा के वे अपना उल्लू सीधा कर लेंगे और उस संयुक्त मोर्चे से सिर्फ अपना ही फायदा उठायेंगे। इसीलिए उसके पहले शोषितों और पीड़ितों का संयुक्त मोर्चा अनिवार्य है और अगर यह नहीं होता तो पूँजीवादियों के साथ संयुक्त मोर्चे की चर्चा भी बेकार है। मगर अफसोस यही है कि हमारे देश में उलटी गंगा बह रही है। वामपक्षियों की एकता तो है नहीं और अगर उसकी कोशिश भी होती है तो कुछ लोग तरह-तरह के अड़ंगे लगाते हैं। फिर भी पूँजीवादियों और उनके दोस्तों से संयुक्त मोर्चे की दिन-रात पुकार वही सबसे ज्यादा मचाते रहते हैं !

पहले जो वर्कर्सफ्रण्ट और पीपुल्सफ्रण्ट की बात कही गयी है उसका भी मतलब इसी से समझ में आ जाता है। बातें तो दोनों ही संयुक्त मोर्चों की सही हैं और वे अपने-अपने स्थान पर दुरुस्त भी हैं। मगर जो लोग ऊपर लिखी बातें समझते ही नहीं, या समझ के भी नासमझी करते हैं वे दोनों में एक को ही पकड़ के सही मानते और दूसरे को गलत बताते हैं। यह तो हाथी वाली बात हुई कि अन्धों में किसी ने उसका सूँड, किसी ने उसकी पूँछ, किसी ने टाँगें और किसी ने धड़ पकड़ के हाथी का जुदा-जुदा स्वरूप बताना शुरू किया। इतना ही नहीं। परस्पर एक-दूसरे के कहने को गलत ठहराने भी लगे। हालाँकि सभी अधूरी बातें ही बोलते थे। सबों की बातें मिला देने पर ही दरअसल हाथी का पूरा स्वरूप बताया जा सकता है। इसी तरह न तो सिर्फ मजदूरों का संयुक्त मोर्चा ही काफी है और न जनता का ही मोर्चा। किन्तु पहले तो मजदूरों या शोषितों का ही बनाना होगा और उसके बाद ही बाकियों के साथ भी मौके के मुताबिक करना होगा। पहली बात होने पर दूसरे लोग ख़ामखाह जरूरत देख के खिंच आयेंगे। क्योंकि ताकत देखकर सभी झुकते हैं। यही बात आज चीन के कम्युनिस्टों और चियांग कैशेक के बीच देखी जा रही है।

शोषितों तथा वामपक्षियों का संयुक्त मोर्चा ही सबसे पहले होना चाहिए इस बात को चीन के बारे में दिखाया गया है। वहाँ जो क्यूमिनटांग में वामपक्षी लोग थे और जिनका नेतृत्व कम्युनिस्ट लोग करते थे, उन सबों का आपस में पूर्ण संयुक्त



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मोर्चा था। इसीलिए चियांग कैशेक और उसके दल के दक्षिणपक्षी बराबर डरते थे और साथ देते थे। काम भी इसीलिए क्रान्तिकारी ढंग से ही बराबर होता रहा। मगर जैसा कि पहले दिखाया गया है, जब 1926 के शुरू से ही वामपक्षियों में कुछ न कुछ गड़बड़ी चली, यहाँ तक कि कम्युनिस्टों में भी एक दल ऐसा हो गया जो किसानों, मजदूरों या दोनों की ही क्रान्तिकारी लड़ाइयों के बारे में आगा-पीछा करने लगा, तो दक्षिणपक्षियों की हिम्मत बढ़ी और एक साल बीतते न बीतते उनने संयुक्त मोर्चे को न सिर्फ दफनाया, प्रत्युत वामपक्षियों को मटियामेट करने में सारी ताकत लगा दी। यही है चियांग कैशेक के 'कूदिताह' का असली रहस्य। जब क्रान्तिकारियों और वामपक्षियों में ही तू-तू मैं-मैं होने लगी तो फिर जनता के भीतर गड़बड़ी का होना और इससे चियांग कैशेक का फायदा उठा लेना आवश्यक था। ऐसा होते ही—वामपक्षियों के भीतर मतभेद होते ही—सबसे पहले तो उनसे शहरों के निम्न-मध्यम श्रेणी वाले, पढ़े-लिखे तथा लोकतन्त्रवादी हट गये और इस तरह वामपक्षीय संयुक्त मोर्चे के भंग होते ही दक्षिणपक्षी उन पर टूट ही तो पड़े। मगर जब तक इन सबों के साथ किसानों और मजदूरों का संयुक्त मोर्चा क्यूमिनटांग के वामपक्षीय दल में था तब तक उन पर हमला करने की हिम्मत किसी को भी न थी। यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि जरा भी गड़बड़ी होते ही निम्न-मध्यम श्रेणीवाले घबराकर पूँजीपतियों से जा मिलते हैं। यही बात 1927 के मार्च-अप्रैल में चीन में भी हुई।

इस खतरे के बीज का अन्दाज एक साल पहले ही लगाकर 1926 के फरवरी-मार्च में जो लम्बा वक्तव्य कोमिन्टर्न ने चीन के बारे में तैयार किया था उससे यह बात बखूबी साफ हो जाती है। इसीलिए उसका कुछ आवश्यक अंश यहाँ लिख देना जरूरी है। वह यों है—

"सन् 1925 के जून-सितम्बर में जो चीनी मजदूरों ने राजनीतिक हड़तालें की थीं उनने विदेशी साम्राज्यवादियों के विरुद्ध चीनी लोगों की आजादी की लड़ाई में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ला दिया है। मजदूरों की इस राजनीतिक हलचल ने मुल्क के क्रान्तिकारी जनतन्त्र संगठन की अग्रगति और मजबूती में, और सबसे बढ़कर राष्ट्रीय क्रान्तिकारी क्यूमिनटांग पार्टी तथा कैन्टन की क्रान्तिकारी सरकार को अग्रगति एवं मजबूती में बहुत ही आश्चर्यजनक प्रोत्साहन दिया है। क्यूमिनटांग, जिसके प्रधान भाग ने चीनी कम्युनिस्टों के साथ मिल के काम किया है, किसानों, मजदूरों, पढ़े-लिखों तथा शहर के लोकतन्त्रवादियों का क्रान्तिकारी सम्मिलन (मोर्चा) है। विदेशी साम्राज्यवादियों तथा समस्त फौजी एवं सामन्तशाही प्रणाली के विरुद्ध जो लड़ाई चीन की स्वतन्त्रता तथा चीन में एक संयुक्त क्रान्तिकारी जनतन्त्रमूलक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए लड़ी जा रही है उसमें इन सभी वर्गों का जो समान स्वार्थ है वही इस सम्मिलन या संयुक्त मोर्चे का आधार है।"

"क्यूमिनटांग पार्टी ने जो क्रान्तिकारी सरकार कैन्टन में स्थापित की है उसने



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अब तक मजदूरों, किसानों तथा लोकतन्त्रवादी नागरिकों के सबसे बड़े समूह के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, उन्हीं की सहायता से, साम्राज्यवादियों के बल पर कूदने वाले प्रतिगामी गिरोहों को, उसने चूर्ण-विचूर्ण कर दिया है और वह अब कान्टुंग प्रान्त, जिसमें कैन्टन है, के समस्त राजनीतिक जीवन को आमूल लोकतन्त्रवादी बनाने में लगी है। चीनी जनता की आजादी की लड़ाई में इस तरह अग्रदूत बनकर कैन्टन की सरकार सारे मुल्क को भविष्य में क्रान्तिकारी लोकतन्त्र के साँचे में ढाले जाने का नमूना बन गयी है।''

''नये खतरों का खयाल करके चीन की कम्युनिस्ट पार्टी और क्यूमिनटांग को अपनी अत्यन्त विस्तृत राजनीतिक हलचलों का प्रसार करना चाहिए। जनता की सेना (सरकारी फौज) की लड़ाई के समर्थन में जनसमूह के आन्दोलनों को संगठित करना चाहिए और साम्राज्यवादी शत्रुओं के भीतर जो मतभेद और कलह है उससे फायदा उठा के उनके विरुद्ध देशवासियों के सबसे ज्यादा दलों और लोगों अर्थात् किसानों, मजदूरों और सम्पत्तिजीवियों का संयुक्त राष्ट्रीय क्रान्तिकारी मोर्चा, जिसका नेतृत्व क्रान्तिकारी जनतन्त्र संस्थाओं के हाथ में हो, खड़ा कर देना चाहिए।''

''चीन के बड़े पूँजीपतियों में कुछ ने, जो कि तत्काल क्यूमिनटांग के भीतर ही उसी के साथ रहते थे, गत वर्ष उसका साथ छोड़ दिया है और अपना एक स्वतन्त्र दक्षिणपक्षीय दल कायम कर लिया है। ये लोग खुल्लमखुल्ला विरोध करते हैं कि क्यूमिनटांग की घनिष्ठ मैत्री श्रमजीवी जनसमूह के साथ नहीं हो, वे क्यूमिनटांग से कम्युनिस्टों को निकाल देना चाहते हैं और कैन्टन की सरकार की क्रान्तिकारी नीति का विरोध भी करते हैं। गत 1926 की जनवरी में क्यूमिनटांग की दूसरी कांग्रेस के मौके पर जो इस पक्ष की लानत-मलामत की गयी और कम्युनिस्टों के साथ क्यूमिनटांग की संघर्षमूलक मैत्री की जरूरत जो वहाँ दुहरायी गयी, उसके करते क्यूमिनटांग तथा कैन्टन की सरकार के कामों का क्रान्तिकारी रुख पक्का हो जाता है। साथ ही, उसके करते मजदूरों की क्रान्तिकारी सहायता क्यूमिनटांग के लिए निश्चित हो जाती है।''

इन वाक्यों पर टीका-टिप्पणी बेकार है। हमने अब तक जो कुछ कहा है उसका समर्थन इससे अक्षरशः हो जाता है। यहाँ जो ब्लाक लिखा है उसका अर्थ सम्मिलन या संयुक्त मोर्चा हमने किया है। क्योंकि उसका विशेषण रेवोल्यूशनरी (क्रान्तिकारी) है। अगर यह बात नहीं होती और 'टेम्परेरी' लिखा रहता, तब ऐसा नहीं होता। यों तो 'ब्लाक' शब्द संगठित चीज या संगठन को ही कहते हैं, जिसका अर्थ एकता है। यहाँ सभी वामपक्षों की एकता का मूल कारण उनके स्वार्थों का ऐक्य बताया है और वह कहा गया है विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध आजादी की क्रान्तिकारी लड़ाई और फौजी शासन तथा सामन्तशाही एवं जमींदारी का क्रान्तिकारी ढंग से खात्मा और सबसे आखिर में क्रान्तिकारी संयुक्त राष्ट्रीय सरकार की स्थापना। यही ठीक



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भी है। जो ऐसा दिल से चाहे वही तो वामपक्षीय हो सकते हैं। जो इनमें एक भी नहीं चाहता है वह वामपक्षी तो है नहीं। है वह दक्षिणपक्षी और वह पीछे से इस संयुक्त मोर्चे में मजबूरन ही खींचा जा सकता है जबकि अकेला पड़ जाय। भारत में तो हम अभी ऐसा कर नहीं सके हैं। कब कर सकेंगे, या नहीं कर सकेंगे कौन कहे?

प्रसंगवश यहाँ एक बात और भी कह देना है। यह तो अब तक के वर्णन से साफ होई जाता है कि चियांग के हमले, उसके देशद्रोह, उसकी गद्दारी (कूदिताह) के पूर्व बरसों चीन के वामपक्षियों में और खासकर कम्युनिस्टों में भी किसानों तथा मजदूरों की क्रान्तिकारी लड़ाइयों को लेकर मतभेद चलता था, जो पहले भीतर ही भीतर था, पीछे बाहर भी हो गया। चियांग ने उसी से फायदा भी उठाया। उसी के चलते निम्न-मध्यम श्रेणी के बहुतेरे लोग, खासकर शहरों के पढ़े-लिखे वगैरह संयुक्त मोर्चे से फूटकर या तो तटस्थ हो गये या चियांग कैशेक से जा मिले। यह भी कही चुके हैं कि इस मतभेद को जानकर 1926 के फरवरी-मार्च में ही रूस से सख्त ताकीद की गयी थी कि गलती न की जाय। मगर लोगों को अनुभव न होने से जो घबराहट थी वह आसानी से मिटती कैसे? चीन में तो यह नयी बात थी। लोग सीधे-सादे ढंग से सोचते थे—जैसा कि यहाँ भी सोचते और कहते हैं—कि संयुक्त मोर्चा टूटने न पाये। इसीलिए जब बार-बार कोमिन्टर्न पर दबाव डाला गया और आतंकपूर्ण बातें वहाँ रह-रह के पहुँचायी गयीं तो ता. 26/10/1926 को कोमिन्टर्न का कोई तार शंघाई के कम्युनिस्टों को किसानों की लड़ाई को तत्काल रोकने की हिदायत आदि का मिला—या यों कहिये कि उसे तत्काल रोकने की माँग की मंजूरी दे दी गयी? यह बात परिस्थिति की गड़बड़ी ये कैसे हो गयी, पता नहीं चला। मगर जब पीछे पता लगा कि ऐसा तार गया है, जो तत्काल परिस्थिति को संगीन होने से बचाने के ही लिए गया है सही, मगर उसका प्रभाव दूर तक हो सकता है और उससे खराबी हो सकती है तो मुश्किल से एक महीना गुजरते न गुजरते वह वापस ले लिया गया और भूल सुधार दी गयी। लेकिन इसी बात को लेकर आज तक कोमिन्टर्न को कुछ लोग बदनाम करते हैं और कहते हैं कि उसने वर्ग-संघर्ष को रोक के क्रान्ति-विरोधी काम किया।

असल में उस तार को वापस लेकर शीघ्र ही भूल सुधारने या उसका आगे के लिए असर रोकने की बात तो समालोचक लोग कहते ही नहीं। या यों कहिये कि भूल जाते हैं। बहुतेरे तो यह बात जानते भी नहीं। इसी से यह खण्डन-मण्डन चलता है। 1926 के नवम्बर का ही कोमिन्टर्न का वक्तव्य इस बारे में बहुत साफ है और वह पहले ही दिया जा चुका है। उसके आगे-पीछे के भी वैसे वक्तव्य दिये गये हैं, जिनसे ऐसी शंकाओं की गुंजाइश है ही नहीं। स्तालिन ने भी साफ ही कहा है कि उस तार का समर्थन वह हर्गिज नहीं करते। मगर जो लोग समालोचना करते



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं वह तो असल में हैं अतिवादी। वह सोचते हैं कि ऐसी हड़तालें और किसानों की चन्द लड़ाइयों के फलस्वरूप ही क्रान्ति हो सकती है और इसमें विजय भी मिल सकती है। यही उनकी भूल है और अगर इसी दृष्टि से कोमिन्टर्न को वे बदनाम करते हैं तो वे खुद भूलते हैं। ऐसे लोगों से तो क्रान्ति को खुद खतरा है। इन्हें ही अतिवादी वामपक्षी कहते हैं। इनसे क्रान्ति को उतना ही खतरा है जितना सुधारवादियों से। इस बात को उसी 1926 के फरवरी मार्च वाले कोमिन्टर्न के वक्तव्य में अति दक्षिण वामपक्ष के नाम से यों कहा है—

"चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का राजनीतिक स्वात्मनिर्णय, समान रूप से हानिकारक दोनों ही तरह की पथभ्रष्टता का मुकाबिला करने के सिलसिले में, बढ़ेगा। वे दोनों ये हैं—एक तो दक्षिण पन्थी दिवालिये हैं जो मजदूरों के वर्ग का स्वतन्त्र राजनीतिक कर्त्तव्य मानते ही नहीं, जिसका नतीजा यही होता है कि सर्वसाधारण राष्ट्रीय लोकतन्त्र शासन के आन्दोलन के साथ घुल-मिल के क्रान्तिकारी हलचल लापता हो जाती है। दूसरी ओर अति वामपक्षी प्रवृत्ति वाले हैं जो चाहते हैं कि सीधे ही आन्दोलन के क्रान्तिकारी लोकतन्त्र शासन स्थापन की सीढ़ी को फाँद के सर्वहारा के एकतन्त्र और सोवियट शासन पर ही जा पहुँचें। वे लोग यह बात भूल जाते हैं कि चीन की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन में किसानों का हिस्सा बुनियादी और निर्णायक होगा।"

इसका निचोड़ यही है कि बिना पूँजीवादी जनतन्त्र या किसान क्रान्ति की सीढ़ी पर पाँव रखे और उसे पूरे किये ही एकाएक छलाँग मार के उसके ऊपर की सोवियट शासन वाली या सर्वहारा क्रान्ति की सीढ़ी पर पहुँचने की कोशिश हानिकर है। इससे कुछ होगा जायगा तो नहीं। हाँ प्रगति का रास्ता बन्द हो जायगा भले ही, जैसा कि स्पेन आदि देशों में हो गया है। लोग यह भी भूल जाते हैं कि चीन या भारत जैसे कृषि-प्रधान देशों में किसानों का एक खास हिस्सा होगा जंगे आजादी में, और इसे वे तभी पूरा कर सकते हैं जब किसान क्रान्ति को अच्छी तरह सफल बनाया जाय। इसलिए एकाएक सर्वहारा या समाजवादी क्रान्ति के लिए उतावला होना नादानी और अतिवामपक्षीय पथभ्रष्टता है। जो लोग स्वतन्त्र रूप से मजदूरों का संगठन और किसानों का संगठन या उनकी लड़ाई नहीं चाहते, किन्तु आजादी की गोल-मोल लड़ाई के ही सिलसिले में किसानों और मजदूरों को कुछ सुविधाएँ राष्ट्रीय संस्थाओं की ओर से ही दिलाने के पक्षपाती हैं, न कि किसानों तथा मजदूरों के स्वतन्त्र वर्ग-संघर्ष के फलस्वरूप, वे दक्षिणपन्थी पथभ्रष्टता के शिकार हैं, यदि फिर भी क्रान्ति की बातें सोचते और करते हैं। यही है इस कथन का मतलब। क्योंकि उनके इस काम से किसानों और मजदूरों की स्वतन्त्र हलचलें राष्ट्रीय आन्दोलन में लापता हो जाती हैं, उसी में मिल के खत्म हो जाती हैं।

हमारे यहाँ भी वही हालत है। यहाँ के पूँजीवादी दो नावों पर चढ़े हुए हैं। एक ओर तो ब्रिटिश साम्राज्यशाही से शासन-सूत्र छीनना चाहते हैं और दूसरी ओर



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसमें सफलता के लिए जिस सीधी लड़ाई की जरूरत है उससे डरते हैं। क्योंकि लड़ेगी तो जनता और अगर वह साम्राज्यशाही के साथ ही उन्हें भी उठा के फेंके तो? इसीलिए तो वे लड़ने में आगा-पीछा करते हैं। मगर उसके बिना काम भी तो नहीं चलता। इसीलिए थोड़ी-सी लड़ाई के बाद हिंसा वगैरह के बहाने से उसे रोक के सरकार से सौदा करते हैं। अगर सौदा नहीं पटा तो फिर लड़ते हैं, मगर डरते-डरते। फलतः ज्योंही गलत-सही अन्दाज भी लगा कि सरकार झुक रही है कि बीच में ही लड़ाई बन्द कर देते हैं। इसके लिए बहाने तो हजारों हैं। जनता की थकावट, उसे आराम पहुँचाने के सवाल, रचनात्मक कार्य वगैरह के हजारों बहाने ढूँढ़ निकाले जाते हैं। हालाँकि थकावट उन्हीं को है, आराम वे खुद चाहते हैं, रचनात्मक काम तो युद्ध की मनोवृत्ति को जनता के भीतर से मिटाने और उसका ध्यान दूसरी ओर करने का एक नया बहाना निकाला गया है। हिंसा की तो बात ही मत पूछिये। करबन्दी को भी रोका जाता है अहिंसा के ही नाम पर। हालाँकि करबन्दी में हिंसा की गन्ध भी नहीं है। फिर भी उन्हीं से संयुक्त मोर्चा? पामेदत्त ने अपनी उक्त पुस्तक में यह चित्र खूब ही सुन्दर खींचा है। वह कहते हैं—

"हम देख चुके हैं कि भारतीय पूँजीपति एक ओर तो ब्रिटिश पूँजीपतियों के साथ घोर-संघर्ष में फँसे हैं। दूसरी ओर वे आगा-पीछा का काम ही करते हैं। वे भविष्य भारत को स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में देखते हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन में उनने खासा शक्तिशाली और प्रधान भाग लिया है। लेकिन इसी के साथ जन-आन्दोलन की प्रगति के हर कदम पर वे डरते हैं, बार-बार उनने राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए ब्रेक (रोकथाम) का काम किया है और तत्काल जब तक साम्राज्यवाद से सौदा भी कर लिया है। मगर उन्हें फिर भी संघर्ष में पड़ना ही पड़ा है।"

यह साँप-छछूँदर की-सी दशा यहाँ के पूँजीपतियों की सिर्फ इसीलिए है कि साम्राज्यवादी बड़े ही काइयाँ हैं। उनके साथ एक ही बार पूरा सौदा पटनेवाला तो है नहीं। इसीलिए उन पर दबाव डालने के लिए रह-रह के यहाँ के पूँजीपतियों को लड़ना या लड़ने का नाटक खड़ा करना पड़ता ही है। मगर हर लड़ाई में जब पता चलता है कि शोषितों में गर्मी आ रही है, आ गयी है, तो वे डर जाते हैं कि कहीं सारा गुड़ गोबर न हो जाय और सारा आन्दोलन हमारे हाथ से ही निकल न जाय। अजीब दशा है ! लड़े बिना काम चलना नहीं और लड़ने पर खतरा ही है ! लड़ने में भी आफत ! न लड़ने में भी बला ! चारों ओर संकट ही संकट है। इनकी ऐसी दशा देख के ही पामेदत्त इनके बारे में सवाल करते हैं कि—

"क्या साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ाई में अन्तिम बार स्वतन्त्रता की विजय होने तक भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता कायम रहेगी? या कि जन-आन्दोलन की बाढ़ से डर कर राष्ट्रवादी पूँजीवादियों के दल के भीतर वाले दकियानूस लोग इस आन्दोलन से अलग होकर साम्राज्यवाद के साथ गाढ़ी दोस्ती कर लेंगे और इस



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकार साम्राज्यवाद को कुछ समय के लिए अभयदान दे देंगे, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की अन्तिम विजय की लड़ाई और जनसमूह की सामाजिक उद्धार (समाजवाद) की लड़ाई—दोनों—एक हो जायंगी?''

ये दोनों ही प्रश्न वर्तमान परिस्थिति पर पूरा ध्यान रख के ही किये गये हैं। राष्ट्रीय आजादी के युद्ध का नेतृत्व आज जिनके हाथों में है वे जाने में या अनजान पूँजीवादी स्वार्थ के ही समर्थक हैं—यह नेतृत्व आज पूँजीवादियों के ही हाथों में है। यह ठीक है कि वे पर्दे के भीतर हैं और सामने ऐसे लोगों को उनने रख छोड़ा है जो जनता के लिए मसीहा बनने का दावा करते हैं। मगर इससे असलियत में कोई फर्क नहीं पड़ता है। यह तो उनका काइयाँपन है कि खुद सामने नहीं आते। क्योंकि तब तो न सिर्फ शोषित जनता, किन्तु निम्न-मध्यवर्गीय बाबू लोग भी जिनका बहुमत आज कांग्रेस में है, भड़क उठेंगे और सारा गुड़ गोबर हो जायगा। इसीलिए वे पर्दे में बैठे कठपुतली नचा रहे हैं और गीता के 'भ्रामयन् सर्व भूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया' को अक्षरशः चरितार्थ कर रहे हैं। हमारे लिए खतरा भी इसीलिए बढ़ गया है और हमारी लड़ाई कठिन और पेचीदा भी इसीलिए बन गयी है।

अब हालत यही है कि किसानों और मजदूरों के बढ़ते आन्दोलन तथा विद्यार्थियों में फैलती हुई उत्तेजना देखकर वे घबराते हैं और डरकर आगा-पीछा करते हैं—हजार बहानेबाजी से व्यापक जन-संघर्ष को रोकते हैं। लेकिन साम्राज्यवाद के हाथ से शासन छिन भी तो नहीं सकता जब तक जन-संघर्ष न हो। इसीलिए दुविधा में वे पड़े हैं और इसीलिए पामेदत्त का पहला सवाल है कि क्या अन्त तक राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता कायम रह सकेगी? मगर जब बार-बार पूँजीवादियों की परेशानी पर गौर करते हैं और चीन वगैरह देशों का ताजा दृष्टान्त सामने आता है तो बात और हो जाती है। तब तो यही खयाल हो आता है कि पूँजीवादियों का जो प्रधान दल है। और जो पूँजीवाद के चरम विकास के इस युग में प्रतिगामी और क्रान्ति-विरोधी हो चुका है वह तो राष्ट्रीय आन्दोलन से ख़ामखाह खिसकेगा। जन-आन्दोलन की बाढ़ को वह रोक सकता जो नहीं। वह खिसक के साम्राज्यवादी पूँजीवादियों से ही तो मिलेगा। इसका सबूत पहले ही बार-बार मिल चुका है और आज भी मिल रहा है।

मगर तब सवाल यह होता है कि क्या किसान, मजदूर आदि शोषित जनता ही, जो समाजवाद और साम्यवाद की भूखी है और उसी के लिए लड़ रही है, उस दशा में राष्ट्रीय आजादी की लड़ाई भी जलायेगी? यदि हाँ—और दूसरा उत्तर हो भी नहीं सकता—तो फिर आजादी और समाजवाद की लड़ाई—दोनों ही जुटेंगी—मिल जायंगी क्या? बेशक मिलेंगी। मगर इसका यह अर्थ हर्गिज नहीं कि एकाएक समाजवाद ही कायम किया जायगा। यह तो असम्भव है, जैसा कि पहले ही बताया गया है। पहले तो किसान क्रान्ति तथा जनतन्त्रक्रान्ति ही होगी और उसके फलस्वरूप एक तो किसानों को जमीन मिलेगी। दूसरे पूँजीवादी ढंग से उत्पादन की प्रगति की जायगी।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पीछे समाजवादी अवसर आयेगा। लेकिन जनता पहली सीढ़ी पर ही न रुककर आगे बढ़ती जायगी, यही दोनों के जुट जाने—दोनों लड़ाइयों के मिल जाने का मतलब है। यह ठीक है कि जनतन्त्र क्रान्ति का समय आते-आते यदि किसान-मजदूरों में पूर्ण वर्ग चेतना आ गयी और वे खूब अच्छी तरह संगठित हो गये तो शासन सूत्र उन्हीं के हाथ में एकाएक आ जायगा और सोवियत शासन शुरू में ही कायम होके उत्पादन का विकास और समाजवाद की ओर कदम बढ़ाना सोवियट की छत्रछाया में ही शुरू हो जायगा। लेकिन यदि ऐसा न हुआ और जनता की तैयारी में कुछ गड़बड़ी रही तो पहले निम्न-मध्यमवर्गीयों का ही शासन कुछ समय के लिए हो सकता है। वह चाहे सोवियट के नाम से ही हो। मगर शुद्ध सोवियट का न होगा—सर्वहारा का एकतन्त्र न होगा।

लेकिन दुनिया के इतिहास में ऐसा अब तक देखा नहीं गया है। अब तो किसी न किसी रूप में पूँजीवादियों के साथ मिल-जुल कर ही जनतन्त्रवादी क्रान्ति को सफलता मिली है। सिर्फ शोषितों और पीड़ितों ने यह काम अब तक नहीं किया है। साथ ही, संसार में नयी-नयी बातें भी तो होती ही हैं। पूँजीवाद का जो आखिरी रूप फासिज्म की शक्ल में नजर आ रहा है और उसके चलते वर्ग-शक्तियों का जो नया गँठजोड़ा हो रहा है उसे देख के तो कहा जा सकता है कि कुछ भी होना असम्भव नहीं। जो बात अब तक नहीं हो सकी है, यदि अब तक केवल शोषित जनता ही आजादी हासिल नहीं कर सकी है तो वह भी अब कर सकती है। या यह कि पुनरपि पूँजीवादी जनतन्त्र चाहने वाले फासिस्टियों के डर से शोषित जनता से मिल सकते हैं। इसीलिए दूसरा सवाल किया गया है। दोनों का उत्तर भविष्य के गर्भ में है। मगर उत्तर तक पहुँचने के पहले हमें कुछ और भी बातें जान लेनी हैं। तब हम इस स्थिति में हो सकते हैं कि इन प्रश्नों के उत्तर दे सकें—या यों कहिये कि इनकी तह में पहुँच के विचार कर सकें और किसी नतीजे पर आ जायँ।

पूँजीवादी कहिये या सुधारवादी कहिये, ऐसे नेतृत्व से हमें, जो मजदूरों तथा किसानों के हाथ में शासन सूत्र सौंपना चाहते हैं और सोशलिज्म की स्थापना चाहते हैं, मिलने के दोई कारण हो सकते हैं। इसके लिए दोई परिस्थितियाँ हो सकती हैं। एक तो यह कि हम काफी संगठित और मजबूत हों और उनके छक्के हमने हर तरह से—संगठन में, राजनीति कुशलता में, लड़ने में, काम करने में, मुकाबिले में भिड़ने में—छुड़ा दिये हों, जिससे वे हमारा लोहा मानते हों। साथ ही हमने अपने कामों से, दूरंदेशी से, व्यवहार-कुशलता से आम लोगों पर—यहाँ तक कि उन सुधारवादी पूँजीवादियों के दोस्तों तथा एजेण्टों तक पर भी—साबित कर दिया हो कि हम सबों से मिल के काम करना चाहते हैं। हमने यह भी साफ बता दिया है कि हम कौन-सा काम और क्यों किसलिए उनसे—पूँजीवादियों से भी—मिल के करना चाहते हैं। आम लोगों पर यह बात भी साफ हो गयी हो कि सचमुच उस काम के लिए इस समय



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सबों का मिल जाना—संयुक्त मोर्चा बन जाना—निहायत जरूरी है। इस बात की अहमियत आम लोग बखूबी समझते हों। यही बात 1936 के अन्तिम दिनों में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी और चियांग कैशेक के दल के साथ संयुक्त मोर्चे और समझौते के सम्बन्ध में अक्षरशः हुई है। जिन-जिन बातों का हमने जिक्र किया है उनमें हर एक की गयी हैं, जिससे मजबूरन चियांग को मिलना पड़ा है। इसका विशेष वर्णन आगे करेंगे।

दूसरी बात या परिस्थिति यों हो सकती है कि हम कमजोर हों, उतने संगठित न हों हमारा उतना प्रभाव न हो और चाहते हों कि संगठन पक्का और पूरा हो, कमजोरी हटे और हमारी धाक किसान-मजदूरों पर पूरी हो जाय। फिर भी हमें पूँजीवादी नेतृत्व से मिलने की जरूरत नहीं होगी यदि उस नेतृत्व के प्रभाव में जनता न हो, उसका संगठन हमसे व्यापक न हो और वह बलवान न हो। और अगर यह सारी बातें हों तो भी संयुक्त मोर्चे की बात तो होई नहीं सकती। क्योंकि वह दल हमसे शर्तें क्यों करने लगा? उसे हमारी परवाह क्यों होने लगी? उलटे हमीं को उसकी परवाह है। उसके संगठन में, उसकी संस्था में जनता है और हम उसमें घुसके उस जनता को अपने कामों से, अपनी सेवाओं से प्रभावित करना चाहते हैं, हमें ऐसे अवसर की फिक्र है जो उसमें घुसे बिना, रहे बिना मिल नहीं सकता। ऐसी हालत में हमारा उस दल के साथ मेल हो या न हों हमें उसकी संस्थाओं में जाना ही होगा। इसीलिए यहाँ मोर्चे का ही सवाल नहीं है। संयुक्त मोर्चा तो दूर रहा। हमें तो काम निकालना है। यदि हमारा असर भी हो और हमने लोगों पर प्रभाव भी बहुत कुछ जमाया हो, तो भी जब तक पूँजीवादी नेतृत्व के सामने हमारा प्रभाव कम है, हमारा नेतृत्व दुर्बल है, तो हमें उनकी संस्थाओं में चाहे जैसे हो घुसना ही होगा। हम शान में आकर और उन्हें दकियानूस बता के उनसे अलग रह नहीं सकते। क्योंकि उनके साथ जनता जो है और हमें उसे अपने साथ करना है। इसीलिए 1920 में लिखे गये अपने 'वामपक्षीय साम्यवाद' में लेनिन ने क्रान्तिकारियों को करारी फटकार सुनायी है कि वे अलग ट्रेड यूनियन (मजदूर संघ, किसान सभा, विद्यार्थी सभा जैसी संस्थाएँ) न बना के पुरानियों में ही घुसें और काम करके उन्हीं को अपने साँचे में ढालें। वे ट्रेड यूनियन दकियानूसियों के हाथ में हैं यह सोच के उन्हें भड़काना न होगा यह याद रहे। वह कहता है—

"लेकिन जर्मनी के वामपक्षीय कम्युनिस्ट यही नादानी के रहे हैं जबकि वर्तमान ट्रेड यूनियनों के संचालकों के दकियानूसी और प्रतिगामी होने के कारण वे इस नतीजे पर कूद कर पहुँच जाते हैं कि इन ट्रेड यूनियनों को छोड़ देना ही जरूरी है और इनमें काम करना बन्द करके मजदूरों की नयी निराली संस्थाएँ बनाना ठीक है। यह तो अक्षम्य अपराध है और इसके चलते वे पूँजीवादियों की सबसे ज्यादा मदद कर रहे हैं। सभी अवसरवादियों, समाजवादी देशभक्त लड़नेवालों और कौत्स्की के अनुयायी



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ट्रेड यूनियन लीडरों की ही तरह हमारे मेनशेविक भी मजदूर आन्दोलन में पूँजीवादियों के एजेण्टों से न तो अधिक हैं और न कम। दकियानूसी ट्रेड यूनियनों में काम करने से इनकार करने का मतलब यही है कि जो मजदूर समुदाय काफी प्रगतिशील नहीं है, या पिछड़ा हुआ है उसे दकियानूसी लीडरों, पूँजीपतियों के दलालों, बाबू मजदूरों या पूँजीवादी मनोवृत्ति वाले श्रमिकों के जिम्मे छोड़ दिया जाय।"

"और यह तो अत्यन्त जरूरी है कि जहाँ कहीं जनता का समूह पाया जाय वहीं काम किया जाय। सभी तरह का त्याग करना ही होगा और बड़ी-से-बड़ी बाधाओं को पार करना ही पड़ेगा। ताकि नियमित रूप से, मुस्तैदी के साथ, निरन्तर और धैर्य के साथ प्रचार तथा आन्दोलन, पक्की तौर से उन सभी संस्थाओं, सोसायटियों और संगठनों में किया जा सके जहाँ सर्वहारा या अर्द्ध-सर्वहारा (गरीब किसान वगैरह) जनसमूह पाया जाय, फिर चाहे वे संस्थाएँ कितनी ही दकियानूस क्यों न हों।"

"और क्रान्तिकारी, लेकिन नादान, वामपक्षी कम्युनिस्ट चुपचाप बैठे रहकर 'जनता, जनता' की पुकार मचाते रहते हैं। मगर ट्रेड यूनियनों में काम करने से इनकार करते हैं, इसीलिए कि वे दकियानूस हैं। साथ ही, बिलकुल ही नयी और शुद्ध 'मजदूरों की यूनियनें' बनाते हैं जिनमें पूँजीवादी जनतन्त्रवाद के संस्कार नहीं पाये जायँ !"

"यह आवश्यक है कि यह अपमान, अत्याचार, गाली-गलौज वगैरह सब कुछ बर्दाश्त करने की योग्यता हासिल की जाय और सभी प्रकार का बलिदान करने को तैयार हुआ जाय। अगर जरूरत हो तो सब तरह की चालबाजियों, छल-प्रपंचों और गैर-कानूनी तरीकों से भी काम लिया जाय, छिप-लुक के और धोखा-धड़ी से भी काम लिया जाय जिससे उन ट्रेड यूनियनों में घुसा जा सके, रहा जा सके और चाहे जो भी हो, वहीं कम्युनिस्टों का काम जारी रखा जाय।"

"मेरी राय में, थर्ड इण्टरनेशनल की कार्यकारिणी को चाहिए कि उन लोगों को साफ-साफ आमतौर से दुतकार दे और कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की आगामी कांग्रेस को भी ऐसा करने का आदेश दे, जो आमतौर से दकियानूस ट्रेड यूनियनों में शामिल होने से इनकार कर देते हैं।"

लेनिन के इन वचनों से साफ हो जाता है कि अपना काम निकालने के लिए क्रान्तिकारियों को सभी तरीकों से काम लेकर मौजूदा किसान सभाओं और मजदूर सभाओं वगैरह में घुस जाना चाहिए और वहीं काम करना चाहिए। न कि नयी ट्रेड यूनियन, मजदूर सभा, किसान सभा वगैरह बनाना चाहिए। वह प्रतिद्वन्द्वी ट्रेड यूनियन आदि बनाने का सख्त दुश्मन है। उसने तो यहाँ तक कह डाला है कि जब 1905 में रूस में ट्रेड यूनियनें बनाने की मनाही थी और खुफिया विभाग के जुबा तोफ ने रूसी फैसिस्टों (Black Hundred) के दल के मजदूरों की मीटिंगें और मजदूरों की सोसायटियाँ केवल इसलिए कायम कीं कि क्रान्तिकारी मजदूरों को उनमें फ्रांस के क्रान्ति से विमुख किया जाय, तो हमने अपने कार्यकर्त्ता उन्हीं मीटिंगों और



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सोसायटियों में काम करने के लिए भेजे। उसने लेनिनग्राड के एक प्रमुख मजदूर बबुश्किन का नाम भी बताया है जो यों ही काम करने गया था और 1906 में मार डाला गया ! मगर यह याद रहे कि यह सब कुछ करने का मतलब संयुक्त मोर्चा नहीं होता। इसे ऐसा कही नहीं सकते। यह तो अपनी गर्ज की बात ठहरी।

प्रायः इसी प्रकार की एक और हालत हो सकती है जिसका उल्लेख लेनिन ने उसी पुस्तक में किया है। मगर उसमें कुछ विशेषता है। यही कारण है कि उसमें उसने खास ढंग की हिदायत दी है। वह है चुनाव की बात। असल में इंगलैंड में कम्युनिस्टों ने ऐसा सोचा था कि न तो दकियानूस लेबर पार्टी (मजदूर दल) से कोई समझौता करेंगे और न पार्लिमेण्ट में अपना मेम्बर भेजेंगे। उस चुनाव में पड़ने से भी दूर भागने का उनका विचार था। उसी सिलसिले में ट्रेड यूनियनों की बातें उसने कही हैं और लाल ट्रेड यूनियन बनाने वालों को फटकारा है। उन्हीं को समझाने के लिए उसने चुनाव में भी भाग लेने को कहा है और लेबर पार्टी से समझौता करने की भी राय दी है। अगर समझौता न भी हो सके, क्योंकि कम्युनिस्टों का तो कोई विशेष प्रभाव इंगलैंड में था नहीं। फिर मजदूर दल वाले उनकी परवाह करते ही क्यों? वे उस समय उनसे समझौते की बात भी क्यों सोचते? कम्युनिस्ट पार्टी भी तो अभी ताजी ही बनी थी; उसका संगठन भी ठीक नहीं हो पाया था। तो भी चुनाव में पूँजीवादी के विरुद्ध मजदूर दल की मदद करने की उसने बात कही।

असल में कम्युनिस्टों की बात वहाँ सुनने को कोई रवादार तो था नहीं। यह नाम सुनते ही आमतौर से लोग नाक-भौं सिकोड़ लेते और हट जाते थे। लेनिन ने सोचा कि चुनाव का मौका अच्छा है। उसमें यदि किसी भी तरह हमारे आदमियों को मीटिंगों में बोलने का मौका लग जाय तो काम निकले। क्योंकि उस ढंग से आसानी से काफी श्रोता मिलेंगे, जिन्हें चुनाव की बातों के सिलसिले में साम्यवाद के सिद्धान्त भी सुनाये जा सकते हैं। यह बात और तरह से सम्भव न थी। साम्यवादी मन्तव्यों के प्रचार का यही सुनहला अवसर था। अतएव इससे जैसे भी हो सके लाभ उठाना जरूरी था।

एक बात और भी थी। चुनाव के बारे में लोगों के दिमाग साफ न थे। मजदूरों का विश्वास था मजदूर दल पर ही। वे मानते थे कि वह दल हमें समाजवाद तक पहुँचायेगा और सभी आराम तब तक देता रहेगा जब तक समाजवाद स्थापित नहीं होता। मजदूर दल के नेताओं के लम्बे-लम्बे व्याख्यानों और वक्तव्यों का भोली-भाली मजदूर जनता पर यही असर होना स्वाभाविक था भी। उसे दाँव-पेंच क्या मालूम? सभी देशों की जनता की यही बात है। जो लोग जेल गये, जिनने कष्ट भोगे उन्हें अपना मसीहा समझ जनता उनकी बातों पर आँख मूँद के विश्वास करती है। जरूरत इस बात की होती है कि जनता की आँखें खोली जायँ और नेताओं को कड़ी कसौटी पर परखने के लिए उसे तैयार किया जाय। चुनाव में पार्टियाँ और नेता लम्बी-लम्बी



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतिज्ञाएँ करते हैं। बस उन्हें पकड़ के मूक जनता को आगाह कर दिया जाय कि इसमें क्या-क्या धोखा है, कौन-सी चालें हैं। लोगों से यह भी साफ कह दिया कि जब ये नेता पद पायेंगे, मन्त्री बनेंगे तो हर्गिज इसे पूरा न करेंगे तब वे लोग इन वादों और प्रतिज्ञाओं को भूल जायँगे। ख़ामख़ा। यदि विश्वास न हो तो एक बार उन्हें चुनाव में जिता के और सरकारी गद्दी पर बिठा के जाँच लो।

लेनिन ने सोचा कि मजदूर जनता के ऊपर जो मजदूर नेताओं का जादू है वह इसी तरह उतारा जा सकता है और उसे साम्यवाद के रास्ते पर लाया जा सकता है। क्योंकि चुनाव की ये बातें वह खूब समझती है, खूब समझेगी और मौके पर जब नेता लोग गड़बड़ी करेंगे तो चटपट उन्हें पकड़ेगी, अगर पहले से वह सजग कर दी गयी हो। वह यह भी मानता था कि जब तक जनता अपने अनुभव से कोई बात न सीखे तब तक केवल लेक्चर से वह क्रान्ति की पथगामिनी बनायी नहीं जा सकती। इसलिए उसे अनुभव प्राप्त करने के मौके पैदा करना ही क्रान्तिकारियों का काम है और चुनाव का मौका ठीक ऐसा ही है। इसीलिए उसने अपने अनुयायियों को कहा कि चाहे मजदूर दल से समझौता हो, या न हो, हर हालत में पूँजीवादियों के खिलाफ उसी दल को मदद करो।

वह यह भी जानता था कि ये मजदूर नेता हैं तो भीतर से पूँजीवादियों के ही साथी, एजेण्ट या दलाल। मगर ऊपर ऐसा नहीं कहते। जनता तो पूँजीवादियों की अपेक्षा इन्हें पसन्द करती ही है। इसलिए हमें इनके समर्थन में कोई खतरा भी है नहीं। फायदा यह होगा कि मजदूरों और किसानों के प्रत्यक्ष शत्रु हार जायँगे। उन्हें जिताना तो हम भी पसन्द नहीं करते। रह गयी मजदूर दल की बात। ये हैं तो धोखेबाज। इन्हें जिताना भी पूँजीवादियों को ही जिताना है। मगर किया क्या जाय? जनता का इन पर विश्वास जो ठहरा। ये बातें भी तो बढ़कर बोलते हैं। इसलिए यहीं इन्हें पकड़ा जाय और कहा जाय कि हम भी मजदूर सेवक हैं और यह भी। मगर ये हमसे सुलह तो करते नहीं। हाँ, मजदूरों के शत्रुओं से भले ही सुलह कर लेंगे। इसका सबूत भी दिया जा सकता है यदि हमसे वे सुलह न करें। वह यों होगा कि जहाँ से कम्युनिस्टों के चुने जाने की पूरी सम्भावना होगी और मजदूर दल के मेम्बर के हारने की, वहाँ ये मजदूर दल नेता ख़ामखाह कम्युनिस्टों के विरुद्ध पूँजीवादी उम्मीदवार को ही खुलेआम या छिप के मदद करेंगे। इसी बात का भण्डाफोड़ जनता के सामने किया जाय। तब उसकी आँखें कुछ-कुछ खुलेंगी। ये नेता कैसे पूँजीवादियों से मिलते, उनसे रुपये लेते ये बातें भी पकड़ी पकड़ायी जायँ और लोगों पर जाहिर की जायँ।

एक बात और भी थी। कम्युनिस्टों को तो मन्त्रिमण्डल बनाना न था। जब तक अपने मन का शासन चलाने का पूरा-पूरा अधिकार न मिले तब तक मन्त्रि-पद स्वीकार करना जनता को धोखा देना है और पार्लिमेण्टरी ढंग से वह पूरा अधिकार



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मिल सकता नहीं। पुरानी फौज, पुलिस, नौकरशाही तो पूँजीवादी ढंग की ही होती है और वह कायम रहती ही है, चाहे मन्त्रिमण्डल भले ही बदल जाय। फलतः वह तो अपने मन का ही काम करती है और अगर नये मन्त्रिमण्डल ने कुछ गड़बड़ी की तो उसकी बातें न मानकर बगावत कर देती है। स्पेन में यही हुआ है। दूसरे देशों में यही होता है। यही कारण है कि इंगलैंड में दो-दो बार मजदूर मन्त्रिमण्डल बनने पर भी वह कुछ न कर सका। इसीलिए कम्युनिस्ट लोग मन्त्रिमण्डल बनाने की भारी भूल कर नहीं सकते। जब तक सर्वहारा क्रान्ति सफल न हो जाय। वे तो चाहते हैं कि उनके सिर्फ एक, दो, चार सदस्य ही पार्लिमेण्ट या असेम्बली में जायँ और अपना मन्तव्य वहाँ साफ-साफ सुना दें। वहाँ से उनकी बातें सारी दुनिया के कोने-कोने में आसानी से पहुँच सकती हैं, यही फायदा है। ऐसा फायदा दूसरा कौन पहुँचायेगा? जब अवसरवादी मजदूर दली नेता वहाँ अपनी सरकार कायम करने के बाद गड़बड़ करेंगे तो उसका भण्डाफोड़ भी कम्युनिस्ट सदस्य आसानी से बखूबी कर सकेंगे।

मगर इसी डर से तो मजदूर दलीय लोग इन्हें—दो-चार को भी—पार्लिमेण्ट में चुन-चुना के पहुँचने देना चाहते नहीं, यह बात कहने से मजदूरों की और अन्य पीड़ितों की आँखें ख़ामखाह खुलेंगी कि दाल में कुछ काला है तो जरूर। इसके अलावे कम्युनिस्ट लोग यह भी साफ-साफ कह देंगे कि हम तो कहीं न कहीं से अपने दो-एक आदमी पार्लिमेण्ट में भेज ही देंगे, यदि आप लोगों ने चाहा। मगर शेष जगहों से हम तो मजदूर दली लोगों का ही समर्थन करेंगे, चाहे वे हमारा हजार विरोध करें। क्योंकि आप लोग उन्हें चाहते तो हैं, उनपर विश्वास करते तो हैं। यद्यपि हम तो उन्हें खूब जानते हैं और इसीलिए उनपर विश्वास नहीं करते। तथापि आप लोगों की खातिर ही उनकी सहायता ठीक वैसे ही करते हैं जैसे फाँसी की रस्सी फाँसी पड़ने वाले की सहायता 'सपोर्ट' करती है। अँगरेजी में मदद या सहायता को 'सपोर्ट' कहते हैं, खास कर चुनाव में तो जरूर ही। फाँसी की रस्सी फाँसी पड़नेवाले को यों सपोर्ट करती है कि अगर वह टूट जाय तो आदमी मरे ही न। वह जब नहीं टूटती तभी वह मरता है। इस तरह आदमी के फाँसी पड़ने में ही रस्सी की मदद—सपोर्ट—है। हम ठीक उसी तरह इन मजदूर दलीयों को सपोर्ट करते हैं। क्योंकि इस प्रकार जब ये बहुमत में चुने जाकर पार्लिमेण्ट में पहुँचेंगे और अपना मन्त्रिमण्डल बनायेंगे तभी आप देखेंगे कि ये आपको कैसे धोखा देते हैं और अपने वादे पूरा नहीं करते। तभी आपकी आँखें खुलेंगी और आप इनका असली रूप पहचानेंगे। फिर तो इन्हें अपने दिल से उतार देंगे और ये इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से फाँसी चढ़ जायँगे, मर जायँगे। तब आपको विश्वास होगा कि हमारा ही कहना ठीक है, हमारा बताया रास्ता ही आपके लाभ का है। तभी आप लोग हमारा साथ देंगे।

लेनिन ने यह भी कहा है कि अगर मजदूर दल के साथ इस बारे में समझौता



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

न हो तो कोई बात ही नहीं है। तब तो हमें पार्लिमेण्ट में या बाहर अपने सिद्धान्तों के प्रचार और काम की पूरी आजादी होगी ही। तब हम अपने उम्मीदवार भी बहुत ही कम भेजेंगे और वह ऐसी जगहों से ही जहाँ हमारी जीत जरूर हो। मगर हम ऐसा खयाल जरूर रखेंगे कि जहाँ हमारे उम्मीदवार के चलते मजदूर दल का आदमी हार जाय और पूँजीवादी दल का—फिर चाहे वह उदार दल का हो या दकियानूस दल का—उम्मीदवार जीत जाय वहाँ अपना आदमी खड़ा किसी भी दशा में नहीं करें। यह भूल हम नहीं करेंगे कि हम भी हारें और मजदूर दल भी। क्योंकि तब तो मजदूर दल ही ख़ामखाह झूठा प्रचार करेंगे कि मालदारों से मिल के हमें इन लोगों ने हराया है और इसमें हमारे पक्ष की हानि है। क्योंकि लोग आसानी से मान जायँगे कि जब खुद जीत नहीं सकते थे तो आखिर खड़े क्यों हुए—खड़े क्यों किये गये? इसलिए हो न हो दाल में काला जरूर है ! चुनाव में तो ख़ामखाह ऐसे खयाल हो जाया करते हैं। इसीलिए हमें इस खतरे से बचना होगा।

मगर अगर कहीं मजदूर दल से समझौता हो जाय तो? उस दशा में भी हमें पार्लिमेण्ट में या बाहर भी अपनी आजादी पूर्ण रूप से कायम रखनी होगी। हम ऐसी शर्त पर कोई भी सुलह या समझौता कर नहीं सकते जिसमें हमारे मेम्बर को पार्लिमेण्ट में हमारे सिद्धान्त के अनुसार बोलने और काम करने की पूरी आजादी में जरा भी बाधा हो। उसी तरह बाहर भी हमें अपने प्रचार और काम की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी ताकि अपने सिद्धान्तों को लोगों को समझायें या उनकी सिद्धि के लिए सब तरह की लड़ाई लड़ें और काम करें, इन बातों में जरा भी बाधा होने पर हम समझौते को ताक पर रख देंगे, चाहे नतीजा कुछ भी क्यों न हो और चाहे हमारा एक भी आदमी पार्लिमेण्ट में न जाय। अपनी पूरी आजादी रख के ही हमें पार्लिमेण्ट में जाना है। नहीं तो हम खत्म ही हो जायँगे। इस जाल से हमें सजग रहना है। पार्लिमेण्ट में हर हालत में जाना जरूरी नहीं है।

अब तक इस बारे में हमने विस्तार से जो कुछ कहा है उस सम्बन्ध में लेनिन के कुछ वचन उद्धृत करना जरूरी है। बस, इतने से ही हमारा यह काम पूरा हो जायगा और हम आगे बढ़ेंगे। लेनिन कहता है—

इन उद्धरणों का अर्थ लिखना बेकार समझते हैं। इस बारे में जो बातें हमने बहुत ही सफाई और विस्तार के साथ कही हैं उनमें हरेक यहाँ कुछ संक्षिप्त रूप में कही गयी है। नयी बात कोई भी नहीं कही गयी है। अँगरेजी इतनी साफ है कि थोड़ी भी जानकारी होने पर समझ में आ सकती है। हाँ, मजदूर दल का नाम लेने के बजाय लेनिन ने उनके तत्काल के लीडर हेन्डरसन और स्नाउडन का ही नाम बार-बार लिया है। मगर उसका मतलब लेबर पार्टी या मजदूर दल से ही है। हाँ, जो लोग बलशाली और प्रभावशाली दकियानूसियों से कोई भी समझौता किसी भी दशा में करना क्रान्ति-विरोधी काम समझते हैं उन्हें इसी सिलसिले में लेनिन ने



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऐसा कस के तमाचा लगाया है कि वह जानने लायक ही है। वह कहता है कि समझौता तो इसीलिए करते हैं कि अपनी ताकत बढ़े और साँस लेने का मौका मिले, ताकि संगी-साथी बना लें। यदि अकड़कर जबर्दस्त शत्रु से ख़ामखाह लड़ेंगे तो चौपट ही हो जायँगे। फलतः ऐसे मौकों पर समझौता करके ही काम निकालना चाहिए। इस कथन की आगे भी उपयोगिता है। लेनिन कहता है–

"बिना किसी समझौते के या बगैर दायें-बायें घूमे सीधे अकड़कर चलना ठीक ऐसा ही है जैसा कि दस हजार सैनिकों का पचास हजार दुश्मन सिपाहियों से भिड़ जाना, जबकि बुद्धिमानी यह होगी कि रुक जायँ, थोड़ा चक्कर काट लें या शत्रु से सुलह भी कर लें। ताकि कुछ फुर्सत मिल जाय और इतने में एक लाख सैनिक भी आ जायँ, जो आनेवाले ही हैं; मगर जो फौरन ही लड़ने को हाजिर नहीं हैं। यह तो निरा दिमागी लड़कपन है। न कि एक क्रान्तिकारी वर्ग के द्वारा खूब सोच-विचार के चली गयी चाल।"

दो-एक बातें यहाँ कह देना जरूरी हैं। समझौते वाले इस वाक्य में तो नहीं, लेकिन इससे पूर्व जगह-जगह कम्युनिस्ट पार्टी और कोमिन्टर्न या थर्ड इण्टरनेशनल का जिक्र बार-बार आया है। लेनिन और स्तालिन के वाक्यों में यह बात आती रही है। आगे भी आ सकती है। इससे कोई यह समझने की भूल न कर बैठे कि यहाँ जो कुछ लिखा जा रहा है वह या यह लम्बी-चौड़ी कोशिश केवल कम्युनिस्ट पार्टी के ही लिए है। इसी तरह समाजवाद या साम्यवाद के लिखने से सोशलिस्ट पार्टी या कम्युनिस्ट पार्टी और उनके मन्तव्यों से हमारा मतलब नहीं है। हमें तो असल में पता भी नहीं कि इन या दूसरी पार्टियों के क्या-क्या मन्तव्य हैं। बहुत यत्न के बाद भी हम उनकी कुछ ही बातें जान सके हैं, जान सकते हैं। कोई भी जब तक उन पार्टियों के भीतर न जाय उनकी सारी बातें कैसे जान सकता है? हमें इसकी जरूरत है भी नहीं। हमें तो सिर्फ किसान सभा, मजदूर सभा आदि वर्ग-संस्थाओं और उनके आन्दोलनों को ही मद्देनजर रख के बातें लिखना और सोचना है। हम तो उन्हीं के लिए रास्ता साफ करना चाहते हैं। खासकर हमें यह फिक्र है कि हमारी किसान सभा के नेता और कार्यकर्त्ता राजनीति में गलत रास्ता न पकड़ लें। उन्हीं का ठीक पथप्रदर्शन हमारा लक्ष्य है। उस दृष्टि से मार्क्स और एंगेल्स के सिद्धान्तों पर हमने विचार किया है। क्योंकि उन सिद्धान्तों पर हमें विश्वास है। उनको व्यावहारिक रूप देने में लेनिन का ही बड़ा जबर्दस्त हाथ पहले पहल हुआ और स्तालिन ने उसमें ही अमली सहायता की। यही कारण है कि लेनिन के ज्यादा उद्धरण हमने दिये हैं और कुछ स्तालिन के भी। लेनिन की तो अपनी पार्टी कम्युनिस्टों की ही थी। इसीलिए उसने उन्हीं को लक्ष्य करके बार-बार लिखा है। स्तालिन ने भी यही किया है। मगर यदि किसान सभा या मजदूर सभावाले ऐसा समझ लें कि ये बातें कम्युनिस्टों या सोशलिस्टों की ही हैं तो ठीक न होगा। ये तो मार्क्सवादी बातें हैं हमने यही समझ



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के लिखा है। उस विषय के ग्रन्थों का स्वतन्त्र मन्थन करने और जन-आन्दोलन के अनुभवों के आधार पर हम निरपेक्ष रूप से जिस नतीजे पर पहुँचे हैं उसे ही यहाँ लिखा है। कौन-सी पार्टी इन बातों से सहमत है, कौन नहीं, और जो सहमत है वह भी कहाँ तक, इसकी परवाह हमें न थी और न है।

लेनिन ने पार्लिमेण्ट के चुनाव को लेकर जो बातें लिखी हैं उनके बारे में भी हमें अपनी ही दृष्टि से सोचना है। उसने जो कुछ लिखा है वह बातें तो मार्के की हैं और उनका उपयोग सदा हो सकता है। उनका प्रयोग करने में स्थान-स्थान की परिस्थिति के अनुसार, सम्भव है, थोड़ा-बहुत फर्क पड़े। यह ठीक ही है। सर्वत्र सर्वदा परिस्थिति एक ही होती नहीं। इसीलिए हर देश में वहाँ के लोगों को वहीं की परिस्थिति देख के काम करना चाहिए। लेनिन ने खुद भी कहा है कि मार्क्स के सिद्धान्तों के प्रयोग में सर्वत्र समानता नहीं हो सकती है। उसने तो यह भी कहा है कि प्रयोग के समय बहुत-सी बातों को बढ़ाना और घटाना होगा। यह सही है कि मार्क्स की बुनियादी बातें बदल नहीं सकती हैं। मगर उनकी सिद्धि के लिए जो कुछ किया जाता है उसमें परिवर्तन होना जरूरी है। वह हर देश-काल में बाइबिल, कुरान या वेद की मन्त्र की तरह ज्यों का त्यों व्यवहार में लाया जा सकता है नहीं। वह 'हमारा कार्यक्रम' में लिखता है—

"हम तो यह बात कभी नहीं मानते कि मार्क्स के मन्तव्य पूर्ण हैं और उनमें रद्दोबदल या कमी-बेशी की जा सकती नहीं। विपरीत इसके हमारा यकीन है कि इस सिद्धान्त ने उस सिद्धान्त की केवल नींव डाल दी है और सोशलिस्टों का काम है कि उसी नींव पर चारों ओर महल खड़ा करें यदि वे इस जीवन में पीछे पड़ना नहीं चाहते। हम विश्वास करते हैं कि खासतौर से रूसी सोशलिस्टों के लिए यह जरूरी है कि मार्क्स के सिद्धान्तों पर स्वतन्त्र रूप से अमल करें। क्योंकि इस सिद्धान्त में सर्वसाध्य रूप में कुछ मूलभूत बातें कही गयी हैं। उन्हें विस्तार रूप से अमल में लाने में फ्रांस की अपेक्षा इंगलैंड में, जर्मनी के मुकाबिले में फ्रांस में और रूस की अपेक्षा जर्मनी में कुछ दूसरी ही शक्ल देनी होगी।"

हाँ, हमारे यहाँ जो उस समय के इंगलैंड की अपेक्षा विशेषता है वह यही है कि कांग्रेस का सभी लोगों पर काफी प्रभाव होते हुए भी किसानों और मजदूरों वगैरह पर से वह धीरे-धीरे घट रहा है। विद्यार्थियों को तो कांग्रेस से बहुत कुछ निराशा हो रही है। दूसरे तबकों की भी बहुत कुछ यही बात है। दूसरी ओर किसानों, मजदूरों आदि की स्वतन्त्र सभाओं और उनके अलग आन्दोलनों का असर बढ़ रहा है। वह है भी काफी। हमारी बातें सुनने को लोग यहाँ तैयार न हों यह तो कहा जा ही नहीं सकता है। लोग तो इसके लिए खूब ही तैयार हैं, उत्सुक हैं।

एक बात और है। गत चुनाव में हमने कुछ भूलें की हैं जिनका मौका तब तक इंगलैंड के कम्युनिस्टों को नहीं हुआ था। एक तो हमने कांग्रेस की चुनाव घोषणा



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पर एक तरह से अपनी मुहर लगा दी, जब हमने कांग्रेसी उम्मीदवारों का प्रायः आँख मूँद के समर्थन किया। हमने लेनिन के आदेश के अनुसार सारी बातें जनता को समझायीं ही नहीं। पीछे चलकर लोग वादा खिलाफ़ी जरूर करेंगे यह बात हमने कहाँ कही? हम तो ऐसा काम उस समय आमतौर से कर रहे थे जिससे पता चलता था कि कांग्रेस की चुनाव घोषणा और वादों पर हमारा पूरा यकीन है। कम-से-कम किसानों ने तो यही समझा और इसका नतीजा हमें पीछे भुगतना भी पड़ा। खुद हमारे पास आ-आ के किसानों ने आँसू भरी आँखों से उलाहने दिये कि आप ही के कहने से हमने वोट दिया और आज कांग्रेसी मन्त्रियों के यहाँ हमारी सुनवायी नहीं है। चुने गये मेम्बर अब हमारी बातें भूल से गये हैं। यह तो ऐसी भूल थी कि वैसी शायद ही हो। इससे हमें कुछ धक्के लगे। हालाँकि किसान सभा ने अपना रास्ता साफ रखने की भरपूर कोशिश की।

दूसरी भूल हमने यह की कि अपने स्वतन्त्र उम्मीदवार हमने एक भी नहीं भेजे। कहीं-कहीं कम्युनिस्टों ने जरूर ऐसा किया। मगर जहाँ तक किसान सभा का ताल्लुक है कहीं भी ऐसा नहीं हुआ। हमारे जो भी आदमी गये कांग्रेस के ही नाम पर गये। हमने उनकी स्वतन्त्रता की शर्त भी कांग्रेस से नहीं करायी। नतीजा यह हुआ कि वे कांग्रेसी अनुशासन में बँधे होने के कारण अपने स्वतन्त्र विचार वहाँ अच्छी तरह रख न सके अगर कभी-कभी उनने ऐसा किया भी तो एक तो अनुशासन से डरते रहे। दूसरे पूरी सफाई के साथ उनने अपनी स्वतन्त्रता नहीं दिखलायी। बोलने में, राय देने में जितनी आजादी से उन्हें काम करना चाहता था वे उतनी आजादी से कर न सके। कांग्रेसी अनुशासन की बात जो थी। अगर कुछ किया भी तो अनुशासन की परवाह न करके ही और नेताओं को ललकार के ही। मगर इसमें काफी दिक्कतें और अड़चनें आयीं। यह तो एक अजीब बात थी हम अपने को यों बाँध दें !

इन दो बातों पर ध्यान रख के ही हमें आगे काम करना है। सबसे बड़ी बात यह है कि कांग्रेसी मन्त्रियों ने इतना गुड़ गोबर किया और किसानों तथा मजदूरों को इतना निराश किया कि कुछ कहिये मत वे ऐसा करेंगे ऐसी आशा तो पहले कभी थी नहीं। उनने यहाँ तक किया कि किसानों के वर्ग-शत्रु जमींदारों से बार-बार समझौते खुलेआम किये। पूँजीवादियों से भी कुछ ऐसा ही किया। बिहार के किसानों पर और किसान नेताओं एवं कार्यकर्त्ताओं पर आफत के जो पहाड़ टूटे उनका तो कहना ही बेकार है ! यहाँ आतंक राज्य कायम हो गया ! जेलों में हजारों की तादाद में हम सड़ाये गये। ऐसी तबाही का सामना हमें, किसानों को करना पड़ा कि कुछ पूछिये मत। डेढ़-डेढ़, दो-दो मास तक और इससे भी ज्यादा हम में कितने को—नेताओं तक को—अनशन करने पड़े सिर्फ इसीलिए कि मामूली जरायमपेशा की तरह हमें जेलों में न रखा जाय क्योंकि बकाश्त संघर्ष के लिए ही तो जेल गये थे—भेजे गये थे। मगर सुनने वाला कोई न था ! बम्बई, कानपुर आदि के मजदूरों तथा मजदूर



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नेताओं पर भी कुछ ऐसी ही गुजरी। फलतः कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल का इतिहास शोषितों और पीड़ितों की दृष्टि से बड़ा ही हृदय द्रावक और आँखें खोलने वाला है। उसने इनकी आँखें खोल दी हैं।

यद्यपि जमींदारों और मालदारों की ताकत किसी भी प्रकार बढ़ाना हमारा काम नहीं है, तो भी हमें यह भी गौर से देखना है कि कहीं कांग्रेसी के ही द्वारा उनकी ताकत न बढ़ जाय। क्योंकि तब तो और भी बुरा होगा—तब तो शोषित जनता अपने ही हाथों अपनी कब्र खोद लेगी। अतः सिर्फ इसी खतरे से बचने के लिए ही जो कुछ उचित समझा जायगा किया जायगा। अगर कांग्रेस के नेता इस बात की पक्की गारण्टी कर सकें जिसमें यह खतरा न हो, तो उनके साथ जहाँ तक हो सके सहयोग करने में कोई दिक्कत होई नहीं सकती। मगर वह गारण्टी केवल जबानी जमा-खर्च से या लिखने-पढ़ने से हो नहीं सकती। फैजपुर प्रोग्राम और चुनाव घोषणा से बढ़कर लिखी-पढ़ी की बात और क्या हो सकती है? मगर जब उस पर अमल न हुआ तो दूसरे पर कैसे होगा? ऐसी दशा में वह गारण्टी क्या होगी यह बताना आसान नहीं है। मगर यदि मुल्क को आगे बढ़ना है तो उसे ढूँढ़ना ही होगा।

हाँ, तो अब हमें संयुक्त मोर्चे की सम्भावना की दूसरी हालत पर विचार करना चाहिए जो आज चीन में पैदा हो गयी है और जिसकी ओर पहले ही इशारा किया जा चुका है। हम यह तो पहले ही कह चुके हैं कि वहाँ कम्युनिस्टों ने चियांग कैशेक के दाँत खट्टे कर दिये थे। जब ता. 16/1/34 को समुद्र के किनारे वाले क्यांग्सी प्रान्त से वे लोग उस लम्बे प्रस्थान के लिए रवाना हुए तो कुल नब्बे हजार सैनिक थे। खूबी तो यह कि स्त्री, बच्चे-बूढ़े, जवान सभी सैनिक ही थे। बीच-बीच में उनके और भी साथी इधर-से-उधर आ मिले। रास्ते में बहुतेरों को साथी बनाया भी। फिर भी अठारह सौ से लेकर पचास सौ ला (चीनी तीन ला का एक मील होता है) की विकट यात्रा पूरी करके उत्तर-पश्चिमी चीन के शेन्सी प्रान्त के उत्तरी भाग में पहुँच के 'पाव आन' में 20/10/35 को जब जमें तो कुल बीस हजार साथी शेष रह गये थे। बाकी लोग मर गये सो बात नहीं है। बहुतेरे मरे भी। लेकिन जगह-जगह साथियों को छोड़ते आने की जरूरत हुई। क्योंकि रास्ते में जिन प्रान्तों और स्थानों को उनने प्रभावित किया वहाँ अपने लोगों और सैनिकों को रखना जरूरी था। नहीं तो सब किया-कराया चौपट जो हो जाता। क्यांग्सी से सभी कीमती और जरूरी चीजें यहाँ तक कि प्रेस वगैरह भी माथे पर लाद कर ही वे लोग चलते रहे। उत्तर-पश्चिमी भाग में उनके साथी पहले से ही जमे थे और काम करते थे। इसीलिए वहीं जाना ठीक समझा गया वह सोवियट की सीमा से निकट और चियांग की पहुँच से दूर भी है। चियांग का वहाँ पहुँचना आसान भी न था।

वे लोग बीच-बीच में लड़ते भी रहे और इतने पर भी औसतन चौबीस मील प्रतिदिन चलते रहे। रास्ते में उन्हें अठारह पहाड़ टपने पड़े, जिनमें पाँच तो ऐसे हैं



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जिन पर बारहों मास बर्फ जमी हुई रहती है ! कुल बारह प्रान्तों में होकर चौबीस नदियाँ उन्हें पार करनी पड़ीं। बासठ शहरों पर उनने दखल जमाया, चियांग ने रास्ते में जानें कितनी ही जगह खुद अपनी फौजों से उनका रास्ता घेरा, खासकर भयंकर नदियों के पार करने के लिए जहाँ पुल थे और दूसरा रस्ता था ही नहीं। मगर उनका सभी जगह मुकाबिला करके वे सफल रहे। चियांग के साथी दस प्रान्तीय डाकू सरदारों की भी फौजों को उनने रास्ते में ही हराया। मार्ग में छः ऐसे-ऐसे आदिवासियों के बड़े-बड़े इलाकों से उन्हें गुजरना पड़ा जहाँ बहुत दिनों तक कोई भी चीनी फौज तक जा न सकी थी। कुछ तो ऐसे भयंकर आदिवासी हैं जो चीनी नाम से ही खार खाते और खून के प्यासे हो जाते हैं। मगर उनसे भी उनने दोस्ती कर ली। ऐसे रास्ते से भी मजबूरन चलना पड़ा जहाँ कीचड़ ही कीचड़ है और लोग धँस जाते हैं। ऐसी जगहें भी मिलीं जहाँ खाने-पीने को कुछ मिलता ही न था। फिर भी वाह रे हिम्मत! वाह रे मर्दानगी ! आखिर सभी सामान के साथ निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच के ही रहे उनके बड़े-से-बड़े नेता मावसेतुंग वगैरह भी पैदल ही चलते रहे और साथ ही पहुँचे भी। ऐसा ऐतिहासिक प्रस्थान शायद ही कोई कर पाये !

इससे इस बात का कुछ अन्दाज लगता है कि चियांग कैशेक को किन फौलादी लोगों से काम पड़ा था। इतना ही नहीं। जब ता. 12/12/36 को उत्तर पश्चिम के उसी शेन्सी प्रान्त के सियान्फू में सुबह 6 बजे के पहले ही चियांग को उन्हीं के आदमियों ने गिरफ्तार कर लिया और संयुक्त मोर्चे की बात शुरू की, तो उस समय चियांग की वहाँ भेजी हुई कई लाख फौजें जो सालों से पड़ी थीं, कम्युनिस्टों से मिल के चियांग से बागी हो चुकी थीं। उनके सेनापतियों की भी वही हालत थी। जिस चांग स्यूहलियांग को उनने अपना प्रतिनिधि सेनापति बनाकर भेजा था वह भी उधर ही जा मिला था। वह है मंचूरिया के चांगसोलिन का पुत्र। उसे मंचूरिया के चले जाने का दर्द बना है। इसीलिए जापान से लड़ने को बराबर तैयार था। उसने हर तरह से पता लगा लिया था कि कम्युनिस्ट ईमानदारी से जापान के विरुद्ध लड़ना चाहते हैं। चियांग की जिन फौजों को कम्युनिस्ट लोग लड़ाई में पकड़ते थे उन्हें आराम से रख के लड़ने की यही बात सिखाते और वापस भेजते थे। यह बात बरसों से चलती आयी। उनने 1935 के अगस्त में ही इस बात की घोषणा भी निकाली थी कि सब कुछ बन्द करके जापान के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने को हर तरह से तैयार हैं। काम भी वैसा ही करते थे। फलतः चीन की जनता, खासकर शहरों के लोग, जो चियांग के साथी थे, मानने लगे थे कि कम्युनिस्टों का कहना सही है और वे ईमानदारी से जापान के विरुद्ध मिल के लड़ना चाहते हैं। चियांग की जो फौजों के सिवाय नानकिंग की सरकार के बहुतेरे प्रमुख लोग और क्यूमिनटांग के चलते-पुर्जे लोग भी इस बात का विश्वास करने लगे थे। व्यापारियों का तो कुछ कहना ही नहीं।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऐसी दशा में चियांग के पाँव के तले की मिट्टी ही खिसक चुकी थी। उसे पकड़ने के दिन चियांग की बागी फौजों के सेनापतियों ने ही ऐसी गुप्त-मन्त्रणा की कि किसी को पता न चला जब तक कि वह पकड़ न लिया गया। उसके पकड़े जाने के पूर्व उसकी संरक्षक सेना, पुलिस अफसर वगैरह सभी एक ही साथ एकाएक पकड़ लिये गये थे ! जो पचास हवाई जहाज कम्युनिस्टों पर बम तथा जहरीली गैस बरसा के उन्हें अन्तिम बार खत्म करने के लिए वहाँ आ गये थे और जिनका काम चालू करने के लिए खुद चियांग आया था वह भी गिरफ्तार हो चुके थे। यह गजब की करामात कम्युनिस्टों ने की थी। हालाँकि वे खुद अलग थे मगर इससे उनकी शक्ति का दूसरा पता चलता है। चियांग ने और पचास हवाई जहाज मँगाने का प्रबन्ध किया था ! मगर सब बेकार !

इसी के साथ कम्युनिस्टों के नेता मावसेतुंग ने एडगर स्नो नामक 'रेड स्टार ओवर चायना' के अमेरिकन लेखक से साफ ही कहा था कि–

"यद्यपि कम्युनिस्ट पार्टी को कुछ ज्यादा पक्की आशा नहीं है कि नानकिंग सरकार को जापान से भिड़ने के लिए वह रूजू कर सकेगी। तथापि इसकी सम्भावना है। जब तक यह बात है तब तक हमारी पार्टी हर जरूरी बातों में सहयोग करने के लिए तैयार रहेगी। लेकिन अगर चियांग कैशेक को ख़ामखाह यही मंजूर होगा कि घरेलू युद्ध जारी ही रहे, तो हमारी लाल सेना उनसे मुकाबिला भी करेगी।"

इसी के साथ एक बात और थी। मावसेतुंग और उनकी पार्टी का पूरा असर किसानों पर था इसमें तो कोई शक नहीं और अगर कोई पार्लिमेण्टरी सरकार उस समय कायम होती तो उसमें उनका ही बहुमत होता। लेकिन उनके हजारों साथी, जवान विद्यार्थी वगैरह जो जेलों में सड़ रहे थे उन्हें संयुक्त मोर्चे के फलस्वरूप रिहाई मिल जाती तो फौज, किसान, मजदूर वगैरह में उनके सिद्धान्त के प्रचार की आसानी हो जाती। हुआ भी ऐसा ही। संयुक्त मोर्चे के फलस्वरूप लाखों लोगों की एक-एक मीटिंगें होने लगीं, ऐसा 'रेडस्टार ओवर चाइना' (चीन में लाल तारा) में लिखा गया है। सबसे बड़ी बात यह थी कि चीन के चालीस लाख में से तीन चौथाई मजदूरों पर जो उनका जरा भी असर न था वह हो पाता। यों तो शेन्सी में वे लोग इस तरह कैद थे कि एक भी जगह जा-आ सकते न थे। फिर मजदूरों से सम्बन्ध कैसे होता। मगर शंघाई वगैरह में तो खासतौर से वे कुछ नहीं कर सकते थे। एडगर स्नो अपनी उस किताब में इस बारे में यों लिखता है–

"चीन के करीब एक तिहाई मजदूर तो केवल शंघाई में संसार की आधे दर्जन बड़ी ताकतों के फौजी जहाजों की मातहती में रहते हैं। टीनसीन, सिंगताउ, शंघाई, हैंकाऊ, हांगकांग, काऊलून और साम्राज्यवादियों के असर वाले दूसरे शहरों में ही चीन के कुल मजदूरों के करीब तीन चौथाई रहते हैं। उन सबों का सबसे चोखा नमूना शंघाई है। वहीं पर ब्रिटिश, अमेरिकन, फ्रांसीसी, जापानी, इटालियन तथा चीनी



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सिपाहियों, जहाजी बेड़े के सैनिकों और पुलिसवालों को साफ देख सकते हैं कि संसार व्यापी साम्राज्यवाद की सारी ताकतें चीन की गुण्डाशाही और विदेशियों के चीनी दलालों से, जो इस देश के समाज में सबसे पतित हैं, एक साथ मिल के चीन के लाखों मजदूरों के माथे पर डण्डा चलाने में कैसे सहयोग कर रही हैं !

"मजदूरों को भाषण देने, सभा करने या अपना संगठन करने के सभी अधिकार तो छीने जाई चुके हैं। जब तक देशी और विदेशी पुलिस और फौजों का द्वैध शासन जारी हैं तब तक चीन के कारखानों के मजदूरों को राजनीतिक आन्दोलन के लिए तैयार करने का खयाल भी नहीं किया जा सकता ! यह तो इतिहास में एक ही बार सो भी कुछ ही दिनों के लिए सिर्फ 1927 में हो सका था, जबकि चियांग कैशेक ने उत्तर के डाकू सरदारों पर विजय प्राप्त करने के लिए इन मजदूरों से काम लिया था। मगर उस जीत के बाद ही फौरन उनका दमन खूँखारी से बुरी तरह किया गया कि वह ऐतिहासिक चीज हो ग़यी है। इस बात में विदेशी पूँजीपतियों की आर्थिक सहायता और विदेश सरकारों की मंजूरी थी। इसीलिए चीन के शहरों के मजदूरों को क्रान्ति के लिए उकसाने की सभी कोशिशें बेकार हैं।"

संयुक्त मोर्चे से मावसेतुंग को यही बहुत बड़ा लाभ होने को था। आखिर क्रान्ति का नेतृत्व किसान तो कर सकते नहीं और मजदूरों तक कम्युनिस्टों की पहुँच असम्भव थी। इसीलिए वे उसका रास्ता साफ करना चाहते थे। मावसेतुंग यह भी चाहते थे कि सन् 1924 के बाद 1927 के पहले जिन शर्त्तों पर क्यूमिनटांग के साथ संयुक्त मोर्चा था वह फिर भी माना जाय। वही शर्तें डॉ. सनयात सेन और एडोल्फ जाफे के बीच तय पायी थीं। जनतन्त्र तथा किसान क्रान्ति की सफलता के लिए वह जरूरी थीं, बुनियादी थीं और चीन उसी क्रान्ति के जमाने से गुजर रहा है भी। इसीलिए एडगर स्नो से—

"उनने कहा कि ऐसी सरकार स्थापित होने पर डॉ. सनयात सेन की आखिरी वसीयत और उनके जो तीन बुनियादी सिद्धान्त बड़ी-बड़ी क्रान्तियों के लिए जरूरी हैं वे—दोनों ही—फिर से अपनी जगह आ जायँगे और पूरे भी हो जायँगे। वे तीन सिद्धान्त ये हैं—(1) सोवियट रूस तथा चीन को अपने समान मानने वाले दूसरे देशों से दोस्ती, (2) चीनी कम्युनिस्ट पार्टी से मेल तथा, (3) चीनी मजदूर वर्ग के स्वार्थों की बुनियादी तौर पर रक्षा।

"उनने कहा कि यदि क्यूमिनटांग ऐसा करे तो हम लोग उसके साथ सहयोग करें और उसकी मदद करने को तैयार हैं और जैसा 1925-27 में था वैसा ही संयुक्त मोर्चा साम्राज्यवाद के विरुद्ध बनाने को मुस्तैद हैं। हमारा यकीन है कि हमारे राष्ट्र को बचाने का यही एक उपाय है।"

इस प्रकार वह चाहते थे कि चियांग कैशेक उसी जगह आ जाय जहाँ वह 1927 के शुरू में था ! इसमें उनकी जीत थी। जैसा कि लेनिन ने बार-बार कहा



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, वह अपनी बुनियादी बातों को छोड़ने को हर्गिज तैयार न थे। हाँ, ब्यौरे की सभी बातें बदलने में उन्हें उज्र न था। उनने कहा कि—

"कम्युनिस्ट लोग नामों में ऐसा परिवर्तन करने को तैयार होंगे जिसमें सहयोग में आसानी हो जाय। लेकिन लाल सेना की जो स्वतन्त्र हस्ती और उसका जो खास काम है उसमें बुनियादी तौर पर रद्दोबदल नहीं कर सकते। इस तरह अगर जरूरत हो तो लालसेना का नाम 'क्रान्तिकारी राष्ट्रीय सेना' रखा जा सकता है, 'सोवियट' नाम छोड़ दिया जा सकता है और जब तक जापान से लड़ने की तैयारी है तब तक के लिए किसान सम्बन्धी नीति में परिवर्तन हो सकता है।"

कम्युनिस्टों ने यह प्रस्ताव बाकायदा नानकिंग में भेजा था कि यदि राजनीतिक बन्दियों की रिहाई के साथ ही साथ पूर्वोक्त शर्तों को वह मान ले तो हम लोग सेना का नाम बदल के उसे 'फौजी मामला कमीशन' के मातहत कर देंगे जिसमें हमारे भी प्रतिनिधि होंगे। 'सोवियट' की जगह चीनी प्रजातन्त्र के खास 'इलाके की सरकार' नाम रख देंगे, लोकतन्त्र सरकार की स्थापना कर देंगे और जमींदारियों का छीनना रोक देंगे। मगर छीनी जमीनें वापस नहीं करेंगे और जहाँ वे किसानों को दे दी गयी हैं वहाँ उनसे फिर छीनी न जायँगी। हाँ, जो उन्हें दी नहीं गयी हैं वह ज्यों-की-त्यों रखी जायँगी। नवीन इलाकों में उनमें सोवियट प्रणाली का प्रचार बन्द कर दिया जब तक संयुक्त मोर्चा रहे तब तक के लिए ही। मगर भविष्य में हमेशा के लिए नहीं। नानकिंग ने जो शर्तें कबूल की थीं उनके फलस्वरूप कम्युनिस्टों की ला इस पर हम एडगर स्नो के ही शब्द लिख देना चाहते हैं। वह कहता है—

"खयाल कीजिये कि नानकिंग की शर्तें फिर कम्युनिस्टों के हाथ में ही उनका छोटा-सा राज्य छोड़ देती हैं, उनकी अपनी सेना, अपना संगठन और अपनी पार्टी ज्यों की त्यों रहने देती हैं और भविष्य के लिए उनका बड़ा-से-बड़ा प्रोग्राम कायम रखती हैं।"

कहा जाता है कि उनने तत्काल वर्ग-संघर्ष छोड़ दिया—अर्थात् उसे बढ़ाना बन्द करके जहाँ तक पहुँचा था वहीं रहने दिया। मगर जरा खयाल तो कीजिये कि भविष्य के लिए उनने तैयारी कितनी कर ली। जहाँ तक वर्ग-संघर्ष पहुँच चुका था उसे कायम रखना भी तो जरूरी था। मगर वे तो कैद थे और उसी समय (12-12-36) को सो हवाई जहाज, बम और जहरीली गैस लेके उन्हें खत्म करने की तैयारी चियांग पूरी कर चुका था। उन पर घेरा ऐसा डाल दिया था कि वे न तो कोई मशीन बाहर से ला सकते थे, न छापने का कागज, न पुस्तकें, न अखबार और न ऐसी ही और चीजें, जो आज के समाज को बढ़ाने के लिए निहायत जरूरी हैं। उनने इन सब बातों की आजादी पा ली और वर्ग-संघर्ष को जहाँ तक पहुँचाया था उसे कायम रखा। नहीं तो सब जाता रहता।

इतना ही नहीं। वे जानते थे कि बिना समस्त जनता को अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किये और लोगों को राजनीतिक ढंग से फौजी शिक्षा दिये जापान से पार पाना कठिन है। एक बार इसमें पड़ने पर तो चियांग को मजबूरन यही करना होगा। भाड़े की फौजों से काम चलने का नहीं। जब तक देश के लिए, उसकी आजादी के लिए फौजों में और सारे किसानों, मजदूरों में मर-मिटने की आन न हो, जापान को हराया नहीं जा सकता। फलतः मावसेतुंग के दल के लिए यह भारी-से-भारी वर्ग-संघर्ष था। सारे किसान-मजदूर आजादी की लड़ाई में सामूहिक रूप से सीधे खिंच आयें और सशस्त्र हो जायँ यह क्या क्रान्तिकारी वर्ग-संघर्ष से कम है? आखिर इन्हीं लोगों के बल पर ही तो भविष्य में पूँजीवादी क्रान्ति और सर्वहारा क्रान्ति करनी थी। किसान तो पहले से भी उनके साथ ही थे। बाकी भी होई जायँगे। मजदूर भी होंगे। बाकी जो कमी थी शस्त्रास्त्र की वह भी पूरी हो जायगी। फिर क्रान्ति के लिए और क्या चाहिए? इसलिए उनने बड़ी दूरंदेशी से काम लिया। यही बात एडगर स्नो पुस्तक के अन्त में यों लिखता है—

"उन (कम्युनिस्टों) ने पहले से ही समझ लिया था कि इस युद्ध में करोड़ों लोगों को हथियार देने, पूरी तरह सज्जित करने और लड़ने में शिक्षित बनाना जरूरी है जिसके दो फल होंगे। पहला यह कि बाहरी मांस की वृद्धि के रूप में स्थिति रखनेवाले साम्राज्यवाद को सर्जन की तरह काट दिया जाय। दूसरा यह कि चीन के भीतर धनी वर्ग के द्वारा जो बाकी लोग सताये जाते हैं यह एक कैंसर के फोड़े की तरह है। इसे भी चीर दिया जायगा, उनने सोच लिया कि इस प्रकार का युद्ध तभी चलाया जा सकता है जब सबसे ज्यादा जनता एतदर्थ तैयार की जाय और बहुत ऊँचे दर्जे की राजनीति की शिक्षा फौज को दी जाय—ऊँचे दर्जे की राजनीतिक सेना तैयार की जाय। और इस लड़ाई में विजय केवल अत्यन्त समुन्नत क्रान्तिकारी नेतृत्व में ही हो सकती है। इस युद्ध का श्रीगणेश पूँजीवादी कर सकते हैं। मगर यह पूर्ण की जा सकती है केवल क्रान्तिकारी मजदूरों और किसानों के ही जरिये। जहाँ एक बार लोगों को अत्यन्त विस्तृत रूप में शस्त्रास्त्र से सज्जित एवं संगठित किया गया कि कम्युनिस्ट लोग जापान को निश्चित रूप से हराने के लिए जो कुछ भी हो सकेगा करेंगे। जब तक पूँजीवादी जापान से लड़ेंगे कम्युनिस्ट उनका साथ ईमानदारी से देंगे। मगर जब भी पूँजीवादी आगा-पीछा करेंगे, हिम्मत हारेंगे और जापान के सामने झुकने का इरादा प्रकट करेंगे, तभी कम्युनिस्ट युद्ध का नेतृत्व खुद अपने हाथ में लेने को तैयार हो जायँगे। कम्युनिस्टों का खयाल है कि पहली बार युद्ध में भारी हानि होते ही पूँजीवादियों में ऐसी मनोवृत्ति आ सकती है।"

इस विश्लेषण से तो आईने की तरह साफ है कि चीन-जापान का वर्तमान युद्ध क्रान्तिकारी वर्ग-संघर्ष का एक दूसरा ही और विलक्षण रूप है ! ऐसा माना भी जाता है कि वर्ग-संघर्ष की प्रगति होते-होते ऐसी स्थिति में वह पहुँच जाता है कि साम्राज्यवाद विरोधी युद्ध ही वर्ग-संघर्ष बन जाता है। चीन की वही हालत है।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि वहाँ के साम्यवादियों ने वर्ग-संघर्ष त्याग दिया है, चाहे कुछ ही समय के लिए सही। उनने अपना सही मार्ग ठीक कर लिया है। उनकी दृष्टि साफ है। वे अपना लक्ष्य बड़ी सफाई के साथ देखते हैं। मावसेतुंग के शब्दों में—

"संसारव्यापी साम्यवाद के विजय का ही एक भाग होगी चीनी आजादी की लड़ाई की विजय। क्योंकि चीन में साम्राज्यवाद को हराने का अर्थ है उसके जबर्दस्त अड्डों में एक को मिटा देना। यदि चीन ने अपनी आजादी हासिल की, तो संसारव्यापी क्रान्ति बड़ी तेजी से आगे बढ़ेगी। लेकिन अगर हमारे देश को शत्रु ने अधीन कर रखा तो हमारा सब-कुछ खत्म ही समझिये। जिस देश की आजादी छिन गयी है उसके लिए क्रान्तिकारी काम फौरन साम्यवादी की स्थापना न होकर आजादी की लड़ाई ही है। जिस देश में साम्यवाद स्थापित करना है अगर वही हमसे छिन गया तो हम साम्यवाद की चर्चा भी नहीं कर सकते।"

यह भी याद रखना होगा कि चीन में संयुक्त मोर्चे की सम्भावना इस बात से भी बढ़ गयी थी कि जापानी साम्राज्यवाद ने आक्रमणात्मक उग्र रूप धारण कर लिया था। इससे नानकिंग सरकार के कुछ लोगों में भी उत्तेजना आ गयी थी। एडगर स्नो से मावसेतुंग ने संयुक्त मोर्चे का तात्कालिक कारण यही बताया भी था, जैसा कि "The immediate causes are the severe demands of Japan...These conditions have in turn produced a change in attitude among certain elements in Nanking." असल में आक्रमण से बचाव के लिए लड़ने में परस्पर विरोधी लोगों का मिल जाना आसान होता है। क्योंकि सबों को अपनी रक्षा की (defensive) चिन्ता सबसे बड़ी चीज उस समय रहती है जो दूसरे विरोधी विचारों को तत्काल दबा देती है। भारत में भी खिलाफत के खतरे और राउलट कानून तथा पंजाब के मार्शल ला के समय कुछ ऐसी ही परिस्थिति थी। फलतः क्रान्तिकारी लड़ाई के लिए पूँजीवादी भी शेष जनता के साथ मिल गये थे। मगर जब यह बात नहीं होती, जब साम्राज्यवाद आक्रमणात्मक उग्र रूप में न हो तब उस पर हमला करने में (offensive) के लिए परस्पर विरोधी लोगों और ताकतों का मिल जाना कठिन होता है और भारत में इस समय यही बात है। अतः हमें तब तक संयुक्त मोर्चे की प्रतीक्षा करनी होगी, यदि इसकी जरूरत बनी रही, जब तक यहाँ भी साम्राज्यवाद आक्रमणकारी नहीं बन जाता। साम्राज्यवादी युग में ऐसा होना असम्भव नहीं है। हमें भूलना नहीं चाहिए कि फ्रांस और स्पेन में भी जो संयुक्त मोर्चा बना था वह फैसिस्टों के आक्रमण के ही समय।

मगर इस पर और कुछ लिखने के पहले हमें उन लोगों की नादानी पर तरस आता है जो चीन के वर्तमान संयुक्त मोर्चे की भी निन्दा करते हैं। क्योंकि वह मानते हैं कि संयुक्त मोर्चा तो केवल श्रमिकों या शोषितों का ही परस्पर हो सकता है।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आश्चर्य तो यह है कि हमारे देश के ही कुछ क्रान्तिकारी कहे जानेवाले लोग एक ओर तो कांग्रेस को संयुक्त मोर्चा कह डालते हैं और दूसरी ओर विदेश के लोगों की वही बातें दुहराते हैं कि चीन में पूँजीवादियों से संयुक्त मोर्चा गलत चीज हुई। कम-से-कम विदेशियों के ऐसे नादानीवाले लेखों का प्रचार करते फिरते तो जरूर हैं। वे लेखक यहाँ तक कह डालते हैं कि क्रान्तिकारियों को पूँजीवादियों से कोई समझौता नहीं करना चाहिए। इसीलिए स्पेन और फ्रांस के संयुक्त मोर्चों की भी निन्दा वे करते हैं। मगर हम तो इस बारे में लेनिन की बात पहले ही कह चुके हैं। लेनिन का मन्तव्य है कि यदि क्रान्तिकारी लड़ाई का फल समझौता हो तो वह बुरा है, त्याज्य है। मगर अगर समझौते के फलस्वरूप क्रान्ति की लड़ाई को प्रगति मिलनेवाली हो तो वह ठीक है, ग्राह्य है। वह वामपक्षीय साम्यवाद में ही कहता है कि—

"अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादियों के खिलाफ जो लड़ाई लड़ी जाती है वह तो दो सरकारों के बीच की अत्यन्त खूनी लड़ाई से भी सौ गुनी कठिन, लम्बी और पेचीदा होती है। ऐसी लड़ाई को जारी रखना और उसी के साथ पहले से ही चालबाजी तथा दाँव-पेंच से इनकार कर देना, एक शत्रु के स्वार्थ को दूसरे के विरुद्ध खड़ा करने से फिर चाहे वह कुछ ही समय के लिए हो हट जाना और तत्काल समझौता और सुलह करने से, जो स्थायी न भी हो, मुँह मोड़ना—क्या ये बातें नादानी की पराकाष्ठा नहीं हैं? तब तो हम ऐसा भी कर सकते हैं कि अब तक न जाने-सुने और खतरनाक पहाड़ पर चढ़ने के समय भी चक्कर काटकर चढ़ने, कुछ पीछे लौट आने या एक बार पकड़े हुए रास्ते को छोड़ने से भी पहले से ही इनकार कर दें। हालाँकि ऐसा करने से ऐसे रास्ते का पता लगाया जा सकता हो जिसके द्वारा आसानी से ऊपर चढ़ सकते हों।"

"जहाँ श्रमिक लोग विजयी हुए हों वहाँ सुधार एक उचित चीज हो सकती है जिससे उस समय थोड़ी साँस लेने का मौका मिल जाता है, जबकि अत्यन्त परिश्रम करने पर भी क्रान्तिकारी शक्तियाँ इतनी मजबूत नहीं रहती हैं कि प्रगति की एक सीढ़ी से दूसरी ऊँची सीढ़ी पर जा सकें। पहली सीढ़ी की जीत से ही उन्हें फिर भी इतनी सुरक्षित शक्ति मिल गयी रहती है कि यदि कुछ पीछे भी हटना अनिवार्य हो जाय तो भी क्रान्तिकारी ताकतें नैतिक एवं भौतिक दोनों ही प्रकार से अपनी जगह पर कायम रह सकती हैं।"

लेनिन ने जो परिस्थिति यहाँ बतायी है ठीक वही चीन में साम्यवादियों की हो रही थी जब प्रायः एक साल की बातचीत और कोशिश के बाद 1937 के अन्त में चियांग के साथ उनका संयुक्त मोर्चा बना। अतः उनने ठीक ही किया और आज तक की परिस्थिति ने सिद्ध कर दिया है कि वे अपनी जगह पर डटे हैं और डिगनेवाले नहीं हैं। और अगर आगे चलकर शायद चियांग कैशेक ने गड़बड़ भी की, जिसकी अभी तो आशा है नहीं, तो भी साम्यवादी लोग जापान को पछाड़े बिना रहेंगे नहीं।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अब आइये जरा भारत के बारे में इसी स्थिति की सम्भावना का विचार करें। हम तो कही चुके हैं कि जब तक साम्राज्यवाद आक्रमणकारी हो के उग्ररूप धारण नहीं करता तब तक संयुक्त मोर्चा कठिन और प्रायः असम्भव है। मगर यहाँ तो यह बात तत्काल है नहीं। वर्तमान संग्राम का भी कुछ ऐसा हाल है कि उसमें जो भी जन-धन यहाँ से जायगा उसे आमतौर से लोग आक्रमण नहीं मानेंगे। युद्ध का कुछ रूप ही ऐसा हो गया है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद अनुकूल परिस्थिति में सौभाग्य से पड़ गया है। युद्ध के शुरू में यह बात नहीं थी। तब तो सब कुछ हो सकता था मगर यहाँ के पूँजीवादी नेतृत्व को आशा थी कि बिना जनता की सामूहिक लड़ाई के ही साम्राज्यवाद से सौदा पट जायगा। सामूहिक लड़ाई में उस नेतृत्व को खतरा तो दीखता ही है। इसीलिए उसने दूसरा ही रुख लिया, जिसमें पीछे बहुत कुछ निराशा होने पर भी नेतृत्व को आज लड़ने की हिम्मत नहीं। उसे आशा तो अभी हई। रहेगी भी।

हाँ, ऐसा हो सकता है कि यूरोपीय युद्ध में जीतने के बाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपनी अपार क्षति की पूर्ति और भयंकर धन-संहार तथा तबाही को मिटाने के लिए भारत पर कस के पंजा जमाये। क्योंकि साम्राज्य के शेष देश तो स्वतन्त्र हो चुके हैं। उनसे उसे आशा है नहीं। परास्त जर्मनी से भी क्या मिलेगा? गत बार का कटु अनुभव भी तो ताजा ही है। इसलिए अगत्या भारत पर ही कस के सवारी हो सकती है। लक्षण भी कुछ ऐसे ही हैं। प्रभु लोग लगाम जरा भी ढीली करने को रवादार नहीं दीखते। उनने राष्ट्रीय नेतृत्व के दिवालियेपन और दब्बूपन को भी खूब ही देख लिया है। इसीलिए उन्हें हिम्मत हुई है और आगे भी हो सकती है। उस दशा में इस देश को नीबू की तरह कस के चूसना वे जरूर चाहेंगे। उनकी तब तो ताकत भी अपार होगी। वे तो यह समझते रहेंगे कि अब तो सदा के लिए वे अजेय हैं। यही तो अन्तिम भिड़न्त थी। रूस से भी उनकी मैत्री अब जरूर हो जायगी। दोनों को गर्ज है भी। हमारे प्रभुओं ने हर तरह से रूस का लोहा माना है और आगे मानेंगे। इसलिए यूरोप-एशिया महाद्वीप में उसे ही मित्र बनायेंगे, हाँ, यदि युद्ध के बाद भारी क्रान्तिकारी संसार का भी उथल-पुथल जिसकी पूर्ण सम्भावना है, न हो सकी तभी यह बात होगी।

तब शायद यहाँ के पूँजीवादी नेतृत्व को होश आये और अधीर हो के एक बार साम्राज्यवाद से लड़ना चाहे। उस लड़ाई में जनता ही तो लड़नेवाली होगी। इसीलिए जनता की ताकतों का प्रतिनिधित्व करनेवाली किसान सभा, मजदूर सभा आदि से वह नेतृत्व संयुक्त मोर्चा चाह सकता है। क्योंकि बिना समस्त देश की जनता के, चीन की ही तरह लड़े, विजय हो सकती नहीं। फलतः आज वाली चीन की स्थिति उसके लिए आ सकती है। मगर हमारे लिए? हम तो चीनी साम्यवादियों की तरह शक्तिशाली हैं नहीं। हममें हजारों दल हैं। हमारी उतनी पहुँच किसान-मजदूरों तक



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कहाँ है? हमने पूँजीवादी नेतृत्व के दाँत कब कहाँ खट्टे किये हैं? हमारी गर्ज उसे कहाँ है? आगे भी क्यों होगी? हाँ, इस बीच यदि हमने आपस में संयुक्त मोर्चा कर लिया और किसान-मजदूरों पर काफी धाक जमा ली तो बात दूसरी है।

इधर तो यह कमी है। उधर उस नेतृत्व को मालूम है कि आजादी की भावना और जागृति जनता के सबसे निचले तह में जा घुसी है और घुस रही है। 1857 वाला विद्रोह तो वैसा ही था जैसा कि रूस के फौजी अफसरों का 1825 वाला। 1857 में केवल ज्यादातर राजे-महाराजे और लुटे-लुटाये व्यापारी लोग ही विद्रोही थे। उनने धर्म वगैरह के नाम पर ही जहाँ-तहाँ पीड़ित किसानों को उभाड़ा था। अतः वह गर्मी सिर्फ ऊपर रही। मगर भारत में निचले वर्ग के किसान और मजदूर तथा ऊपर के इन सामन्तों के बीच में जो मध्यम वर्ग है जिसे पूँजीवादी कहते, वह कुछ खास ढंग से जगा और थोड़ा गर्माया जबकि 1885 में कांग्रेस बनी। इस तरह आग कुछ और भीतर घुसी। फिर 1905 में कुछ और भी भीतर पहुँची जब पूँजीवादियों के नीचे (निम्न-मध्य श्रेणी) वाले पढ़े-लिखे बाबुओं में उत्तेजना आयी और देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल गयी। यह थी रूस की 1905 वाली स्थिति से कुछ मिलती-जुलती। उसके बाद 1919 से लेकर 1922 तक का समय बताता है कि निम्न-मध्यम श्रेणी के निचले भाग में और निचली श्रेणी के ऊपरी भाग में काफी हलचल मची जिससे वे सभी जग गये। निचली श्रेणी के निचले भाग वाले भी बहुत कुछ सुगबुगाये। वह था रूस के 1917 की फरवरी क्रान्ति से बहुत कुछ मिलता-जुलता युग। मगर वैसा पूरा न होने के कारण सफलता नहीं मिल सकी। बेशक 1930 और 1932 का समय ऐसा था जिसमें सबसे नीचे के लोग काफी जगे और 1919 से लेकर 1932 तक का नतीजा यही हुआ कि देश का नेतृत्व मध्यमश्रेणी के हाथ में रहने के कारण जनतन्त्र क्रान्ति तो सफल हो न सकी, किसान क्रान्ति का रूप उसे मिलना तो रही दूर की बात। फिर भी पूँजीवादियों को 1937 में मिनिस्ट्री मिल गयी। उनके लिए यही चीज पूँजीवादी क्रान्ति के स्थान पर हो गयी। उनने इसी से सन्तोष कर लिया। इसी से गाँधीजी ने उस समय कहा था कि या तो खूनी क्रान्ति या अभूतपूर्व हड़ताल (Mass strike) इन दो में एक ही अब सम्भव है। मगर मैं दोनों में एक के लिए भी तैयार नहीं हूँ। इसीलिए मन्त्रि पद स्वीकार करने की राय दी है ! अहिंसा का पुजारी लाठी, गोली, चलवाने और फाँसी लटकवाने वाले पदों की स्वीकृति की राय दे इसका, दूसरा अर्थ है ही नहीं। इसीलिए मन्त्री लोगों के व्यवहारों से ऐसा पता चलता था—मुझे तो कुछ लोगों से खुद बातें करके और उनके कामों से भी ऐसा जान पड़ा—कि उन्हें अब लड़ना नहीं है। उनका स्वराज्य हो गया है और अगर कोई कमी है तो इसे धीरे-धीरे वैधानिक ढंग से ही पूरा कर लेंगे ! उनकी पूँजीवादी क्रान्ति हो गयी। ऐसा ही वे मानते मालूम पड़े।

मगर इधर पीड़ित जनता में तो आग फैलती जा रही है। धीरे-धीरे वह संगठित



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होती जा रही है। असली क्रान्ति की भूखी जनता अब तैयार हो रही है। वह तो अपनी किसान क्रान्ति और सर्वहारा क्रान्ति चाहती है। दूसरी बात सम्भव भी नहीं है। यही होगी। ज्यों ही कोई सामूहिक मुठभेड़ होगी, खासकर यूरोपीय समर के बाद उसका एक ही नतीजा होगा किसान क्रान्ति के रूप में। यही कारण है कि पूँजीवादी कांग्रेसी नेतृत्व संयुक्त मोर्चे से भयभीत है। आगे भी उसे यही डर है। एक बार सबसे नीचे का स्तर करवटें बदलेगा और सारा महल भूमिसात् हो जायगा—रुद्र का प्रलयान्तकारी ताण्डव नृत्य हो जायगा। उन्हें यही खतरा है।

फलतः गाँधीजी का नेतृत्व रहते न तो संयुक्त मोर्चा होगा और न जन-संग्राम। वे मरने के समय जीवन भर की कमाई—अहिंसा—कदापि न खोयेंगे। वे तो स्वराज्य चाहते भी नहीं, अहिंसा चाहते हैं। उनका मुख्य ध्येय अहिंसा है। फिर वे इस झमेले में भला कैसे पड़ेंगे? जो उनसे ऐसी आशा करते हैं, या तो उनने उन्हें पहचाना नहीं, या वे भूलते हैं। उधर पूँजीवादी भी गाँधीजी का नेतृत्व खोना इसलिए नहीं चाहते कि उसमें धर्म और महात्मापन लगा है और आम जनता—खासकर भारत की—उसके करते आसानी से मूँड़ी जा सकती है, धोखे में रखी जा सकती है। अहिंसा भी इस बात में भारी मददगार है, खासकर हिन्दू जनता को गुमराह करने के लिए। इसीलिए काइयाँ पूँजीवादी अहिंसा की रट लगाते हैं। हालाँकि उनकी सारी कमाई निर्दोषों के खून से ही सनी है। मगर साम्राज्यवाद का उग्र रूप होते ही, हो सकता है, पूँजीवादी मजबूरन गाँधीजी को छोड़ दें। वे तो 1940 में पूना में एक बार उन्हें छोड़ चुके ही थे। मगर सौदा ही न पट सका तो क्या करें?

गाँधीजी की अहिंसा और उनका धर्म हमें सिर्फ इसीलिए खतरनाक है कि वह राजनीति में टाँग अड़ाता है। मार्क्सवाद के अनुसार अराजकता और आतंकवाद कभी भी इष्ट नहीं है। यह तो मध्यमवर्गीयों की नट-लीला और उनके करिश्मे हैं, जिनसे जनता का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट होता है और जनता उनको मसीहा एवं त्यागी मान बैठती है। बस, उनका काम बन जाता है। मगर बड़ी भारी हानि तो इससे यह होती है कि आजादी के असली साधन जनान्दोलन (Mass work) से लोग विमुख हो के गलत रास्ते पर चले जाते हैं—पथभ्रष्ट हो जाते हैं। इसीलिए लेनिन ने सदा आतंकवाद और अराजकता का विरोध किया है। वह विदेशवाले पत्रों में लिखता है—

"हम सन्धि-काल के लिए क्रान्तिकारी ताकत चाहते हैं, सरकार चाहते हैं। इसी बात में हमारा अराजकतावादियों से भेद है। क्रान्तिकारी मार्क्सवादियों और अराजकतावादियों में केवल यही अन्तर नहीं है कि मार्क्सवादी जहाँ विस्तृत, केन्द्रीभूत साम्यवादी उत्पादन के पक्षपाती हैं, तहाँ अराजकतावादी बिखरे हुए छोटे-छोटे उत्पादन चाहते हैं। यह तो हुई। मगर सरकार और शासन यन्त्र के बारे में भी हमारा उनके साथ यह मतभेद है कि हम समाजवाद के लिए क्रान्तिकारी सरकारी ढाँचे का क्रान्तिकारी



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रयोग करना चाहते हैं। मगर वे इसके विरोधी हैं।''

इसलिए आतंकवाद का सवाल हमारे साथ है नहीं। मगर गाँधीजी की अहिंसा तो ऐसी है कि हमारा हाथ-पाँव ही बँध जाता है। उनके मत से तो कांग्रेसियों को आत्मरक्षार्थ भी हिंसा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। हालाँकि—यह कानूनी हक आज भी हमें प्राप्त है। इसी तरह उनकी अहिंसा पूँजीवाद और जमींदारी का पोषक है। वे तो लगानबन्दी में भी हिंसा देखते हैं और शान्तिपूर्ण पिकेटिंग में भी। ज्यादा बातें तो मार्क्सवाद के अनुसार हिंसा के बारे में पहले ही कही जा चुकी हैं। इसीलिए हम गाँधीजी की अहिंसा से बहुत घबराते हैं।

इसी प्रकार उनके धर्म से भी हमें घबराहट होती है। क्योंकि वह उसे राजनीति में घुसेड़ के राजनीति को पहेली और जादू-मन्तर की चीज बना देते हैं। जहाँ राजनीति में धर्म घुसेड़ा कि सारे तूफान खड़े हुए। फिर तो पण्डितों और मौलवियों की आ बनी, चाहे गाँधीजी उन्हें लाखन चाहें। क्योंकि धर्म तो उनकी ही चीज ठहरी न। लोग तो यही जानते हैं। यदि धर्म निरी व्यक्तिगत चीज हो और कोई आदमी उसे अपने और अपने भगवान् या खुदा के बीच की चीज या सम्बन्ध जोड़नेवाला पदार्थ माने और राजनीति में उसे लाने की जरा भी कोशिश न करे तो हमें उससे कोई लड़ाई नहीं। राजनीति में उसे न ला के भी उसे सामूहिक रूप देना यदि वह चाहेगा तो भी झमेला खड़ा होगा ही। इसलिए यदि वह मानता है तो उसे बिलकुल ही व्यक्तिगत अपनी चीज माने, जैसे अपने पैसे-रुपये को मानता है ! हरेक का व्यक्तिगत धन तो दूसरे का नहीं होता और ज्यादातर लोग ऐसा धन रखते हैं। धर्म भी ऐसा ही हो जाय तो झंझट ही खड़ा न हो। इसीलिए 1907 में लेनिन ने धर्म के बारे में जो वक्तव्य तैयार किया था उसमें वह लिखता है कि—

''यदि कोई पादरी राजनीतिक काम में हमारा साथ देना चाहता है, समझ-बूझ कर पार्टी का काम करता है और पार्टी के कार्यक्रम के विरुद्ध कुछ नहीं करता, तो वह हमारी पार्टी का मेम्बर हो सकता है। क्योंकि हमारे प्रोग्राम, उद्देश्य तथा भावों और उस पादरी के धार्मिक विश्वासों में जो विरोध है वह ऐसी दशा में केवल उस पादरी के ही सोचने की बात है। (और अगर उसे विरोध नहीं मालूम होता तो) किसी राजनीतिक संस्था का यह काम नहीं कि वह यह देखे कि उसके हरेक सदस्यों के विचारों और पार्टी के प्रोग्राम में कोई विरोध तो नहीं है।'' ''धर्म तो व्यक्तिगत चीज है।''

इसीलिए धर्म के बारे में हम यही मानते हैं कि वर्ग-संघर्ष में वह 'दाल-भात का मूसरचन्द' मत बने। वैसी दशा में हम उसे छेड़ना उचित नहीं समझते और एंगेल्स के इस सम्बन्ध के विचारों का जो निष्कर्ष जौन स्ट्रेची ने अपनी पुस्तक (The Theory and Practice of Socialism) में लिखा है हम उससे सोलह आना सहमत हैं। वह लिखता है कि ''एंगेल्स का विश्वास था कि जब तक वर्ग विहीन समाज कायम करके



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समाज को शान्त और सुरक्षित नहीं बना दिया जाता तब तक धार्मिक विश्वास को हटाना असम्भव है और वैसा समाज हो जाने पर उस विश्वास के मिटाने की कोशिश बेकार और हानिकर है।''

एक बात और कहनी है। कांग्रेसी नेता डरते हैं कि हम कांग्रेस विरोधी कोई वैसी ही संस्था कायम करना चाहते हैं, जिसमें मध्यम श्रेणी का नेतृत्व हो। मगर यह डर निराधार है। एक ऐसी संस्था के होते हुए तो हमें उसके साथ इस कदर तूफान मचाने पड़ते हैं। यदि ऐसी ही कोई और हुई तब तो खुदा ही खैर करे। और उससे हमारा लाभ ही क्या होगा? इससे नहीं तो उसी से हमें तो लड़ना ही पड़ेगा। क्योंकि यह तो कांग्रेस का दोष नहीं है, किन्तु उसके मध्यमवर्गीय नेतृत्व का ही कि हमें उससे लड़ना पड़ता है। ऐसी हालत में ऐसा नेतृत्व जहाँ होगा हमें वहीं लड़ना पड़ेगा। और अगर वह हमारी ही बनायी संस्था हुई तब तो और भी बुरा होगा। अतः हम ऐसी भारी भूल कभी नहीं कर सकते कि वर्ग संस्थाओं के सिवाय कोई दूसरी ऐसी संस्था बनायें जिसका नेतृत्व मध्यम-श्रेणी के ही हाथों में हो या जो कांग्रेस जैसी ही हो। अतः इस बात में वे निश्चिन्त रहें। यदि दूसरे भी ऐसी संस्था बनायें तो हम उसका विरोध भी करेंगे।

बस, हमें जो कुछ कहना था कह दिया। अब हम कह नहीं सकते कि आया भविष्य में कोई संयुक्त मोर्चा कांग्रेसी नेताओं के साथ हो सकेगा या नहीं। क्योंकि सभी पक्षों को हमने साफ-साफ कह दिया है—सभी अनुकूल और प्रतिकूल बातें बता दी हैं। भविष्य के बारे में कुछ भी निश्चित रूप से क़हना खतरे से खाली नहीं है, खासकर राजनीति में तो कोई बात आखिरी मानी नहीं जाती—Nothing is final in politics. मगर हमारे विवेचन से बात इतनी साफ हो जाती है कि हमें कोई चिन्ता नहीं रह जाती है। हमारा रास्ता इतना साफ हो गया है कि हम बेखटके आगे बढ़ते ही जायँगे। हमें आश्चर्य जरा भी नहीं होगा। अगर बिना किसी की सहायता के—किसी के संयुक्त मोर्चा के—ही हमने किसान क्रान्ति और समाजवादी क्रान्तियों में—दोनों में ही—केवल शोषितों और पीड़ितों के ही बल पर, उनकी सुसंगठित ताकत से ही सफलता पा ली। बल्कि हमें इसके लिए तैयार रहना चाहिए। तभी शायद संयुक्त मोर्चे की बात भी हो। हाँ, उसका दरवाजा बन्द तो हर्गिज नहीं होना चाहिए। हमें ऐसा काम हर्गिज नहीं करना होगा जिससे संयुक्त मोर्चे का—क्रान्तिकारी संयुक्त मोर्चे का—दरवाजा बन्द हो जाय। जब चीन के वर्तमान संयुक्त मोर्चे के ऐन पहले तक चीनी साम्यवादियों के महान् नेता मावसेतुंग तक यह बात विश्वास के साथ कहने को तैयार न थे कि यह होगा तो हम कैसे कह सकते हैं? उनके सामने तो उसकी जो सम्भावना थी जो सामान उसके लिए उस समय मौजूद थे, हमारे सामने तो ये भी नहीं हैं। हमें तो भविष्य के बारे में सभी बातों का अन्दाजा लगाना है—संयुक्त मोर्चे के सभी सामानों का और मोर्चे का भी। यही तो हमारी बड़ी भारी दिक्कत



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। कांग्रेसी नेतृत्व की दिक्कतें हम बता ही चुके हैं।

इधर वर्तमान यूरोपीय युद्ध के फलस्वरूप ऐसे विश्वव्यापी परिवर्तनों की हमें पूरी आशा है। जिनके चलते सारी दुनिया ही बात की बात में पलट जा सकती है। एक मार्क्सवादी के नाते हम तो यही समझते हैं, हमें यही समझने का—हक है कि कोई बड़ा भारी भूकम्प—सामाजिक उथल-पुथल—आने ही को है जिसमें पुरानी सभी चीजें मिट के नया समाज, नयी दुनिया, नया स्वर्ग, वर्ग-विहीन मानव समाज जरूर बनेगा। इसका श्रीगणेश—भूकम्प और बिभ्राट की सूचना—हो चुकी है। वह किस रूप में आखिर में आयेगा यह अभी से कैसे कहा जाय? मगर उसके आगमन के समय सब कुछ हो सकता है—संयुक्त मोर्चा भी अपने आप बन सकता है, या दूसरा ही और नया रास्ता ही निकल सकता है। असल में श्रेणीविहीन उस समाज के बनानेवाले महा भूकम्प की अगवानी जिस प्रकार ठीक-ठीक·हो सके वही चीज होगी। फिर चाहे वह संयुक्त मोर्चा हो या उसके बिना ही शोषित एवं पीड़ित जनता स्वयं अपना काम बना ले। हमें हर बात के लिए तैयार रहना चाहिए। ताकि ऐन मौके पर कहीं पीछे न पड़ जायँ। इससे ज्यादा इस समय कहा नहीं जा सकता कहना ठीक नहीं।

●●●

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

**राघव शरण शर्मा**

जन्म 1942–सोनडीहा–गया। पेशे से खोजी, घुमक्कड़, बहुप्रतिष्ठित इंजीनियर हैं। इन्हें बिहार के दहकते खेत–खलिहानों के किसान संघर्षों में [illegible] शिरकत के दरम्यान समाज की पाठशाला [illegible] और विश्लेषणात्मक अध्ययन की [illegible] गंडक योजना के पायलट प्रोजेक्ट [illegible] प्रशस्ति प्रदान किया गया। इन्होंने, [illegible] का विकास, भारत–चीन [illegible] के पार, भारत की जल [illegible] और समाधान, कादम्बरी नाट्य [illegible] आनन्द और चारू की वसीयत, ब्रह्मर्षि वंश अनुशीलन, अयोध्याकांड का शास्त्रीय अनुशीलन इत्यादि पुस्तकों की रचना की है साप्ताहिक हिन्दुस्तान, सामयिक वार्ता, जनमत जैसी पत्रिकाओं में लिखते रहे हैं। कई स्मारिकाओं का सम्पादन किया है। सम्प्रति वाराणसी मे स्वामी सहजानन्द अध्ययन एवं शोध संस्थान के अध्यक्ष हैं और रईन खेत (रणक्षेत्र) पत्रिका का सम्पादन कर रहे हैं। किसान साहित्य और किसान हलचल से गहरा लगाव है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.